समकालीन हिन्दी उपन्यास

डॉ० डॉली लाल

साहित्यवाणी
२८-पुराना अल्लापुर इलाहाबाद-२११००६

प्रकाशक □ साहित्यवाणी
१८, पुराना अल्लापुर,
इलाहाबाद—२११००६

प्रथम संस्करण □ १९८९ ई०

मुद्रण □ ५०० प्रतियाँ

मूल्य □ साठ रुपया मात्र

मुद्रक □ स्टैण्डर्ड प्रेस
२, बाई का बाग,
इलाहाबाद—२११००३

वक्तव्य

समाज और साहित्य का सम्बन्ध विवाद का प्रश्न नहीं है। समाज से साहित्य हमेशा से प्रभावित होता रहा है। साहित्य, समाज के बदलते हुए स्वरूप का परिचय देता है। साहित्य की उपन्यास विधा में जीवन की पूर्ण अभिव्यक्ति होती है। जीवन के विभिन्न पहलुओं के चित्र उपन्यास में प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

आज समाज के मूल्य-प्रतिमानों में पर्याप्त अंतर आता जा रहा है। इसे उपन्यासों के माध्यम से समझा जा सकता है। स्वतंत्रता के पश्चात जिस युग का सूत्रपात होता है, उसमें जीवन-मूल्यों को स्थैर्य देने वाले तत्वों में द्वितीय महायुद्धोत्तर प्रभाव, स्वाधीनता, राष्ट्रीयता, विज्ञान, नवीनीकरण की चेतना, राजनीतिक चेतना, सांस्कृतिक गतिरोध, नैतिकता के नये संदर्भ, युवा मानव का स्वप्न भङ्ग प्रमुख हैं।

समकालीन हिन्दी उपन्यास, उपन्यास की परम्परागत धारा को नवीन प्रवाह देते हैं। समकालीन जीवन के सामाजिक मूल्यों में, वैचारिक जगत में, दृष्टिकोण में, प्रतिमानों में स्पष्ट रूप से नवीनता झलकती है।

उपन्यास में समग्र मानव जीवन की, परिस्थितियों और उसके सोच की अभिव्यक्ति होती है। इस पुस्तक में उपन्यासों की वस्तु और शिल्प का अध्ययन करने की बजाय मानव जीवन की बदलती धारणाओं, जीवन के बदलते हुए मूल्यों का स्वतंत्र रूप से अध्ययन किया गया है। उपन्यास विश्वसाहित्य की अत्यंत महत्वपूर्ण विधा है। इस समय सारे विश्वसाहित्य में जितने महत्वपूर्ण उपन्यास लिखे जा रहे हैं, वैसे पहले शायद कभी नहीं लिखे गये। हिन्दी में भी यही स्थिति है। हिन्दी उपन्यासों का समकालीन दौर जितना समृद्ध है, जितना सार्थक है और जितना मूल्यवान है, वह हमारे लिए विशेष संतोष का विषय है। मैंने इस ग्रंथ में सन् १९६० से लेकर सन् १९७२ की अवधि में लिखे गये उपन्यासों को ही अपने दृष्टि पथ में रखा है। यह अवधि हमारे समकालीन जीवन की बड़ी महत्वपूर्ण अवधि रही है। इस दौर में हमारे राष्ट्रीय और सामाजिक जीवन में अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं जिनका औपन्यासिक चित्रण हमारे समकालीन उपन्यासकारों ने बड़ी रुचि और बड़ी गम्भीरता से किया है। मुझे विश्वास है कि समकालीन भारतीय जीवन के दौर को समझने में मेरी यह पुस्तक सहायक होगी।

दमोह
१-१-१९८९

—डॉली लाल

क्रम

विवेचित–उपन्यास

अज्ञेय	अपने-अपने अजनबी
मोहन राकेश	न आने वाला कल
मोहन राकेश	अंधेरे बन्द कमरे
नरेश मेहता	यह पथ बंधु था
निर्मल वर्मा	वे दिन
शरद देवड़ा	टूटती इकाइयां
राजकमल	शहर था, शहर नहीं था
रमेश बक्षी	बैसाखियों वाली इमारत
महेन्द्र भल्ला	एक पति के नोट्स
उषा प्रियंवदा	रुकोगी नहीं राधिका
श्रीकान्त वर्मा	दूसरी बार
गिरिधर गोपाल	कन्दील और कुहासे
प्रमोद सिन्हा	उसका शहर
गोविन्द मिश्र	यह अपना चेहरा
गिरिराज किशोर	यात्राएं
ममता कालिया	बेघर
मणि मधुकर	सफेद मेमने
मन्नू भण्डारी	आपका बंटी
बदीउज्जमा	एक चूहे की मौत
कृष्णा सोबती	सूरजमुखी अंधेरे में

अध्याय एक

प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी समाज और उसकी औपन्यासिक अभिव्यक्ति

प्रेमचन्द हिन्दी उपन्यास धारा के कीर्तिमान स्तम्भ हैं। वे हिन्दी उपन्यास के विकास के विभिन्न काल-विभाजन के आधार हैं। वैसे उपन्यास का प्रारंभिक युग १८७७ से १९१८ तक माना जाता है। इसके बाद प्रेमचन्द का आविर्भाव होता है। १९१८ से १९३६ तक का काल आधुनिक हिन्दी कविता में स्वर्णकाल ' रूप में जाना जाता है। इस छायावादी काल में प्रसाद, पंत, निराला और महादेवी जैसी प्रतिमाएँ थीं, वैसे ही कथा साहित्य के क्षेत्र में प्रेमचन्द थे। हिन्दी उपन्यास साहित्य का आधुनिक दौर 'गोदान' से माना जाता है।

प्रेमचन्द ने कथा-साहित्य को कल्पना, रोमांस, रोमाञ्च, जादुगरी और एक स्वर्गीय आकाश से यथार्थ की धरती पर लोगों के सुख-दुख से, उनकी समस्याओं से और उनके आशावान भविष्य से जोड़ा था। यथार्थ की जिस मनोभूमि पर उनका कथासाहित्य प्रतिष्ठित है वह उनकी प्रगतिशीलता का परिचायक है। उनके पात्र हमारे आस-पास के जीवन के चरित्र हैं। उनके पात्रों की समस्यायें हमारी समस्याएं हैं। उनके पात्रों का दुख-सुख हमारा है। उनके पात्र एक गहरी आत्मीयता से हमसे जुड़े हुए रहते हैं। कदाचित् प्रेमचन्द के बाद, आज तक हिन्दी में कोई ऐसा उपन्यासकार नहीं हुआ, जो इतनी समग्रता के साथ आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक परिवेश में हमें जोड़े रखे।

प्रेमचन्द ने एक गहरे युगबोध के साथ समग्र भारतीयता का परिचय दिया। उन्होंने स्वतंत्रता-संग्राम में अपनी लेखकीय भूमिका अदा की। उनके उपन्यास का क्रमशः विकास उनकी बदलती विचारधारा को भी प्रदर्शित करती है। १९३६ तक आते-आते उन्होंने शोषण के विरुद्ध हथियार उठाने (मंगल सूत्र) में की बात कही थी। यह वह समय था, जब भारत में स्वतंत्रता संग्राम तेजी पर था। गांधी जी के नेतृत्व में राष्ट्रीय आन्दोलन पूर्ण रूप से भारतीय जनता का आन्दोलन बन गया था। १९२१ में असहयोग आंदोलन के बाद, चौरा-चौरी हत्याकाण्ड के बाद गांधी जी का आंदोलन स्थगित हो गया था। १९३० में पुनः गांधी जी के नेतृत्व में सविनय अवज्ञा आंदोलन प्रारम्भ हुआ और इस बार 'पूर्ण स्वराज्य' स्वतंत्रता का ध्येय स्वीकृत किया गया। धीरे-धीरे अंग्रेजों ने इस पूर्ण स्वराज्य के ध्येय को समाप्त करने की दमनपूर्ण नीति अपनाई। १९३६ के बाद भारतीय जनता अपनी सारी समस्याओं को झेलते हुए स्वतंत्रता के लिए प्रयत्नशील हुई।

स्वतंत्रता आन्दोलन के दरमियान भारत पश्चिमी सभ्यता से परिचित हुआ। भारतीय रूढ़ियों के बीच एक तीव्र आक्रोश पैदा हुआ और समाज को रूढ़िगत शोषण के विरुद्ध एक जिहाद छेड़ दी गई। प्रेमचन्द ने समाज की रूढ़ियों और समाज व्यवस्था की परम्परागत इमारत को अपने आदर्शवाद के खूंटों से झेलने का प्रयास किया हालांकि आदर्शवाद कोई बुरी चीज नहीं है क्योंकि बिना आदर्श के मनुष्य, मानवता को दरकिनार कर सकता है। इसलिए प्रेमचन्द यथार्थ के साथ आदर्श को प्रमुखता देते हैं।

वर्ण-व्यवस्था और जाति—प्रेमचन्द के बाद भारतीय समाज एक संक्रमण की स्थिति में अपने को पाता है। वर्ण व्यवस्था एवं संयुक्त परिवार भारतीय समाज की नींव हैं। परन्तु दूसरी ओर अंग्रेजी पूंजीवाद के प्रभाव के कारण नवीन सामाजिक वर्ग भी इतने शक्तिशाली हो गए कि वे ही आर्थिक एवं सामाजिक जीवन को निर्धारित करने लगे। नवीन आर्थिक पेशों तथा वर्गों के आधार पर नई संस्थाओं में व्यक्ति संगठित होने लगा। ये वर्ग न केवल सामाजिक बल्कि राजनैतिक व आर्थिक दृष्टिकोणों को भी प्रभावित करते हैं। वर्ण व्यवस्था एवं संयुक्त परिवार व्यवस्था धीरे-धीरे टूटने लगी। इस दिशा में दयानंद सरस्वती, महात्मा गांधी आदि ने पर्याप्त प्रयास किए। सुधारवादी समाज सुधारकों ने वर्ण-व्यवस्था तोड़ने की असमर्थता में एक मध्यम मार्ग की खोज की। उनका विचार था कि उपजातियों को मिटाकर बड़ी जातियों में विभाजित किया जाय और बाद में बड़ी जातियों एवं वर्ण व्यवस्था को समाप्त किया जा सकता है। डा० राधा कमल मुकर्जी का मत है कि "नवीन प्रतिनिधिक शासन प्रणाली तथा पेशेवर संगठन और ट्रेड यूनियन जैसी नई औद्योगिक संस्थाओं में भी जातिगत भावना चुनाव प्रचार का कार्य करती है।"[1] जातिगत भावनाओं के आधार

पर संगठनों का निर्माण इस तथ्य की पुष्टि करता है कि जातिगत भावनाओं का मिटना सहज नहीं। आज सर्वत्र जातिवाद का बोलबाला है। राजनीति और शासन तंत्र में भ्रष्टाचार की जड़ें बहुत गहरी हैं।

संयुक्त परिवार—हिन्दू समाज में संयुक्त परिवार जैसी कौटुम्बिक संस्था है। मुसलमानों में संयुक्त परिवार होने का कारण बहुविवाह है। भारत की अर्थ-व्यवस्था कृषिप्रधान होने के कारण और अधिक संख्यावाला परिवार खेती पर आश्रित होने के कारण श्रमविभाजन का आर्थिक लाभ उठा सकता था। प्रत्येक व्यक्ति श्रमकर्त्ता एवं सभी सदस्यों की औसत आय समान हुआ करती थी। अतएव मनमुटाव का प्रश्न ही नहीं उठता था। औद्योगिक अर्थ व्यवस्था के कारण व्यक्ति को गांव, घर छोड़कर दूर-दूर जाना पड़ा तथा जातिगत पेशे के स्थान पर एक ही परिवार के दूसरे धंधे को अपनाने लगे। व्यक्तिवादी प्रवृत्ति बढ़ी और मध्यवर्गीय परिवार आणविक परिवार की ओर झुका। मध्यवर्गीय परिवार के सभी सदस्य एक व्यक्ति पर निर्भर होते हैं। अतः यह नितांत असंभव हो गया कि एक ही व्यक्ति संपूर्ण परिवार का बोझ उठा सके। मध्यवर्ग एक ओर जाति-व्यवस्था को संगठित करता रहा तो दूसरी ओर संयुक्त परिवार के विघटन का पूर्ण समर्थन करता रहा। संयुक्त परिवार में भी नारी-जीवन विभिन्न समस्याओं से घिरा हुआ था, फिर भी संयुक्त परिवार में साधनहीन नारी अपना जीवन-निर्वाह कर लेती थी। किन्तु, संयुक्त परिवार टूटने के बाद उसे अपना जीवन-निर्वाह के लिए आर्थिक संघर्ष करना पड़ा। फलतः नारी के लिए शिक्षा आवश्यक हो गई। विधवा विवाह को प्रश्रय मिलने लगा। संयुक्त परिवार परम्परा तथा रूढ़ियों को महत्व देता था। उसके टूटने पर उदारवादी तथा नवीन विचारों को अपनाने की भूमि तैयार हुई। डा० आर० पी० देसाई का निष्कर्ष है कि "हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि तीन पीढ़ियों वाला परिवार कुछ समय के लिए बुनियादी समूह में रहेगा।"[२] हमारा विचार है कि भारतीय परिवार संयुक्त परिवार के विघटन से पाश्चात्य आणविक परिवार नहीं बन सका। वह इन्हीं दोनों के बीच में कहीं है।

सामंत वर्ग—ब्रिटिश सरकार ने रियासतों को संरक्षण देकर अपनी राज-स्थापना की नींव और गहरी की। अंग्रेजों ने लगान वसूल करने एवं समर्थक दल बनाने के उद्देश्य से जमींदारों को जन्म दिया। विलासिता, सामंत वर्ग के सामाजिक जीवन की विशेषता रही है, और इस विलासिता के लिए जनता के धन का उपयोग सामंत वर्ग ने व्यक्तिगत आकांक्षा एवं भोगविलास के लिए किया। यही कारण है, कि ब्रिटिश भारत की जनता से अधिक दयनीय स्थिति रियासतों की थी। ब्रिटिश भारत की जनता का शोषण कुछ कम न था लेकिन सरकार ने उन्हें कुछ सुविधाएँ भी दी थीं। ए० आर० देसाई का मत है कि "जमींदार वर्ग अधिकतर प्रगतिशील सामाजिक सुधारों का विरोध करता था।"[३]

पूंजीपति वर्ग—यह वर्ग आधुनिक व्यवस्था की उपज है जिसका उदय प्रथम महायुद्ध के पश्चात हुआ तथा दूसरे महायुद्ध के बाद वह समाज का शक्तिशाली वर्ग बन गया। पूंजीपतियों ने भारत में वैज्ञानिक शिक्षा तथा वैज्ञानिक भौतिक साधनों का निर्माण भी किया। इस प्रकार भारत को आधुनिक से आधुनिकतम बनाने में उनका पूरा सहयोग रहा। पूंजीपति न केवल आर्थिक साधनों पर एकाधिकार प्राप्त करते हैं वरन् समाज पर भी नियंत्रण रखना चाहते हैं। युग का नेतृत्व अपने हाथ में केन्द्रित करने की कोशिश में उनका ध्येय समाज-कल्याण की अपेक्षा व्यक्तिपरक होता है।

मध्य वर्ग—उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में तथा बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में मध्यवर्ग युवा की शक्ति, प्रगति तथा आशाओं का प्रतीक था। उसकी स्थिति १९३० के बाद अति शोचनीय हो गई और वह अन्य वर्गों के समान अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए संगठित भी न हो सका क्योंकि उसमें एकरूपता नहीं थी। विभिन्न पेशों तथा नौकरियों के ग्रेड के अनुसार संगठन तथा संस्थाएं बनने लगीं जो संपूर्ण मध्यवर्ग के लिए नहीं वरन् अपने-अपने हकों के लिए लड़ती हैं। आधुनिक काल के प्रारम्भ से ही मध्य वर्ग एक क्रांतिकारी शक्ति रही है। राष्ट्रीयता का धर्म और सामाजिक सुधार उसका मंत्र रहा। हमेशा आर्थिक संगठनों से गुजरता हुआ अपने अस्तित्व और प्रतिष्ठा के लिए यह वर्ग जागरूक रहा और यही कारण है कि वह सामाजिक चेतना को, नये विचारों एवं मान्यताओं को स्थापित करता है। आर्थिक संकट से त्रस्त रहते हुए वह समाज में न तो पूंजीपति से संघर्ष कर सकता है और न निम्न वर्ग का साथ दे सकता है। उसकी आकांक्षाएं उच्च वर्ग के समान महत्वाकांक्षी हुआ करती हैं और अर्थ की कमी के कारण वह टूटता रहता है। स्वतन्त्रता संग्राम में मध्य वर्ग ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। प्रेमचन्द मध्य वर्ग से आये थे और उनकी समस्याओं से वे भलीभांति परिचित थे जो उनके उपन्यासों में अभिव्यक्त हुई हैं।

निम्न वर्ग—निम्न वर्ग भी ब्रिटिश सरकार की आर्थिक नीति एवं औद्योगिक आर्थिक व्यवस्था की उपज है। अंग्रेजी सत्ता के कारण पुराने औद्योगिक धन्धे नष्ट हो गये अतः कारीगरों को भूमि (खेती) पर निर्भर रहना पड़ा। इसके कारण खेती पर भार पड़ा। कर्ज के बोझ से भूमि जमींदारों तथा महाजनों के हाथ में जाने लगी। फलतः किसान खेतिहर श्रमिक तथा औद्योगिक श्रमिक बनने के लिए बाध्य हुए। शिक्षा के अभाव के कारण इस वर्ग में सामाजिक एवं राष्ट्रीय चेतना का अभाव रहा। गांधी जी ने राष्ट्रीय स्वतन्त्रता आन्दोलन को जन-जन तक पहुँचाया। सन् १९२०-२१ के बाद यह वर्ग न केवल राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेता रहा बल्कि अपने आर्थिक हितों की रक्षा के लिए भी संगठित होता रहा। अहिंसा के

कारण इस वर्ग में रूढ़ियाँ तथा अंधविश्वास बेहद फला-फूला, लेकिन महत्वपूर्ण बात यह है कि इस वर्ग में नारी-पुरुष सम्बन्ध अन्य वर्गों की अपेक्षा अधिक जनतंत्रीय आधार पर स्थित हैं। सामाजिक जीवन में दोनों को समान अधिकार प्राप्त है। इस वर्ग की दुरावस्था का मुख्य कारण अशिक्षा और निर्धन होना है। १८३६ के बाद प्राचीन सामाजिक संस्थाओं की उपयोगिता कम होती जा रही थी तथा समाज की आर्थिक वर्गीय संस्थाएं प्रबल हो रही थी। युग का चिंतन भी सामाजिक वर्गों को आधार बनाकर चल रहा था। सबसे महत्वपूर्ण तथ्य यह कि कोई भी समाज बिना संगठन के नहीं टिक सकता और संगठन के लिए सामूहिक भावना आवश्यक है।

हिन्दी समाज की औपन्यासिक अभिव्यक्ति

युगों से सामाजिक रूढ़ियों के कारण पीड़ित नारी तथा अछूत अनेक संघर्षों के बाद समानाधिकार प्राप्त कर चुके थे। यदि राष्ट्रीय रंगमंच पर हम श्रीमती सरोजनी नायडू, श्रीमती विजय लक्ष्मी पंडित, श्रीमती सेनदास गुप्त, आदि को नेतृत्व करते हुए देखते हैं तो उपन्यास साहित्य में 'कर्मभूमि'[४] की सुखदा तथा मुन्नी भी इससे पीछे नहीं है। यदि राष्ट्रीय रंगमंच पर हम डा० अंबेडकर और जगजीवनराम आदि अछूत जाति के नेताओं को अछूत जाति के उद्धारक के रूप में देखते हैं तो 'मनुष्यानंद'[५] जाति का भंगी बुधुआ भी सवर्ण हिन्दुओं, अंग्रेज सरकार तथा पुलिस से सुरक्षित म्युनिसपैलेटी को झुका देने की सामर्थ्य रखता है।

सारांश यह है कि सामाजिक दोषों के कारण जो शोषण युगों से चला आ रहा था वह धीरे-धीरे समाप्त हो रहा था। राजनीति के क्षेत्र में प्रत्येक व्यक्ति को मानवाधिकार सुलभ हो चुके थे। सामाजिक स्थिति के परिवर्तन के साथ उसकी समस्यायें भी बदली। धीरे-धीरे चिंतन का केन्द्र समुदाय नाम का व्यक्ति बन गया। व्यक्ति की समस्याओं पर उसका ध्यान केन्द्रित हो गया। समाज की ओर से विमुख और व्यक्ति की ओर उन्मुख होने का कारण यह था कि मध्यवर्गीय जीवन में गतिरोध की स्थिति आ गई थी और अकेला होने के कारण वह घुटन की मानसिक स्थिति में अनुभूतिहीन हो रहा था, लेकिन समाज में अपना अस्तित्व प्राप्त करने में असफल था। यही कारण था कि इस युग के सभी उपन्यासकार मध्य वर्ग के परिवृत से बाहर दृष्टि नहीं डालते।

भारतीय नारी : आत्मनिर्भरता का संदर्भ

प्रेमचन्द्र युग तक आते आते नारी पुरुष के समान उच्च शिक्षा प्राप्त कर चुकी थी। स्त्री-पुरुष समान धरातल पर उपस्थित हो गये थे। जैनेन्द्र कुमार ने अपने उपन्यास 'कल्याणी' में ऐसी ही एक नारी का चित्रण किया है जो इंग्लैण्ड जाकर डाक्टरी की शिक्षा प्राप्त कर चुकी थी और डाक्टरी की प्रेक्टिस करती थी। उसका पति शिक्षित न होने पर भी पत्नी के सामाजिक स्तर के कारण डा० असरानी

के नाम से जाना जाता था। वह चाहता था कि कल्याणी प्रेक्टिस करें व परिवार के लिए धन अर्जित करे। कल्याणी के आत्मनिर्भर होने से यह तो स्पष्ट ही है कि वह पुरुष की दासता से मुक्त है। उसे निर्णय यह लेना है कि वह गृहिणी बने या डाक्टर। डा० असरानी आधुनिक भारतीय संस्कृति के संक्रांतिकालीन मनः स्थिति की उपज हैं जो एक ओर पत्नी से डाक्टरी पेशा करने को कहता है तथा दूसरी ओर कठोर पातिव्रत्य धर्म के निर्वाह की आशा रखता है। पत्नी उसकी दृष्टि में उपभोग की वस्तु है। उसके परम्परागत भारतीय संस्कार स्वीकार नहीं करते कि नारी का स्वतन्त्र व्यक्तित्व है। कल्याणी के घर से गायब होने पर डा० असरानी का डा० भटनागर के घर की खानातलाशी लेना संक्रांतिकालीन मनः स्थिति के पुरुष वर्ग पर चोट की है जो आधुनिकता की लहरों में चेतन मन से कतिपय आधुनिक मान्यताओं को स्वीकार तो कर लेता है लेकिन उसके संस्कार आज भी बदले नहीं हैं। कल्याणी के सम्मुख प्रश्न है—"पातिव्रत्य या डाक्टरी। मैं सेवा में परायण हो जाऊं या डाक्टर की कमाई करके दूं। दोनों साथ होना कठिन है। पैर दो नावों पर रहेंगे तो हालत डगमग रहेगी। और जो मेरे ही चुनने की बात हो तो मैं कहूँगी डाक्टर नही बनना चाहती। पर अगर तुमको डाक्टरी की आमदनी भी चाहिये, उसके बिना अगर नहीं चलता हो, तो पातिव्रत की मांग उतनी कसी नही रखी जा सकेगी। थोड़ा उसे उदार करना होगा।[६] कल्याणी का यह द्वन्द्व भारतीय नारी का द्वन्द्व है।

आधुनिक नारी—प्रेमचन्द गोदान में मालती का चित्रण कर आधुनिक भारतीय नारी का संकेत दे चुके थे। वह डाक्टर प्रोफेसर मेहता से अटूट प्रेम करती है, लेकिन ऐसा लगता है कि पत्नी के रूप में पुरुष की दासता उसे स्वीकार नहीं है। मालती के बाद इस युग के उपन्यासों में अनेक आधुनिक नारियां आयीं। आधुनिक युग में शिक्षित भारतीय नारी वैवाहिक संस्था के प्रति विद्रोह के लिए तत्पर हुई है। आचार्य चतुरसेन शास्त्री के 'नीलमणि' उपन्यास की नीलू अभिजात्य पिता की शिक्षित पुत्री है जिसकी शादी बगैर उसकी सम्मति के सुयोग्य एवं विद्वान महेन्द्र से की जाती है। इससे उसके अहम् को चोट पहुँचती है, वह कई दिनों तक पति से मानसिक स्तर पर समझौता नहीं कर पाती। यहां पर मनमुटाव का कारण अनमेल विवाह नहीं है, वरन् नारी स्वातंत्र्य के प्रति बौद्धिक आग्रह होने के कारण विवाह के प्रति नारी का अहं जनित विद्रोह है। 'परदे की रानी' उपन्यास की निरंजना का स्पष्ट मत है कि स्त्री पुरुष की मूल प्रवृत्ति प्रेम की नही घृणा की है और यह घृणा अन्ततः हत्या की सीमा तक पहुँच सकती है। केवल अन्तर यह है कि कोई मनुष्य एक बार ही स्त्री की हत्या करता है और कोई तिल-तिल कर मारता है।[७] इसीलिए वह शादी को पुरुष की दासता समझती है। पुरुष के संबंध में उसका मत है कि "वे

नारी को केवल अपनी प्यास या आग बुझाने के साधन के अतिरिक्त और कुछ नहीं समझते।"[8] इलाचन्द्र जोशी मूलतः मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार हैं। अतः पात्रों के चारित्रिक विकास तथा कथानक के निर्माण में उन्होंने अनेक मनोवैज्ञानिक तथ्यों को प्रस्तुत किया है। यशपाल के 'दादा कामरेड' उपन्यास की नायिका शैलबाला का शादी के संबंध में विचार है, "जब स्त्री को एक आदमी से बंध जाना है और सामाजिक व्यवस्थाओं के अनुसार उसके अधीन रहना है और उस पर निर्भर करना है तो उस संबंध को चाहे जो नाम दिया जाय वह स्त्री की गुलामी ही है। अच्छा साथी एक व्यक्ति के कई हो सकते हैं? स्त्री के कई पति होना तुम्हें सहन हो सकता है?"[9] 'निमंत्रण' उपन्यास की नायिका मालती, 'दादा कामरेड' की शैलबाला का ही प्रतिरूप है। मालती पाश्चात्य संस्कृति की पुजारिन है।[10] वह विवाह का विरोध करते हुए कहती है "यह एक पत्नीव्रत और पतिव्रत धर्म भी एक प्रकार की कट्टरता ही है। इसमें जीवन ने अपने को रास्ते में लेकर एक जगह छोड़ दिया है। कल्पना और बुद्धि का स्वतंत्र चिंतन और पर्यटन इसने अवरुद्ध कर रखा है केवल अपनी ही संतान को मनुष्य ने त्याग, प्रेम व समर्पण की भूमि मान लिया है। मनुष्य के बीच भेदाभेद की वीभत्स क्षुद्रता इसी की देन है।[11] 'निर्वासित' उपन्यास की श्रीमती खन्ना चार पुत्रियों की माँ हैं और कोर्टशिप की वैवाहिक पद्धति पर विश्वास करती हैं। नीलिमा के सम्मुख दो पुरुष पात्र चुनाव के लिए हैं। महीप आदर्श प्रेम का प्रतीक है तथा ठाकुर लक्ष्मी नारायण भौतिक सुख के प्रेम का प्रतीक। उसके अभिजात्य वर्ग के संस्कार अंततः उसे ठाकुर से विवाह करने के लिए बाध्य करते हैं। रांगेयराघव के 'घरौंदे' उपन्यास का मुख्य विषय कालेज जीवन में उच्च वर्ग के छात्र-छात्रों की नैतिकता एवं आचार व्यवहार का पर्दाफाश करना है। लेखक कालेज के वातावरण का वास्तविक चित्र उपस्थित कर सका है जहाँ भारतीय समाज तथा संस्कृति से भिन्न विकृत पाश्चात्य संस्कृति का अनुसरण करके आधुनिक नारी का अस्तित्व निर्मित होता है। लवंग, लीला एवं रूपा ऐसी ही आधुनिक नारियाँ हैं जिन्होंने मुक्त एवं स्वच्छंद प्रेम को ही जीवन का चरम लक्ष्य मान लिया है। ये नारियाँ भारतीय संस्कारों, आदर्शों और मूल्यों का विरोध करती है। क्या अपने सारे संस्कारों, आदर्शों और मूल्यों से हटकर अपना पूर्ण पाश्चात्यकरण करना ही आधुनिकता है? शायद रांगेय राघव 'घरौंदे' में यही प्रश्न उठाते हैं। राघव ने आधुनिक नारी का सफल चित्र प्रस्तुत किया है। उनका उद्देश्य यशपाल, भगवती प्रसाद वाजपेयी, इलाचंद्र जोशी जैसे उपन्यासकारों से भिन्न है, क्योंकि राघव आधुनिक नारी के विकृत [illegible] दृष्टिकोण का समर्थन नहीं करते वरन् उन्होंने पाश्चात्यकरण, [illegible] हीनता का पर्दाफाश किया है।

'अंचल मेरा कोई'[१२] में कुन्ती तथा निशा तलाक समस्या पर विचार करती हैं। कुन्ती का मत है "बिलकुल मौलिक अत्याचारी पति को पत्नी सबेरे शाम गिन-गिन कर इतने जूते लगाये कि वह संबंध विच्छेद की लिखा पढ़ी करने का हा-हा खाता फिरे। कहाँ का प्रमाण और कहाँ का हाईकोर्ट।"[१३] 'संघर्ष' की नारी स्नेह-लता कालेज जीवन में स्वच्छंद प्रेम की समर्थक है। पति तथा प्रेमी उसके लिए भिन्न रूप एवं आदर्श हैं। शादी उसके लिए एकमात्र आर्थिक समझौता है। "पति तो पारि-वारिक जीवन के लिए आवश्यक है, प्रेम के लिए नहीं।"[१४] वह शादी करती है प्रौढ़, नीरस, निर्बल, सौंदर्यहीन मजिस्ट्रेट से इसलिए कि सुख-साधनों की कमी न रहे पर प्रेम करती है कालेज के सहपाठी शर्मा तथा पति के नवीन मित्र राजा साहब से। वह दोनों से अवैध यौन-संबंध रखती है। लेखक का कथन है कि स्नेहलता ऐसी अकेली नारी नहीं है, वरन् आज के कालेज और सहशिक्षा के वातावरण में ऐसी ही नारियों का निर्माण होता है।

स्वतंत्रता के बाद जिस मूल्यहीनता, आस्थाहीनता स्वार्थ, अहम् और व्यक्ति-वादी समाज का जन्म हुआ उसका चित्रण उपन्यासों में प्रतिफलित हुआ है। स्वतंत्रता के पूर्व नारी का व्यक्तित्व उभरने लगता है। स्वतंत्रता के बाद परम्परागत समाज-व्यवस्था के प्रति प्रत्यक्ष एवं परोक्ष दोनों रूपों में नारी विद्रोह को अभिव्यक्ति मिली है। नारी के प्रति परम्परागत रुढ़ मूल्यों का विवेचन किया गया है "जर जोरू जमीन जो की, नहीं और की।"[१५] समाज में पुरुष देवता है और स्त्री दासी।[१६] आदि कथनों में स्त्री के प्रति सामंती दृष्टिकोण की झलक मिलती है। स्त्री के विषय में वस्तुतः यह कथन सत्य है कि औरत की हालत सभी जगह एकसी है चाहे वह राजकुमारी हो या नौकरानी, वह हमेशा पुरुष के तेवर देखकर चलती है, उसकी इज्जत उसके चाहने न चाहने पर है, उसकी प्रतिष्ठा उसकी शरीर शुद्धता परम्परागत मान्यता पर है।[१७] नारी स्वतंत्रता के लिए पहली आवश्यकता है आर्थिक स्वतंत्रता की प्राप्ति। आर्थिक समानाधिकार मिलने पर ही आज की नारी सच्चे अर्थों में समाज का अंग बन सकेगी। 'मनुष्य के रूप' की सोमा, 'इन्सान' की कमला, 'शान्ता बीज' की ऊषा, 'बूंद और समुद्र' की वनकन्या, 'नदी का मोड़' की माला, 'भूले बिसरे चित्र' की विद्या, 'झूठासच' की तारा कमला, 'चौदह फेरे' की कल्याणी, 'ऋतु-चक्र' की प्रतिभा, चित्रा आदि सभी नारियाँ आर्थिक-स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए प्रयत्न-शील दिखाई देती हैं।

नारी के आक्रोश की अभिव्यक्ति धर्म, विवाह, परिवार आदि के परम्परागत मूल्यों के प्रति विद्रोह में हुई है। 'नदी के द्वीप' की रेखा समाज के अमानवीय नीति विधान के विरुद्ध मौन विद्रोह करती है। समाज की जर्जर और खोखली मान्यताओं के प्रति रेखा का प्रणय-व्यापार एक चुनौती बनकर प्रस्तुत हुआ है। पर इस विद्रोह

में परम्परागत मूल्य बाधक बनकर उपस्थित होते हैं। समाज से भयभीत होकर ही रेखा गर्भपात कराती है। 'मैला आंचल' की कमला विवाह के पूर्व ही मातृत्व का बोझ ग्रहण कर लेती है। 'सागर लहरें और मनुष्य' की रत्ना अपने जाति की परम्परागत मर्यादाओं का त्याग कर तीन-चार पुरुषों के सम्पर्क में आकर संबंधों की स्वच्छन्दता के मूल्य के प्रति आस्था व्यक्त करती है। 'ज्वाला मुखी' की विजया नारी को बंधन का नहीं मुक्ति का, कमजोरी का नहीं शक्ति का प्रतीक मानकर परम्परागत मूल्यों को चुनौती देती है। 'हाथी के दांत' की रत्ना अन्याय के विरुद्ध असीम शौर्य का परिचय देकर उत्सर्ग होती है। युवा मानस में कम्युनिस्ट विचार-धारा का प्रवेश हो चुका था और यही क्रांतिकारी विचारों का बीज है इससे नारी वर्ग भी अछूता नहीं रहा। 'इंसान' की कमला, 'सुखदा' की सुखदा 'बूंद और समुद्र' की वनकन्या, 'भूदानी सोनिया' की शीला तथा सोनिया जैसी नारियाँ कम्युनिस्ट विचारों को व्यावहारिक रूप देने में सक्रिय हैं।

मध्यवर्गीय परिवार और अभिजात्य वर्ग की नारियों का चित्रण करने वाले उपन्यासकारों में भगवती प्रसाद वाजपेयी, उग्र, जैनेन्द्र कुमार, अज्ञेय, भगवतीचरण वर्मा और यशपाल प्रमुख हैं। भगवतीप्रसाद वाजपेयी का 'पिपासा' उपन्यास जैनेन्द्र कुमार के 'सुनीता' से मिलता-जुलता है। कामकुंठित शकुन्तला को सुनीता की ही भांति आत्मविश्वास नहीं है इसलिए वह पति को किसी भी समय नहीं छोड़ना चाहती। उग्र का नारी दृष्टिकोण उनके प्रगतिवादी विचार के कारण हमें उचित नहीं लगता क्योंकि नारी की जो सबसे बड़ी विशेषता है उसे वे उसकी सबसे बड़ी कमजोरी मानते हैं। उग्र जी की नारी शक्तिहीन है। उग्र जी का कहना है *'कुल मिलाकर मुझे मालूम पड़ा कि उत्तमतम नारी के लिए मानव समाज में व्यभिचारी पुरुष की अंक शायिनी बनने के सिवाय गति नहीं'*। जैनेन्द्र कुमार का नारी संबंधी दृष्टिकोण मनोविज्ञान, नैतिक विद्रोह तथा सूक्ष्म चरित्र-चित्रण एवं कलात्मक सौष्ठव के आवरण में अभिव्यक्त हुआ है। 'परख' में बालविधवा कट्टो को वैधव्य प्रतिमा में बांध देता है जिसे वह आध्यात्म विवाह की संज्ञा देता है। 'त्यागपत्र' में मृणाल पति द्वारा ठुकराये जाने पर न समाज से विद्रोह करके न्याय मांग सकती है और न ही स्वतंत्र होकर पैरों पर खड़ी हो सकती है। इलाचन्द्र जोशी के उपन्यासों में मूलतः दो प्रकार के नारी चरित्र आते हैं, एक में कुछ ऐसे नारी चरित्र आते हैं जो पुरुष के अहम् अत्याचार और शोषण की वेदी पर समर्पित हो जाती है और दूसरे वे नारी पात्र हैं जो अत्याचार व शोषण का विरोध करते हैं। 'जिप्सी' उपन्यास में नारी प्रगतिशील दिखाई देती है। इलाचन्द्रजोशी के नारी पात्र प्रेमचंद की नारी भावना का विकास करते हैं। 'शेखर एक जीवनी' में शशि लेखक के नारी संबंधी दृष्टिकोण की प्रतिमूर्ति है। अज्ञेय का नारी दृष्टिकोण जैनेन्द्र की नारी भावना

का विकास है। भगवतीचरण वर्मा के नारी पात्र पति परायण हैं, यशपाल आधुनिक भारतीय नारी की बेड़ियों को तोड़कर उसके उज्ज्वल भविष्य की कामना करते हैं।

संयुक्त परिवार—'परिवार' नामक उपन्यास में संयुक्त परिवार के टूटते हुए मूल्यों का यथार्थ विश्लेषण मिलता है। व्यक्तिगत स्वार्थ भावना की क्षति भी संयुक्त परिवार में सदा बाधक रही है इसलिए हर परिवार के पेट से एक नया सम्मिलित परिवार निकलता गया। हर नया परिवार पुराने परिवार के बूढ़े ढांचे पर मुस्कुराकर बोला 'खत्म करो अपने दकियानूसी तौर-तरीकों को, हमें आगे बढ़ने दो और खामख्वाह के लिए हमारी उन्नति के मार्ग में काहिलों की भीड़ जमा करने की कोशिश न करो हमें नयी इमारत बनानी है इस पुरानी बिना हवादार इमारत में अपने को बंद करके नहीं रख सकते। 'हाथी के दांत' के पं० रामबिहारी चतुर्वेदी का संयुक्त परिवार विघटन के कगार पर खड़ा है। उनके तीनों लड़कों में कोई तालमेल नहीं। संयुक्त परिवार की एक नवीन स्थिति का परिचय हमें 'बूंद और समुद्र' में मिलता है। 'परती परिकथा' में सुखमोचन के आदर्श संयुक्त परिवार का ढांचा प्रस्तुत हुआ है जिसमें किसी भी प्रकार की कोई कुंठा, अशांति या वैमनस्य नहीं है। इस प्रकार का संयुक्त परिवार एक अपवाद ही है। 'नदी का मोड़' उपन्यास में पारिवारिक विघटन का चित्र उपस्थित हुआ है। "गांव में कहुवे की रुची पुरुषों का परिवार था, किन्तु उस परिवार के सभी सदस्य पृथक्-पृथक् थे। वे सभी अलग-अलग रास्तों पर बढ़े जा रहे थे।"[१८] 'भूले बिसरे चित्र' में संयुक्त परिवार की टूटती परम्परा का चित्र है। मुंशी शिवलाल का चिंतन इस दृष्टिकोण को प्रस्तुत करता है। "अधिकार व शक्ति अपना स्थान बदल रहे थे एक जगह से हटकर दूसरी जगह जा रहे थे। परिवार की परम्परा टूट रही थी।"[१९] 'सारा आकाश' का धीरज अकेला ८-१० व्यक्तियों के संयुक्त परिवार को चला रहा है। उसका स्वयं का व्यक्तित्व इस दुस्साहस में टूट चुका है। वह कहता है "हमारी जिंदगी तो सिर्फ इसी काम के लिए बनी है कि बैल की तरह कमाएं और इस गड्ढे में डालते रहें।"[२०]

काम कुंठा—इस युग के उपन्यासकार काम कुंठित नायकों व नायिकाओं के चरित्र-चित्रण में ही व्यस्त दिखाई देते हैं। उनके कथानक में काम कुंठित पात्रों की दमित वासनाओं, यौन विकृतियों तथा वैयक्तिक अनुभूतियों का चित्रण अधिकतर होता है। 'शेखर एक जीवनी' का शेखर अनेक नारी पात्रों के सम्पर्क में आता है। लेखक का आग्रह यह है कि इन नारी पात्रों के संपर्क से उसकी कामचेतना का विकास कैसे संभव हुआ। लेखक फायडवादी विचारधारा से प्रभावित है। 'प्रेत और छाया' का नायक पारसनाथ काम कुंठाओं से त्रस्त, घोर असामाजिक है। लेखक उसके चरित्र-चित्रण के लिए मनोवैज्ञानिक सिद्धांत का आश्रय लेता है। 'देशद्रोही' का

वैष्टन खन्ना न केवल अनेक देशों का भ्रमण करता है, वरन् वहाँ की नारियों से संपर्क भी करता है। यशपाल के राजनीति प्रेम ने खन्ना की कामकुंठाओं के चित्रण में बाधा डाली है। इलाचंद्र जोशी, अज्ञेय, भगवतीचरण वाजपेयी, यशपाल आदि उपन्यासकारों ने कुंठाओं से क्षुब्ध होकर संपूर्ण समाज के प्रति विद्रोह किया है।

स्त्री-पुरुष संबंध : तनाव की स्थितियाँ—वैज्ञानिक जीवन-दृष्टि ने मानवीय संबंधों को यथार्थ धरातल दिया है। परम्परागत मानवीय संबंधों एवं भावनाओं में भी अन्तर आया है। स्त्री-पुरुष सम्बन्धों के परम्परागत मूल्यों में अन्तर आया है। पति-पत्नी के परम्परागत सम्बन्धों में एक स्थिति यह है कि पति शिक्षित एवं आधुनिक विचारों का है और पत्नी अनपढ़ एवं पुराने विचारों की, दूसरी स्थिति यह है कि पति-पत्नी दोनों ही आधुनिक विचारों के हों, तीसरी स्थिति यह है वैवाहिक जीवन के बाहर प्रेम हो, चौथी स्थिति यह है कि पति या पत्नी में से कोई एक यौन दुर्लभ हो।

'मनुष्य के रूप' में जगदीश बैरिस्टर हैं और उसकी पत्नी के लिए काला अक्षर भैंस बराबर और इसलिए मानसिक स्तर पर दोनों में सामंजस्य नहीं हो पाता है। 'हाथी के दाँत' में रमाबिहारी चतुर्वेदी आधुनिक विचारों के समाज सेवी हैं, परन्तु उनकी पत्नी अपढ़ है। वह समाज सेवा में उनका साथ नहीं दे पाती, अतएव पति मानसिक तनाव का अनुभव करता है। पत्नी परम्परागत विचारों की होने के कारण पति की उदासीनता को सहज मानकर स्वीकार कर लेती है। परम्परागत सम्बन्धों का ऐसा स्वरूप 'बूंद और समुद्र' में उपलब्ध होता है। 'अंधेरे बन्द कमरे' में हरबंश और नीलिमा दोनों ही आधुनिक विचारों के है। हरबंश नीलिमा को नृत्य सीखने की स्वतंत्रता देकर उसे महत्वपूर्ण बनाना तो चाहता है, परन्तु उसे अपने नियंत्रण में रखना चाहता है। फलस्वरूप दोनों के जीवन में तनाव की स्थितियाँ उत्पन्न होती हैं, संघर्ष होता है, दोनों घर छोड़ते हैं और नीलिमा अपने भारतीय संस्कारों को त्याग नहीं पाती तथा हरबंश की हालत खराब सुनकर घर वापिस आ जाती है। लेखक ने इस स्थिति का कोई समाधान पेश नहीं किया है। 'मैं ये और आप' में 'सेठ' परम्परागत विचारों वाली पत्नी विमला को इसलिए तलाक दे देता है कि वह मात्र गृहिणी है आधुनिका नहीं और मोहनी को इसलिए स्वीकार लेता है कि वह आधुनिका है। विवाह पूर्व पत्नी के यौन सम्बन्धों को पति द्वारा स्वीकृति दिलाना भी स्त्री-पुरुष सम्बन्धों की नयी स्थिति है। 'गुनाहों के देवता' में एक विशिष्ट स्थिति का चित्रण है जहाँ पत्नी पति से जुड़कर मानसिक रूप में अपने प्रेमी से जुड़ी रहती है। फलस्वरूप उसका पारिवारिक जीवन सहज नहीं हो सकता। आधुनिक स्त्री-पुरुष सम्बन्धों में तनाव की स्थितियों का चित्रण 'काली लड़की', 'भूले बिसरे चित्र', 'झूठा सच', 'दो एकांत', में विशेष रूप से हुआ है।

'चूनर की पीड़ा' का चारवाक अपनी पत्नी को घर छोड़ने की पूर्ण स्वतंत्रता देता है, क्योंकि पत्नी का मन अन्यत्र कहीं उलझा हुआ है। पत्नी चाहने पर भी पति को नहीं छोड़ पा रही है क्योंकि वह जानती है कि शांति व सुखमय आश्रम उसे पति के पास ही मिल सकता है। इस उपन्यास में पति-पत्नी के आधुनिक विचारों को स्पष्ट किया गया है। 'दुखन लागे नैन' में भी वीणा व प्रभात का सम्बन्ध सुखमय बना रहता है क्योंकि वे एक दूसरे को स्वतंत्रता देते हैं।

आज परम्परागत सम्बन्धों को नयी जीवन दृष्टि से देखा जा रहा है। वस्तुतः सम्बन्धों का आधार मानवीय भावना न होकर स्वार्थ व आर्थिक धरातल पर अवलंबित हो गया है। पति-पत्नी, माँ-बेटे, पिता-पुत्र सभी स्वार्थ की दृष्टि से एक दूसरे का मूल्यांकन करने लगे हैं। जो अधिक फायदामी होता है उसके प्रति विशेष झुकाव रहता है।

प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी समाज में अनेक परिवर्तन हुए हैं। सामाजिक परिवर्तन के बारे में समाजशास्त्रियों की दो धारणाएँ हैं, प्रथम यह कि सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया एक चक्र में चलती है। दूसरी यह कि सामाजिक परिवर्तन चक्र में न चलकर एक दिशा की ओर बढ़ता रहता है। यह परिवर्तन समाज की विभिन्न स्थितियों पर निर्भर करता है जैसे राजनैतिक, आर्थिक और वैचारिक परिवर्तन। इन परिवर्तनों से व्यक्ति, समाज, परिवार, विवाह आदि पर प्रभाव पड़ता है। हम अनुभव करते हैं कि भारतीय आधुनिकता में कितना ज्यादा पश्चिम से आयात है। हम अपने विकास के लिए जातीय और वर्ण के सम्बन्धों को तोड़ना चाहते हैं। नारी-पुरुष समानता के लिए प्रयत्नशील हैं। आर्थिक समानता और हर प्रकार के शोषण के विरुद्ध जिहाद छेड़ने के हामी हैं। १९३६ के बाद द्वितीय महायुद्ध ने भारतीय जनजीवन को बेहद प्रभावित किया और उसकी अभिव्यक्ति उपन्यासों में हुई है।

आज का व्यक्ति दोहरे व्यक्तित्व का वहन कर रहा है। 'जल टूटता हुआ' में सामन्त वर्ग का प्रतीक एक तरफ पूजा पाठ करता है दूसरी ओर अत्याचार, छल-कपट आदि करता है। कथनी और करनी में अन्तर आ गया है। आज "मनुष्य वन्य युग की ओर जा रहा है। जिस बात को वह तर्क से नहीं मनवा सकता उसको अणु उद्जनादि बमों से मनवाने को तत्पर है।......सभ्यता की चरम उन्नति हो चुकी।......बेईमानी, पक्षपात और अन्याय इन तीन वृत्तियों को मिलाकर एक नवीन वृत्ति का निर्माण हो रहा है। वह है मनुष्य का स्वभाव सत्य के लिए कष्ट सहने वाला व्यक्ति आज मूर्ख है क्योंकि वह जीना नहीं जानता।"[२१] सामाजिक-परिवर्तन क्रम में संक्रान्ति काल की एक स्थिति ऐसी भी होती है जहाँ विगत मूल्य अशेष हो जाते हैं एवं नवीन मूल्य उस रिक्त स्थान को भर नहीं पाते हैं। 'ऋतु चक्र' की प्रतिभा इस स्थिति का संकेत है : "जीवन किस तेज रफ्तार से बदल रहा है

यह तो आप देख ही रहे हैं। पिछले सभी आदर्श, मूल्य और मान्यतायें या तो ढह चुकी हैं या तेजी से ढह रही हैं। बदले में एक भी मूल्य या एक भी नए आदर्श का निर्माण नही हो पाया है।"[२२] "वर्तमान समाज में आधुनिकता का प्रवेश हो रहा है। पश्चिम के अन्धानुकरण के फलस्वरूप समाज में अनेक समस्याएं उत्पन्न हो गई हैं। 'आधुनिकता अनेक विचित्र रूपों में जीवन और समाज में प्रवेश पाती चली जा रही है। पुरानी पीढ़ी और नयी पीढ़ी के बीच पड़ी हुई खाई किस हद तक अपना विस्तार बढ़ाती जा रही है। यह देखकर चकित रह जाना पड़ता है।[२३] पुरानी पीढ़ी और नई पीढ़ी के मध्य बढ़ते हुए संघर्ष का एक पहलू यह भी है। इससे परम्परागत मूल्यों, मान्यताओं में टकराव आया है। समाज में कई विस्फोटक स्थितियाँ पनपने लगी हैं। सर्वत्र संघर्ष व्याप्त है। "आज मनुष्य और मनुष्य के बीच, व्यक्ति और समूह के बीच, वर्ग और वर्ग के बीच, जनता और सरकार के बीच, सम्पूर्ण मानवता और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक नेताओं के बीच पारस्परिक स्वार्थों का जो घात प्रतिघात और संघर्ष देख रहा हूँ।"[२४]

इस प्रकार प्रेमचन्द के बाद का हिन्दी समाज अपने परम्परागत स्वरूप से भिन्न विघटनशील समाज है। पाश्चात्य भारतीय सभ्यता संस्कृति के बीच द्वन्द्व की स्थिति में फँसा हिन्दी समाज हक्का-बक्का हो गया। न वह पूर्णतः आधुनिकता को स्वीकार कर सका और न परम्परा को छोड़ सकता है। प्रेमचन्द ने जिन आदर्शों की स्थापना की, उनके बाद वे सारे आदर्श धराशायी हो गए। समाज मे सारे सम्बन्ध भावात्मक स्तर के बजाय अर्थ पर निर्भर होते गए। आधुनिक विचारों से जुड़कर स्त्री-पुरुष सम्बन्धों में तनावपूर्ण स्थितियाँ आयी। कुल मिलाकर प्रेमचन्द के बाद एक संक्रमण की भीषण स्थिति आती है जिसकी सम्पूर्ण अभिव्यक्ति प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासों में मिलती है।

संदर्भ :—

1. आर० के० मुकर्जी — एकानामिक्स प्राब्लम आफ माडर्न इंडिया, पृष्ठ ५६
2. समाज-जनवरी १६५६, पृ० ३६१।
3. सोशल बैकग्राउंड ऑफ इण्डियन नेशनलिज्म, ए० आर० देसाई, १६५४, पृ० ६१।
4. प्रेमचन्द
5. उग्र
6. कल्याणी, पृ० २६
7. पर्दे की रानी, पृ० २२।
8. वही, पृ० २१।

९. दादा कामरेड, पृ० ३१
१०. निमंत्रण, पृ० ५५
११. वही, पृ० १२८।
१२. वृन्दावन लाल वर्मा, १९५४
१३. वही, पृ० ९४
१४. संघर्ष, पृ० १४६।
१५. मनुष्य के रूप, पृ० ६१
१६. बीज, पृ० २६६
१७. राह और मात, पृ० २४३।
१८. नदी का मोड़, पृ० ५१-५२।
१९. भूलेबिसरे चित्र, पृ० १००।
२०. सारा आकाश, पृ० २०९।
२१. गुलघन, पृ० ८४-८५।
२२. ऋतु चक्र, पृ० ८५।
२३. वही, पृ० १७३।
२४. जहाज का पंछी, पृ० ४४६।

अध्याय दो

आलोच्य युग का सामाजिक, ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

आलोच्य युग की सांस्कृतिक, सामाजिक तथा राजनीतिक पृष्ठभूमि को समझने के लिए भारतीय सांस्कृतिक नवजागरण (१६ वीं शताब्दी के पुनरुत्थान) को समझना आवश्यक है। क्योंकि यहीं से भारतीय सांस्कृतिक, सामाजिक तथा राजनीतिक क्षितिज पर आधुनिक चेतना का प्रकाश तथा क्रांतिकारी परिवर्तन की रेखाएं दृष्टिगोचर होती हैं। १९वीं शताब्दी की सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटना भारत में अंग्रेजी राज्य की स्थापना और उसका सुदृढ़ होना है। अंग्रेजी राज्य की स्थापना ने भारत में दो नवीन शक्तियों को जन्म दिया, एक नवीन शिक्षा और दूसरी नवीन वैज्ञानिक आविष्कारों का भारत में प्रचार। फलतः भारतीय जीवन भिन्न रूप धारण करता गया।

अंग्रेजी शासन—इंग्लैंड में १४वीं शताब्दी में मनुष्यों ने अलग-अलग व्यवसाय प्रारम्भ किया। जो व्यक्ति व्यवसाय में सफल हो गया वह धनी या अमीर हो गया जो असफल रहा वह गरीब हो गया। मध्य वर्ग के उन व्यक्तियों को जो राजकीय अधिकारी थे और प्रभावशाली व्यक्ति थे उन्हें राष्ट्रीय सहायता प्राप्त हुई और वे अमीर बन गये।

भारत में 'ईस्ट इण्डिया कंपनी' की स्थापना के साथ मध्य वर्ग की स्थापना होती है। जिन व्यक्तियों ने मिलकर व्यवसाय किया वे धनी और प्रभावशाली व्यक्ति बन गये। व्यवसाय को बढ़ाने के लिए शिक्षा का सहारा लिया गया। लोगों को शिक्षा के अनुसार कार्य प्राप्त होने लगे। मध्य वर्ग में शिक्षा की मनोवृत्ति बढ़ी और उसके अनुसार ही मध्य वर्ग के लोगों का विभाजन किया जाने लगा—There were two other important factors, First they formed a composite inter-

mediate layer interests but found together by a common style of living and behaviour pattern, Secondly they stood for certain liberal democratics values which they expressed in their social and political conduct."

मध्य वर्ग ने स्वतंत्र रूप से व्यवसाय प्रारंभ किया। राजाओं के और धार्मिक गुरुओं के प्रभाव से अपने को अलग रखा। वे पूर्ण रूप से स्वतंत्र हो गये। मुगल बादशाहों ने सम्पूर्ण व्यवसाय अपने हाथों में ले लिया। दूसरे सभी व्यक्ति उन व्यवसायों में कार्य करने वाले ही रह गये। मध्य वर्ग के लोगों में जो सैनिक थे वे अपने को उच्च समझने लगे, जो व्यवसाय करते थे वे नीची दृष्टि से देखे जाने लगे। इस प्रकार मुगल काल में धार्मिक गुरु और सैनिक उच्च तथा व्यवसाय करने वाले नीची दृष्टि से देखे जाने लगे थे। परंपरा के अनुसार कार्य होने लगे और उसी दृष्टि से मनुष्यों का विभाजन किया जाने लगा। बाप का कार्य बेटे ने किया और वह उन्ही लोगों का हो गया। लेकिन मध्य वर्ग के लोग ऐसे नहीं थे। उन्होंने सीमाओं को तोड़ा और प्रत्येक क्षेत्र में कार्य किया।

इंग्लैंड के लोग जब भारत में आये, तब उन्होंने अपने कानूनों में कुछ परिवर्तन किया ताकि भारतीयों पर उचित रीति से शासन कर सकें। उन्होंने भारतीयों को अपने व्यवसाय में साझेदार बनाने का प्रयास भी किया, परन्तु बहुत कम भारतीयों में इतनी योग्यता थी जो उनका साथ देते। हिन्दुस्तान में शिक्षा केवल उच्च वर्ग के लिये ही रह गयी। अंग्रेजों के आगमन के उपरान्त कुछ भारतीयों ने उच्च शिक्षा प्राप्त की। परन्तु उन्होंने अन्य भारतीयों को उच्च शिक्षा देने का प्रयास नहीं किया। उन्होंने केवल अपने लिये धन कमाने का प्रयत्न किया, किसी अन्य भारतीय का हित उनसे न हुआ। वास्तव में ये भारतीय न होकर अंग्रेज बन गये थे।

मध्य युग का अध्ययन भारत में व्यवसायिक युग के प्रारम्भ से होता है। अंग्रेजों ने अपने व्यवसाय को फैलाने का प्रयत्न किया जबकि हिन्दुओं ने अपने धर्म से बँधा रहना ज्यादा उपयुक्त समझा। भारत के लोग स्वतन्त्र विचारों के नहीं थे, जैसे—समुद्र पार जाने में उनका धर्म नष्ट हो जाता था, ऐसी कुछ हिन्दुओं की विचारधारा थी, जो उनकी उन्नति के मार्ग में बाधक हुई।

शिक्षित वर्ग ने बहुत सी रूढ़ियों, अन्धविश्वासों को तोड़ने की कोशिश की। इस समय में भारत मे धार्मिक और राजनीतिक आन्दोलन प्रारम्भ हुए। १८८५ में कांग्रेस की स्थापना हुई—हिन्दू और मुसलमानों के संगठनात्मक विद्रोह को छिन्न-भिन्न करने के लिए अंग्रेजों ने उनके बीच में भेद या फूट उत्पन्न करवायी। परिणामतः भारत का विभाजन हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के रूप में किया गया।

नूतन शिक्षा—उच्च शिक्षा भारत में पहले भी थी और मुसलमानों के समय में पंडितों और मौलवियों के माध्यम से उसका विकास होता रहा, लेकिन शिक्षा का यह रूप पूर्णतः धार्मिक हो गया था। यह परम्परागत धार्मिक विषयों के अध्ययन तक ही सीमित थी। फिर अठारहवीं शताब्दी की उथल-पुथल और अंग्रेजी राज्य के प्रारंभिक दिनों में शिक्षा के ये धार्मिक संगठन लगभग समाप्त होने लगे थे। लेकिन शिक्षा के प्रति सम्मान की भावना इस समय भी लोगों में कायम थी, जबकि उस समय की शिक्षा समयोचित तथा उपयोगी नहीं रह गई थी। अतः उसमें परिवर्तन अपेक्षित और आवश्यक जान पड़ रहा था। पश्चिम के सम्पर्क से देश में नये-नये परिवर्तन हो रहे थे। ज्ञान-विज्ञान की नई-नई बातों का प्रचार बढ़ रहा था। ऐसी दशा में शिक्षा के परम्परागत धार्मिक रूप से अब काम नहीं चल सकता था। अब हमें ऐसी शिक्षा की आवश्यकता थी जो युग की संवेदना के साथ लोगों को जोड़ सके और ज्ञान-विज्ञान के अध्ययन, अध्यापन का माध्यम बन सके। इसके लिए जनता के हित-चिन्तकों ने प्रयास किया। फलस्वरूप १९वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में ही ईसाई मिशनरियों, डेविड हेयर (१८१६), स्टुअर्ट एलफिंस्टन (८२४) एलेक्जेण्डर डफ (८३०) और राजा राममोहन राय जैसे प्रगतिशील भारतीयों के व्यक्तिगत प्रयत्नों के फलस्वरूप अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार प्रारम्भ हुआ। इस काल में व्याप्त धार्मिक और सामाजिक कुप्रथाओं को समाप्त करके लोगों को स्वस्थ सामाजिक जीवन प्रदान करने के लिये यह नितान्त आवश्यक था कि तत्कालीन शिक्षा में परिवर्तन लाया जाय।

मिशनरियों ने भारत में अंग्रेजी शिक्षा का कार्यक्रम प्रारंभ किया। राजा राममोहन राय अंग्रेजी शिक्षा की आवश्यकता महसूस की और उसके व्यापक प्रचार-प्रसार पर ध्यान दिया। राजा राममोहन राय प्रगतिशील चेतना के व्यक्ति थे। वे चाहते थे कि पाश्चात्य शिक्षा का व्यापक प्रचार करके प्राचीन घिसी-पिटी शिक्षा पद्धति में आवश्यक सुधार लाकर उसे पुनर्जीवन प्रदान किया जाय। उन्हें विश्वास था कि जब तक शिक्षा की दिशा में देश पिछड़ा रहेगा, तब तक वह सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक अथवा सांस्कृतिक तथा धार्मिक क्षेत्रों में अपनी यथेष्ट उन्नति नहीं कर सकेगा। इसीलिए राजा राममोहन राय अंग्रेजी शिक्षा के प्रबल हिमायती बन गये।

अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार-अभियान में ईसाई मिशनरियों का उत्साह यों ही नहीं था, वे ईसाई धर्म का भी प्रचार चाहते थे जो भारत जैसे धर्म भीरू देश में वैचारिक परिवर्तन के अभाव में सम्भव ही नहीं था। इसलिए नई शिक्षा के

माध्यम से मिशनरियों ने वैचारिक परिवर्तन की बात पर विशेष बल दिया। उन्होंने यह बताने का भरपूर प्रयत्न किया कि भारत में नाना जातियाँ अनेकों धार्मिक अन्धविश्वासों तथा कुप्रथाओं की शिकार बनी हुई हैं। अगर ये ईसाई धर्म को अपना लें तो इनका सारा दुःख-दर्द समाप्त हो जाय और इनकी सामाजिक दशा सुधर जाय। निश्चय ही मिशनरियों का दृष्टिकोण नि.स्वार्थ रूप से भारत में नई शिक्षा का प्रचार करना नहीं कहा जा सकता। फिर भी शिक्षा सम्बन्धी उनके कार्यों को तो स्वीकार करना ही पड़ेगा जिसके चलते देश मे नव जागृति की लहर फैली और सारा देश आन्दोलित हो उठा।

कम्पनी सरकार का ध्यान बहुत दिनों तक अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार की ओर नहीं गया। कारण कि वह उसे भारतीय जनता पर अथवा भारतीय संस्कृति एवं धार्मिक रूढ़ियों पर कुठाराघात सा समझती थी। लेकिन कम्पनी का शासन जैसे-जैसे विस्तार पाता गया और जटिल बनता गया, वैसे-वैसे उसे सरकारी दफ्तरों में काम करने के लिए अंग्रेजी पढ़े-लिखे भारतीयों की आवश्यकता महसूस होने लगी। इसलिए शासन को मजबूत बनाने की दृष्टि से १८३३ में सरकार ने अपनी शिक्षा सम्बन्धी नीतियों में तब्दीली की। मेकाले की मिनिट्स के अनुसार उसने अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार का कार्य हाथ में लिया। १८३५ में गवर्नमेंट का प्रस्ताव प्रकाशित हुआ। १८४४ में हार्डिज का घोषणा-पत्र प्रकाशित हुआ कि सरकारी नौकरियाँ अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों को ही दी जाए। इससे अंग्रेजी के प्रचार में बहुत बड़ी सफलता मिली। यह बड़े ही महत्व की घोषणा थी, क्योंकि इसी के कारण भारत का मानसिक कायाकल्प हुआ।

सन् १८३५ के बाद अंग्रेजी शिक्षा का जोर और बढ़ने लगा तथा जनता के उत्साह को देखकर सरकार भी शिक्षा विषयक व्यय में वृद्धि करने लगी, यद्यपि अन्दर ही अन्दर उसे मालूम था कि जो व्यवस्था वह चला रही है उसका फायदा सिर्फ उच्च वर्ग वालों को ही प्राप्त हो सकता है। निम्न वर्ग अथवा मध्यम वर्ग के लिए सरकार ने कोई उत्सुकता नहीं दिखाई। वह मानती थी कि जब समाज का उच्च वर्ग शिक्षित हो जायगा तो वह देशी भाषाओं के माध्यम से मध्य तथा निम्न वर्ग को भी ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा देकर उन्हें शिक्षित बना देगा। लेकिन यह सिर्फ अनुमान ही रह गया, प्रत्यक्षतः ऐसा हो नहीं पाया। १९१९ के व्यापक राष्ट्रीय आन्दोलन के बाद पढ़े-लिखे लोग गाँवों में जनता के साथ जाने लगे, थोड़ा-बहुत लाभ इससे अवश्य हुआ।

जिस वर्ष भारत में सिपाही-विद्रोह हुआ उससे पहले भी देश के विभिन्न भागों में नवीन शिक्षण संस्थाएं स्थापित हो चुकी थी। ऐसी संस्थाओं में क्वीन्स कालेज बनारस और आगरा तथा बरेली कालेजों का नाम मुख्यतः लिया जा सकता

है। विद्रोह के समाप्त होते-होते मद्रास और बम्बई में विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई। आगे चलकर सन् १८८२ में लाहौर में पंजाब विश्वविद्यालय का श्रीगणेश हुआ और सन् १८८७ में इलाहाबाद विश्वविद्यालय की स्थापना हुई। फिर तो देश में स्कूल और कालेज खोलने की होड़ सी मच गई। इन सभी शिक्षण संस्थाओं के माध्यम से भारत में पाश्चात्य शिक्षा तथा पश्चिमी विचारधारा का बहुत अधिक प्रचार हुआ।

अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार-प्रसार में ईसाई मिशनरियों के उत्साह और सरकारी नीतियों को लेकर कई अनुमान लगाये गये हैं। विचारकों का एक अनुमान तो यह है कि ईसाई मिशनरियाँ भारतीयों के बीच अपने ढंग की शिक्षा पद्धति चलाकर इस देश को कब्रस्तान बनाना चाहती थी। आदिम जातियों के बीच उनका प्रवेश शिक्षा के माध्यम से हुआ था और शिक्षा के सहारे ही उन्होंने इस जातियों के लोगों को अपने धर्म में दीक्षित भी किया था। कुछ उच्चवर्गीय बंगाली हिन्दू भी शिक्षा के इस जाल में उलझकर क्रिश्चियन बन गये थे। इस प्रकार धर्म प्रचारकों को बहुत बड़ी आशा थी कि शिक्षा के माध्यम से ही वे हिन्दू समाज को ईसाई बनाने में समर्थ हो जायेंगे। दूसरी बात इस सम्बन्ध में यह कही जाती है कि अंग्रेजी शिक्षा भारत में इसलिए चलाई गई थी कि यहाँ के अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोग तन से भारतीय और मन से अंग्रेज हो जाएँ, जिससे अंग्रेजों का विरोध करने की इच्छा कभी न हो। ये दोनों बातें अंशतः ठीक सिद्ध हुई। हम कह सकते हैं कि नवीन शिक्षा में अनेक दोष रहने हुए भी उससे भारतीय जीवन अनेक अर्थों में लाभान्वित हुआ। अंग्रेजी शिक्षा के कारण ही लोगों में राष्ट्रीयता का उत्साह जाग्रत हुआ, जिससे भारतवासी अपने अधिकारों की माँग कर सके।

इस प्रकार उच्च अंग्रेजी शिक्षा के परिणामस्वरूप भारत का शिक्षित वर्ग यूरोपीय ज्ञान-विज्ञान का महत्व समझने लगा था। प्राचीन भारतीय शास्त्रों की खोज भी, अब बिना यूरोपीय विद्वानों का सहारा लिए सम्भव नहीं थी। मैक्समूलर के कार्यों ने भारत की प्राचीन गरिमा की अभूतपूर्व वृद्धि की। अंग्रेजी का ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में एक छत्र राज्य स्थापित हो गया। एक बात इस सन्दर्भ में सदैव स्मरण रखने की है कि नवीन शिक्षा और नव जागरण के इस परिवेश में तत्व के रूप में भारत का अतीतोद्धार भी हुआ, जिसके फलस्वरूप भारतवासियों में आत्म-गौरव की भावना प्रबल हुई और वे भी अपने को किसी उच्चतर सभ्यता और संस्कृति के वंशज कहने का गर्व प्राप्त कर सकें।

१९वीं शताब्दी में हुई सांस्कृतिक क्रांति अपने में ही विकास की गति पाकर विदेशी संस्कृति के आक्रमण तथा प्रचार से परिवर्तित हुई। यह परिवर्तन अपनी

स्वाभाविक गति से न होकर आकस्मिक रूप से हुआ तथा उसने संघर्ष और बराबकता की स्थिति उत्पन्न कर दी। इस परिवर्तन के मूल में दो परस्पर विरोधी संस्कृतियों का सम्पर्क मुख्य कारण के रूप में वर्तमान था। एक ओर शिक्षित मध्यम वर्ग, जो शासन प्रणाली में नौकरी पाना ही जीवन की बड़ी सफलता मानता था, और अंग्रेज अफसर हैं जिसका सांस्कृतिक प्रतीक था, यूरोपीय विचारधारा तथा शिक्षा का पुजारी ही नहीं, बल्कि यूरोपीय रहन-सहन तथा जीवन सम्बन्धी दृष्टिकोण को भी आदर्श मानने लगा था। मैकाले का उद्देश्य अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार के पीछे ऐसे ही भारतीयों का निर्माण करना था, जिसकी चर्चा हम पहले कर आये हैं। उसने स्पष्ट शब्दों में कहा कि हमें ऐसे वर्ग का निर्माण करना चाहिए जो अंग्रेज शासकों तथा शासितों के बीच माध्यम का काम करें। जिसका रक्त और रंग भारतीय हो लेकिन जिसकी अभिरुचि, विचार, नैतिकता तथा बुद्धि अंग्रेजी हो।

इन नव शिक्षितों ने यूरोपीय रहन-सहन में अपने को ढालना प्रारम्भ कर दिया और मैकाले की मनोकामना बहुत हद तक पूर्ण होती दिखाई पड़ने लगी। लेकिन साधारण जनता अभी भी अपनी पुरानी रफ्तार से ही चलती आ रही थी। उसके पास तक अभी यूरोपीय संस्कृति की चकाचौंध नहीं पहुँच पाई थी। परिणाम यह हुआ कि भारतीय जीवन में एक भयंकर खाई बनती गई जिसके एक किनारे पर अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों का वर्ग था तो दूसरे किनारे पर गाँवों की अपार भोली-भाली ग्रामीण जनता जो परम्पराप्रिय थी और जिसमे हठात् कोई परिवर्तन लाना सम्भव नहीं था। वैसे भी यदि यूरोपीय सभ्यता तथा संस्कृति का प्रभाव साधारण जनता तक पहुँच गया होता तो स्थिति कुछ और ही होती।

सच पूछा जाय तो इन नवशिक्षित लोगों में भी वैचारिक दृढ़ता का अभाव ही बहुत दिनों तक दिखाई पड़ता रहा। वे शिक्षा तो नई लेते रहे लेकिन उनके घरों तथा परिवारों का वातावरण पुरानी चाल का ही बना रहा जिसकी वजह से उस जमाने के बहुत पढ़े-लिखे लोगों में यह विरोधाभास देखने को मिल जायेगा कि वे पढ़ते तो मिल्टन, मिल आदि को थे और अपने घरों में फिर भी पंडे और पुरोहितों तथा मूर्ति पूजा आदि के भक्त बने हुए थे। बौद्धिक स्तर पर हिन्दू धर्म तथा संस्कृति के तत्कालीन रूप में आस्था समाप्त हो जाने के बावजूद उनका सामाजिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक जीवन उसी से संचालित होता था। इस प्रकार एक विषम परिस्थिति का सामना करना पड़ रहा था जिसे सरकार भी दूर कर सकने में अक्षम प्रतीत हुई। फिर भी यह तो मानना पड़ेगा कि यह सब सांस्कृतिक संक्रमण के कारण ही हुआ।

नव शिक्षा प्राप्त भारतवासियों के विचारों ने २१वीं शताब्दी के नव जागरण के लिए लोगों को प्रेरणा प्रदान की। लेकिन जिन भारतीयों पर अंग्रेजियत का नशा पूरी तरह हावी था उनसे इनकी स्थिति काफी अलग देखी जा सकती है। क्योंकि

वहाँ अंग्रेजियत के रहनुमा भारतीय रहन-सहन तथा भारतीय तौर-तरीकों, खान-पान और वेश-भूषा को दकियानूस और फूहड़ समझने लगे थे। वहाँ भारतीय राष्ट्रीयता तथा प्राचीन भारत पर गर्व करने वाले विचारक अंग्रेजी सभ्यता को ग्रहण कर लेने के बावजूद प्राचीन भारत में श्रद्धा और आदर कायम रखे हुए थे। प्रश्न उठ सकता है कि फिर इन लोगों ने अंग्रेजी सभ्यता क्यों ग्रहण की थी। इसके उत्तर में हम यही कह सकते हैं कि तत्कालीन परिस्थितियाँ कुछ ऐसी थी कि लोग नई चाल-ढाल में नहीं आते थे उनको सामाजिक गौरव नहीं प्राप्त होता था।

१६वीं शताब्दी उत्तरार्द्ध तक आते आते अंग्रेजी पढ़े-लिखे भारतीय बुद्धिजीवियों के तीन मुख्य वर्ग बन गये। एक वह वर्ग जो भारतीय प्राचीन धर्म, समाज और सभ्यता तथा संस्कृति को पिछड़ी हुई, दकियानूस और घिसी-पिटी मानता था और यूरोपीय सभ्यता तथा संस्कृति को संसार की श्रेष्ठ संस्कृति के रूप में उपासना में तल्लीन था। दूसरा वर्ग वह था जो यूरोपीय ज्ञान-विज्ञान को नफरत की नजर से देखता था और यूरोपियनों को धर्मच्युत जाति मानकर, अपनी संस्कृति की श्रेष्ठता लादने की कोशिश करता था। इस वर्ग के विचारकों के अनुसार अंग्रेजी राक्षसी भाषा थी जिसके पढ़ने से भारतीय नवयुवक आसानी से धर्मभ्रष्ट हो सकते थे। इस वर्ग का कहना था कि भारत को विदेशों से कुछ भी सीखने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि दुनिया भर की ज्ञान-विज्ञान संबंधी बातों का उल्लेख तो उनके प्राचीन धार्मिक ग्रन्थों तथा वेदों में ही उपलब्ध हैं। इसलिए आवश्यकता वेदो के अध्ययन, अध्यापन की है, न कि अंग्रेजी की खिड़की से पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान का वायुसेवन करने की। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने पाश्चात्य संस्कृति के अन्धानुयायियों को मुँह तोड़ जवाब दिया। इसमें दो मत नहीं हो सकते कि स्वामी जी का यह दृष्टिकोण पाश्चात्य सभ्यता के अन्धभक्तों की प्रतिक्रिया में उत्पन्न हुआ था, लेकिन इससे भारतीय प्राचीन गरिमा की बहुत हद तक रक्षा भी हुई। ऐसे समय में जब चारों तरफ पाश्चात्य संस्कृति अपना जाल फैला चुकी थी, भारत की प्राचीन संस्कृति को जिलाए रखने की दृष्टि से स्वामी दयानन्द सरस्वती का यह कार्य अनायास ही ऐतिहासिक महत्व का बन जाता है। यद्यपि यह भी भुलाया नहीं जा सकता कि इससे एक दुष्परिणाम यह निकला कि पाश्चात्य संस्कृति के सभी पहलुओं को लोग अवांछनीय मानने लगे, जबकि वस्तु स्थिति ऐसी नहीं थी।

इन दो अतिवादी विचारधाराओं के अतिरिक्त एक तीसरी विचारधारा भी धीरे-धीरे अपना मंच तैयार करने में लगी थी। यह विचारधारा दोनों विचारधाराओं के परस्पर सामंजस्य एवं सन्तुलन पर आधारित थी, जो निश्चय ही स्वस्थ और समीचीन कही जा सकती है। इस वर्ग के विचारकों का मत यह था कि पाश्चात्य तथा भारतीय दोनों संस्कृतियों के प्रति अंधभक्ति को त्यागकर युग के

अनुसार उपयोगी तत्वों को चाहे वे जिस संस्कृति के हों, स्वीकार किया जाय। वस्तुतः यह चुनाव प्रक्रिया ही आधुनिक भारतीय संस्कृति की रीढ़ है, और इसी से उसका निर्माण हुआ है। यह चुनाव पद्धति निश्चय ही पाश्चात्य संस्कृति के ग्रहणीय तत्वों को अपनाने के लिए ही ग्रहण की गई थी। इस प्रकार यूरोपीय संस्कृति के उपयोगी तत्वों को ग्रहण करके भारतीय संस्कृति से उनका सामंजस्य बिठाने का यत्न हुआ। इस नवीन पद्धति से भारतीय तथा पाश्चात्य संस्कृति के बहुत से ऐसे तत्व, जो मानव की बुनियादी जिन्दगी के लिए आवश्यक और उपयोगी थे, आपस में घुल-मिल गये और दोनों के मेल से एक ऐसी मिली-जुली संस्कृति का विकास हुआ, जो मानवता की रक्षा और उसके कल्याण के लिए प्रतिश्रुत समझी गई। कहने की आवश्यकता नहीं कि आधुनिक भारतीय संस्कृति से तात्पर्य इसी नव विकसित संस्कृति से है। राजाराम मोहनराय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, स्वामी विवेकानन्द तथा रानाडे आदि सभी मनीषियों ने किसी भी संस्कृति को समग्र रूप से नहीं लिया। वरन् दोनों से उपयोगी तत्वों का चयन ही इनका भी लक्ष्य था।

सारांश यह कि आधुनिक भारत के नव-निर्माणकर्त्ताओं को एक साथ दो ओर से संघर्ष करना पड़ा। जिसकी भावधारा सामाजिक सुधार आन्दोलनों में प्रतिफलित हुई और दूसरे उन्हें पाश्चात्य संस्कृति के बढ़ते हुए प्रभावों से भी जूझना पड़ा, जिसके परिणामस्वरूप हमें राष्ट्रीय जागरण तथा स्वाधीनता आंदोलन के दर्शन हुए। यह सामाजिक तथा राजनीतिक दोनों जागरण नवीन सांस्कृतिक जागरण के ही दो पहलू थे। समाज पर रूढ़िवादी लोगों का अधिकार था तथा शासन सूत्र अंग्रेजों के हाथ में था। अतः सांस्कृतिक विकास के लिए यह आवश्यक था कि इन दोनों नियंत्रणों को समाप्त किया जाय।

१९ वीं शताब्दी के भारत की धार्मिक तथा सामाजिक क्षेत्रों में शोचनीय स्थिति थी तथा परम्परा, रीति रिवाज तथा धर्म के नाम पर अनेकों बुराइयाँ समाज में फैली हुई थी। समाज में विशेषतः नारी का स्थान मानवीय भूमि पर न होकर उपभोग सामग्री के रूप में होना बहुत ही शर्मनाक बात थी। मनु की दुहाई देकर तत्कालीन समाज नारी को जीवन भर पिता, पति तथा पुत्र के संरक्षण में रखता था। माँ-बाप के लिए लड़की का जन्म दुख तथा अभाग्य का प्रतीक समझा जाता था। विधवा होने पर उसे पति की चिता पर जलकर अपने सतीत्व की परीक्षा देनी पड़ती थी, और समाज आत्म हत्या के इस सार्वजनिक समारोह में बड़े उत्साह तथा गौरव के साथ भाग लेता था। खान पान तथा शादी व्याह के नियम इतने कठोर थे कि प्रत्येक परिवार तथा उपजातियाँ दूसरे से बिलकुल अलग-अलग थीं। इसीलिए धार्मिक क्षेत्र में बहुदेवोपासना का भी प्रचलन हुआ। क्योंकि सभी उपजातियों के इष्ट देवता अपने अलग-अलग अस्तित्व वाले थे साथ ही उनकी उपासना

पद्धतियाँ भी उन्हीं की तरह अलग-अलग मानी जाती थी। धार्मिक अन्धविश्वासों का बोलबाला था और जो जाति इस दृष्टि से जितना ही आगे थी उसे धार्मिक दृष्टि से उतनी ही उच्चता प्राप्त थी। ऐसी दशा में लोगों का स्वतंत्र जीवन बिताना दूभर हो गया था, क्योंकि समाज उन्हें प्रत्येक क्षेत्र में इस बात के लिए मजबूर कर देता था कि वे परम्परित रूढ़ियों का पालन करें ही। ऐसी बात नहीं कि लोग इस स्थिति से मुक्त नहीं होना चाहते थे, लेकिन रूढ़िवादी तत्व इतने शक्तिशाली थे कि उनके आगे इन परिवर्तनवादियों की एक नहीं चल सकती थी।

ऐसी उथल-पुथल और अराजकतापूर्ण स्थिति में ईसाई मिशनरियों के माध्यम से ईसाई धर्म का प्रचार-प्रसार प्रारम्भ हुआ। इसमें संदेह नहीं कि ईसाई धर्म के प्रचार के लिए यह परिस्थिति सर्वोत्तम थी, क्योंकि परिवर्तनवादियों के लिए रूढ़ियों और अन्धविश्वासों से अपने को मुक्त करने का इससे उचित अवसर दूसरा नहीं मिल सकता था। मिशनरियों ने धर्म के प्रचार के साथ-साथ समाज सेवा तथा नवीन सामाजिक विचारों का प्रचार भी किया, जो भारतीयों के लिए मुक्ति मार्ग की तरह था। लेकिन यह धर्म परिवर्तन द्वारा ही सम्भव था। अतः अनेकों हिन्दू, ईसाई धर्म में दीक्षित होने लगे। जहाँ उन्हें सामाजिक स्वतंत्रता उपलब्ध थी। जाहिर है कि इन लोगों के आकर्षण का केन्द्र ईसाई धर्म नहीं था, बल्कि ईसाईयों के सामाजिक तथा धार्मिक स्वच्छन्द विचार थे जिसकी प्रेरणा से उन्होंने अपने धर्म तक का परिवर्तन कर डाला। मिशनरियों के बहुत प्रयत्न के बावजूद भी इस धर्म परिवर्तन ने कहीं सामूहिक रूप नहीं लिया, क्योंकि धार्मिक दृष्टि से वे हिन्दू धर्म से बहुत अधिक असन्तुष्ट नहीं थे। उनकी असन्तुष्टि सिर्फ सामाजिक परिस्थितियों से थी, इसलिए जो लोग हिन्दू समाज की कठोरता से क्षुब्ध थे, सबसे पहले उन्होंने ही ईसाई धर्म को ग्रहण किया। इस तरह से चाहे थोड़े अंशों में ही सही हिन्दुओं को ईसाई बनाने का यह कार्यक्रम मिशनरियों के कार्य का एक प्रमुख अंग बन गया। यह देखकर भारतीय संस्कृति में रुचि रखने वाले तथा स्वाभिमानी हिन्दुओं का ध्यान अपने समाज, संस्कृति तथा धर्म की ओर गया। इसी प्रतिक्रिया का परिणाम था १९वीं शताब्दी का व्यापक सुधार आन्दोलन, जिसकी व्याप्ति न केवल धार्मिक तथा सामाजिक सुधारों तक ही सीमित थी बल्कि उसका क्षेत्र सभ्यता और संस्कृति के क्षेत्रों के साथ ही राजनीतिक तथा आर्थिक क्षेत्रों तक भी फैला हुआ था। इन सभी सुधार आन्दोलनों का लक्ष्य संक्षेप में धर्म तथा समाज और संस्कृति को समय के सन्दर्भ में पुनः व्याख्यायित करके सामाजिक जीवन के साथ उनकी उचित साम्य बैठाते हुए उन्हें पुनः प्रतिष्ठित करना, विशृंखलित सामाजिक जीवन को एक नया सुगठित रूप देना और इस प्रकार आधुनिक भारत का नव निर्माण करना था।

नवीन आधुनिक शिक्षा के अतिरिक्त अंग्रेजी शासन-काल के प्रारम्भ में देश का नवीन वैज्ञानिक आविष्कारों के साथ भी सम्पर्क स्थापित हुआ, जिससे न केवल देश में राजनीतिक एकता स्थापित हुई और जागृति उत्पन्न हुई वरन् उससे देश अपनी संकीर्ण परिधि से बाहर निकल कर बाहरी दुनिया से सम्पर्क स्थापित करने में भी सफल हुआ। और साथ ही अनेक सुधारवादी आन्दोलनों का जन्म हुआ। देश में जो मध्ययुगीन पौराणिक दृष्टिकोण था, उसे वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण प्रबल आघात पहुँचा। बाहर की दुनियाँ के इस सम्पर्क से आधुनिक भारत का नव निर्माण भी सम्भव हो सका। रेलों के कारण भारत आर्थिक दृष्टि से एक इकाई बन गया। इस एकता के गठबन्धन में रेलों के अतिरिक्त सैनिक संगठन, सड़क, तार, प्रेस, डाक विभाग आदि ने भी महत्वपूर्ण योग दिया साथ ही औद्योगिक तथा वैज्ञानिक उन्नति के क्षेत्र में देश को आगे बढ़ाया। लेकिन देश का आत्म गौरव उभर न सका जब तक कि कम्पनी का शासन समाप्त नहीं हुआ।

वैज्ञानिक आविष्कार—नव जागरण के पीछे छापे की मशीनों का भी योगदान महत्वपूर्ण माना जा सकता है। क्योंकि शिक्षा के प्रचार तथा साहित्यिक उन्नति के साथ प्रेसों का अभिन्न सम्बन्ध रहा है। जैसे-जैसे भारत में प्रेसों का प्रचार बढ़ा वैसे-वैसे यहाँ की शिक्षा में भी तेजी आती गई। प्रेसों के साथ ही समाचार पत्रों का प्रचलन हुआ जो बाद में किसी भी तरह के आन्दोलनों की सफलता के लिए आवश्यक उपादान प्रमाणित हुए। हेस्टिंग्स और लार्ड कार्नवालिस के समय में बंगाल और मद्रास में कई प्रेसों की स्थापना हुई। इसी समय विलायती अखबारों का आना भी प्रारंभ हुआ, जिससे भारतीय अखबारों को उचित प्रोत्साहन मिला। इस प्रकार पत्रकारिता की कला का भी श्रीगणेश भारतवर्ष में इसी समय हुआ, जिससे आगे चलकर हिन्दी गद्य का विकास हुआ। इस प्रकार राजनीतिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक सभी क्षेत्रों में इन अखबारों के माध्यम से वैचारिक एकता स्थापित होने लगी। इस काल में अंग्रेजी के साथ-साथ दर्जनों हिन्दी पत्र भी प्रकाशित हुए जिनके माध्यम से विविध क्षेत्रों की उन्नति के साथ ही साथ हिन्दी गद्य की भी अभूतपूर्व प्रगति हुई, जिसे हम पत्रकारिता की शैली के नाम से जानते हैं।

अंग्रेजी शिक्षा के प्रभाव से भारतवासियों में अपने समाज और देश के प्रति जो नवीन चेतना जगी, उसी के भीतर से हमारी सारी राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक क्रांतियों का जन्म हुआ। यह सामाजिक चेतना भारत को यूरोपीय सम्पर्क तथा अंग्रेजी शिक्षा से प्राप्त हुई है। यह ठीक है कि भारतीय जनता को अशिक्षा एवं अन्धविश्वास के चंगुल से छुड़ाने अथवा उसके भीतर प्रगतिशील विचारों को प्रेरित करने का काम अंग्रेजी ने नहीं किया, किन्तु नई शिक्षा के प्रचार से ये कार्य स्वतः ही

सिद्ध हो गये। इस नई शिक्षा का एक सुखद परिणाम यह हुआ कि अंग्रेजी के माध्यम से यूरोप के तेजपूर्ण विचारों के सम्पर्क में आते जाते शिक्षित भारतवासियों की मानसिक एकता में भी वृद्धि हुई। इसके अतिरिक्त ध्यान देने योग्य एक बात यह भी है कि जब अंग्रेजी का प्रचार भारत में बढ़ रहा था, तब यूरोप में स्वतंत्रता राष्ट्रीयता प्रजातंत्र और उदार भावनाओं के ज़ोरदार आंदोलन चल रहे थे, अठारहवीं सदी में यूरोप में क्रान्तिकारी विचारों के जो नेता उत्पन्न हुए, अनेक हलचलों और क्रान्तियों के बाद १९वीं सदी में आकर उनके विचारों ने दर्शन का रूप ले लिया और वे यूरोप को आन्दोलित करने लगे। विचारों का यह आन्दोलन सहस्त्र धाराओं में चल रहा था, कविता, नाटक, उपन्यास, आलोचना, निबन्ध, दर्शन, भाषण और शास्त्रार्थ तथा राजनीतिक दलों एवं सरकारों के संगठनों में से सबके सब इन विचारों से ओत-प्रोत हो रहे थे। स्वयं इंग्लैंड में भी कुछ कानूनी संशोधनों को लेकर घमासान आन्दोलन चलाया जा रहा था। वही राज्य अच्छा है, जिसमें अधिकाधिक लोगों का हित निहित हो, और ऐसे अनेक विचार इंग्लैंड में भी स्वीकार किये जाने लगे थे। इस सारे विचारों और आन्दोलनों का उत्तराधिकार भारतवर्ष को अपने आप प्राप्त हो गया, क्योंकि अंग्रेजी भाषा के द्वारा इस देश के चिन्तक यूरोपीय विचारकों के गहन सम्पर्क में आ चुके थे। यूरोप की इन तथाकथित वैचारिक क्रान्तियों में उस समय भारत ने अपना योगदान, विचारक की हैसियत से भले ही न दिया हो, किन्तु उनका प्रभाव ग्रहण करने में यह देश यूरोप से कदापि पीछे नहीं रहा।

नवीन शिक्षा और वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण भारतवासियों के विचारों में, उनकी जीवन-पद्धति में तथा भारतीय जीवन में रूढ़िवादिता के साथ-साथ नवीन चेतना भी उत्पन्न हो गई थी। इसीलिए उस समय का भारतीय जीवन न तो पूर्णरूपेण प्राचीन ही था और न पूर्णरूपेण नवीन। इस सम्बन्ध में दूसरी बात स्मरण रखने की यह है कि यह नवीन चेतना केवल शिक्षित वर्ग तक ही सीमित थी। साधारण जन समूह जहाँ था, वहीं बना रहा। इसीलिए पाश्चात्य सभ्यता के साथ सम्पर्क स्थापित होने के कारण जो व्यापक क्रान्तिकारी परिणाम दृष्टिगोचर होना चाहिए था वह न हो सका। नवीन शिक्षा प्राप्त वर्ग ही भारतीय संस्कृति की स्थापना फिर से करने के लिए चिन्तित था। यह चेतना मूलतः सांस्कृतिक ही थी। स्वामी रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानंद योगी, अरविन्द, रमण महर्षि, रवीन्द्र-नाथ ठाकुर, गांधी जी आदि इसी नवीन सांस्कृतिक चेतना के प्रतीक बनकर आये। क्योंकि यह चेतना केवल शिक्षित वर्ग तक ही सीमित थी। इसीलिए यह चेतना न तो अपने देश की धरती की बन सकी और न उसका जो स्वस्थ रूप होना चाहिए था, वही उभर पाया और आधे भीतर आये बाहर की उक्ति चरितार्थ होने लगी।

देश की जो नवीन संस्कृति थी, वह धीरे-धीरे भारतीय कम और पाश्चात्य अधिक होती गई। इस पर भी पाश्चात्य प्रभाव केवल जीवन के बाह्य उपकरणों तक ही सीमित रहा। यही कारण है कि आज भी जब अंग्रेज चले गये हैं, पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति का प्रभाव देश में निरन्तर बढ़ता जा रहा है और भविष्य में इसके अधिकाधिक बढ़ने की ही सम्भावना दीख पड़ती है।

नव शिक्षा प्राप्त भारतवासियों की राजनीतिक महत्वाकांक्षा बढ़ने लगी थी, जिसके फलस्वरूप १८८५ में 'इण्डियन नेशनल कांग्रेस' की स्थापना हुई। उसकी स्थापना और उसके ऐतिहासिक विकास का इतिहास सर्वविदित हैं। उसकी पुनरावृत्ति की यहां कोई आवश्यकता नहीं। यही 'इण्डियन नेशनल कांग्रेस' भारतवर्ष में राष्ट्रीय महत्वाकांक्षा का प्रतीक बनकर उपस्थित हुई और अनेक राजनीतिक आंदोलन चलाने के बाद भारतीय स्वतंत्रता का माध्यम सिद्ध हुई। भारत के राष्ट्रीय संग्राम में अनेक उतार-चढ़ाव आये, किन्तु देश की स्वाधीनता भारतवर्ष जैसे प्राचीन देश के सांस्कृतिक पुनर्जागरण के लिए आवश्यक समझी गई। प्रासंगिक रूप में 'बंग-भंग-आन्दोलन' और होमरूल आन्दोलन ने राष्ट्र-भावना को पुष्ट बनाया। इसके साथ ही अनेक महापुरुषों ने राष्ट्रीय भावना के प्रचार एवं प्रसार के लिए अथक परिश्रम और बलिदान किए। यह राष्ट्रीय आन्दोलन राजनीतिक तो था ही, किन्तु राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास का प्रत्येक विद्यार्थी यह जानता है कि उसके पीछे सांस्कृतिक चेतना भी निहित थी।

नवीन शिक्षा और वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण न केवल राष्ट्रीय भावना ही पुष्ट हुई वरन् विविध सुधारवादी आन्दोलनों को भी जन्म मिला। हिन्दी क्षेत्र से जहाँ तक सम्बन्ध है, आर्य समाज आन्दोलन विशेष रूप से उल्लेखनीय है। सामाजिक एवं धार्मिक सुधारों के क्षेत्र में भी परम्परा और नवीनता के बीच काफी संघर्ष हुआ। पुरातन का मोह एकदम छूट भी नहीं सकता था। स्वामी दयानन्द सरस्वती, जहाँ एक ओर वैदिक धर्म की फिर से स्थापना चाहते थे, वहाँ वे गुरुकुल भी स्थापित करना चाहते थे, वहाँ आर्य समाज आधुनिक शिक्षा पद्धति को भी ग्रहण करना चाहता था। इन सुधारवादी आन्दोलनों ने भी सांस्कृतिक चेतना को प्रोत्साहन प्रदान किया। इन सुधारवादी आन्दोलनों पर पाश्चात्य प्रभाव बिल्कुल नहीं था, यह नहीं कहा जा सकता। ब्रह्म समाज और आर्य समाज दोनों आन्दोलनों की प्रचार-पद्धतियाँ बहुत कुछ ईसाई मिशनरियों से ग्रहण की गई थी। इसलिए इन सुधारवादी आन्दोलनों के कारण उत्पन्न सांस्कृतिक चेतना न तो विशुद्ध भारतीय थी और न तो पाश्चात्य। उसके विविध पक्षों पर आगे के अध्यायों में विचार किया जायेगा।

कहने की आवश्यकता नहीं कि इस नवोत्पन्न भारतीय सांस्कृतिक चेतना में दो बहुत बड़ी बाधाएं थीं—एक तो देश की पराधीनता और दूसरी अंग्रेजों

द्वारा भारत का आर्थिक शोषण। पराधीनता के कारण जहाँ भारतीय जीवन के विविध क्षेत्रों में गत्यावरोध उत्पन्न हुआ वहाँ अनुकरण की प्रवृत्ति भी प्रबल होती गई। देश की सांस्कृतिक चेतना इससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकी। जहाँ तक आर्थिक शोषण का संबंध है, उसने राजनीतिक दासता में कोढ़ में खाज का काम किया। अंग्रेजों की आर्थिक नीति क्या थी और उन्होंने किस प्रकार देश का आर्थिक शोषण किया, इस पर विविध विद्वानों ने समय-समय पर काफी विस्तार से विचार किया है, जिसके निष्कर्ष आज भी सर्वमान्य हैं। अंग्रेजों की आर्थिक नीति के कारण भारतवर्ष दुनिया का सबसे अधिक निर्धन देश समझा जाने लगा था। साधारण जनता को, विशेषतः किसानों तथा मजदूरों के बहुसंख्यक वर्ग को, दोनों समय पेट भर भोजन भी नहीं मिल पाता था। इस शोचनीय आर्थिक अवस्था ने सांस्कृतिक चेतना को उभारने में सहायता करने की तो बात क्या उसने देश के अपार जन समूह को इस सांस्कृतिक चेतना से विहीन रखा।

भारतीय समाज में एक नये वर्ग (मध्यवर्ग) की स्थापना हुई। इस वर्ग को आर्थिक व्यवस्था से ही प्रेरणा तथा जीवन प्राप्त हुआ था। इसके पहले मध्यम वर्ग के रूप में भारतीय समाज में कोई भी वर्ग इस स्तर का ऐतिहासिक महत्व नहीं प्राप्त कर सका था। १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारतीय इतिहास ने ऐसा पलटा खाया कि अचानक मध्यम वर्ग समाज में सर्वाधिक विवादास्पद और चर्चा का विषय बन गया। क्योंकि इसी वर्ग के माध्यम से सभी तरह के परिवर्तन प्रारम्भ हुए। यह उच्च वर्ग के नवीन प्रभावों से अलग रह कर अपनी कट्टरता में ही अपना महत्व समझ रहा था। उन्हें नई शिक्षा से भी कोई मतलब नहीं था, क्योंकि उन्हें उच्च शिक्षा दिलाने में अंग्रेजी सरकार भी दिलचस्पी नहीं ले रही थी। इसमें अवश्य ही कोई राजनीतिक कारण रहा होगा। दूसरी तरफ निम्न वर्ग निर्धन और अशिक्षित था तथा उसके पास इतने आर्थिक साधन भी उपलब्ध नहीं थे कि वह नई शिक्षा प्राप्त कर सकता। अतः यह मध्यम वर्ग ही ऐसा था जो कुछ कर सकता था, क्योंकि यह कुछ पढ़ा-लिखा भी था और उसके पास साधन भी मौजूद थे, जिसके माध्यम से वह अंग्रेजी शिक्षा ले सकता था। इस वर्ग के अन्तर्गत वकील, डाक्टर, प्राध्यापक, सामान्य व्यापारी, सरकारी कर्मचारी आदि आते थे जो स्वभाव से ही मेहनती तथा महत्वकांक्षी होते थे। अतः यही वर्ग पाश्चात्य प्रभावों में सबसे अधिक आगे रहा। नवीन विचारों से प्रेरणा ग्रहण करके इस मध्यम वर्ग ने भारतीय जीवन में अभूतपूर्व क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित किये। इसी वर्ग के माध्यम से भारत आधुनिकता की ओर आगे बढ़ा तथा संसार

के अन्य देशों से भी अपना सम्पर्क स्थापित किया। इस वर्ग की चेतना प्रारम्भ में राजनीतिक और आर्थिक थी तथा इसकी राष्ट्रीयता में हिन्दुत्व की मात्रा अधिक थी। साथ ही वर्ग, धर्म एवं साम्प्रदायिक विषयों से सम्बन्धित एक अन्य भावना का भी इसमें प्रादुर्भाव हुआ जिसने साम्प्रदायिक निर्वाचन, सरकारी नौकरियों, आर्थिक सुविधाओं आदि की मांग की। लेकिन राजनीतिक क्षेत्र में इन सुधारवादियों को बहुत अधिक सफलता तथा प्रोत्साहन नहीं प्राप्त हुआ। अतः वे निराश होकर समाज-सुधार तथा धार्मिक परिष्कार की ओर मुड़े। यूँ भी धर्म तथा समाज का विस्तृत क्षेत्र सरकार के भय से परे था जबकि राजनीतिक कार्यक्रमों में यह भय हमेशा वर्तमान रहता था, कि सरकार कहीं नाराज न हो जाय। लेकिन सामाजिक तथा धार्मिक कार्यक्रमों के संचालन में यह डर बिलकुल नहीं था, क्योंकि सरकार इस ओर से उदासीन थी। यद्यपि यह उदासीनता उसके लिए मंहगी पड़ी क्योंकि सामाजिक तथा धार्मिक मंचों को आधार बनाकर सांस्कृतिक सुधार आन्दोलनों के नाम पर भारतीय बुद्धिजीवियों ने जो। व्यापक अभियान चलाया उसमें अंग्रेजी विरोधी बहुत सी बातें शामिल थीं। उसी का परिणाम था राष्ट्रीय उत्थान और प्रबल राष्ट्रीय भावनाओं का उदय, जो आगे अंग्रेजों के कार्यों में बाधक बना।

निष्कर्षतः भारतीय संस्कृति पाश्चात्य सभ्यता से बहुत दूर तक प्रभावित हुई। भारतवासी भारतीय सांस्कृतिक तत्वों की दुहाई अवश्य देते थे, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से पश्चिम का मुँह देखते हैं। न केवल राष्ट्रीय जागरण, शिक्षा पद्धति और सुधारवादी आन्दोलनों में ही पश्चिम का प्रभाव स्पष्टतः परिलक्षित होता है, वरन् भारतीय प्रतिभा को पहचानने में भी पश्चिम की छाप ही हमने स्वीकार की। रवीन्द्रनाथ ठाकुर या सर सी० वी० रमण आदि की प्रतिभा जब पश्चिम ने स्वीकार की, तो हमने उसका अनुसरण किया। महात्मा गांधी का व्यक्तित्व भी पश्चिम में ही बना था। हमारी राजनीतिक संस्थाएँ और पद्धतियाँ भी पश्चिम ही की हैं। इसलिए भारत की आधुनिक सांस्कृतिक चेतना को 'इण्डो ब्रिटिश' नाम दिया जाय तो अनुपयुक्त न होगा। हिन्दी उपन्यासों के आधार पर आगे पृष्ठों में भारतीय संस्कृति का जो अध्ययन प्रस्तुत किया जायगा, वह इस बात का प्रमाण है।

उपन्यास साहित्य —१९ वीं शताब्दी का भारतीय सांस्कृतिक नव जागरण भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति के इतिहास में पुनरुत्थान काल के नाम से जाना जाता है, क्योंकि इसी के बीच भारतवासियों के जीवन में एक आमूल परिवर्तन उपस्थित हुआ। इसका प्रभाव न केवल धार्मिक सुधार आन्दोलन तक ही सीमित रहा, बल्कि व्यापक सांस्कृतिक धरातल पर सामाजिक तथा राजनैतिक रंगमंच

भी बहुत कुछ बदल गया। भले ही हम पश्चिमी भाषा तथा साहित्य के सम्पर्क से अथवा विदेशी प्रभाव में आन्दोलित हुए हों, लेकिन हमने अपनी संस्कृति के विकास का मार्ग इसके माध्यम से निश्चय ही प्रशस्त किया। इन परिवर्तनों का भारतीय जीवन तथा समाज पर व्यापक प्रभाव पड़ा। साहित्य तथा कला के क्षेत्र में भी परिवर्तन हुआ। कला अब तक अमूर्त जगत की वायवी कल्पना मात्र थी, वह अब ठोस जमीन पर उतर कर मानव को अपना विषय बनाने को मजबूर हुई। कला तथा साहित्य में मानव जीवन की प्रतिष्ठा एक महत्वपूर्ण घटना है, जो आधुनिक काल की ही उपज है। कला तथा साहित्य में आदर्श की अपेक्षा यथार्थ को अधिक प्रश्रय मिला और यद्यपि आदर्श तथा काल्पनिक भाव-लोक से कलाकार एकदम अपना सम्बन्ध तोड़ नहीं सके (कुछ तो आज भी नहीं तोड़ सके हैं) तो भी इतना तो मानना ही पड़ेगा कि उसमें यथार्थ के प्रति आकर्षण उत्पन्न हुआ और उत्तरोत्तर वे यथार्थवादी दृष्टिकोण को ग्रहण करते गये।

वस्तुतः सभ्यता तथा संस्कृति के विकास के समानान्तर ही कलाकारों के दृष्टिकोण का भी विकास होता है। दूसरे अपेक्षाकृत सभ्य तथा सुसंस्कृत समाज यथार्थ को अधिकाधिक ग्रहण करके चलता है। यही कारण है कि हम ज्यों-ज्यों सभ्यता के स्तर पर विकसित होते गये, त्यों-त्यों हमारी यथार्थवादी दृष्टि भी दोनों ओर खरी होती गई। विवेच्यकाल में भाषा तथा साहित्य के क्षेत्र में गद्य की उत्पत्ति का भी यही कारण है क्योंकि यथार्थ कथन के लिए जितना उपयुक्त माध्यम गद्य की भाषा होती है, उतना उपयुक्त माध्यम पद्य की भाषा नहीं। इसलिए हमारी यथार्थ दृष्टि ने ही हमें गद्य में लिखने को मजबूर किया। आज यथार्थ के हमारे आग्रह ने गद्य का इतना अधिक प्रचार तथा विकास कर लिया है कि हमें बरबस आज के इस युग को साहित्य के सन्दर्भ में 'गद्ययुग' कहने पर मजबूर होना पड़ता है। सचमुच गद्य की शैली ने अपनी अभिव्यक्ति की विविधता या यथार्थता के कारण हमें चमत्कृत कर दिया है।

कथा साहित्य आज के युग को अभिव्यक्त करने के लिए सर्वोत्तम माध्यम के रूप में अपनी प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुका है। उसमें हम अपने युगीन सन्दर्भों का यथार्थ चित्र प्राप्त कर सकते हैं। आज के जीवन की व्यापकता तथा विविधता अपनी प्रकृत अभिव्यक्ति के लिए उपन्यास विधा जैसे माध्यम की अपेक्षा रखते हैं। हम पहले कह आये हैं कि जीवन की नवीन परिस्थितियों के फलस्वरूप भारत में मध्यम वर्ग का जन्म हुआ जो नव शिक्षा प्राप्त था। नवीन चेतना से अनुप्राणित इस वर्ग ने अपने चारों ओर का जीवन परखा और उसके सड़े-गले अंग को दूर करने का सफल प्रयत्न किया। उनका दृष्टिकोण अपने चारों ओर के जीवन पर आधारित था

क्योंकि उपन्यास का सम्बन्ध वास्तविक जीवन से ही अधिक है अतः मध्यम वर्ग की नवीन चेतना उपन्यासों के माध्यम से ही व्यक्त हुई। उपन्यास मध्यम वर्ग का महाकाव्य बना और उसके द्वारा मध्यम वर्ग का विद्रोही स्वरूप प्रस्फुटित हुआ।

यद्यपि प्रारंभ में उपन्यास साहित्य का एक लम्बे काल तक जमकर विरोध होता रहा, लेकिन समय के परिवर्तन के साथ ही इस आधुनिक साहित्यिक विधा ने आज के साहित्य में अपना गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया है। सम्भवतः इसके पीछे कारण यही है कि यह मानव जीवन के सबसे अधिक निकट है। प्राचीन काल में मानव समाज के लिए जो महत्त्व कविता का था, एमिजावेथ और विक्रमादित्य के समय में महत्त्व नाटक का था, उससे भी कहीं अधिक महत्त्व आज के युग में उपन्यास का हो गया है। विश्व साहित्य में अब तक साहित्यिक नोबुल पुरस्कार सबसे अधिक उपन्यासकारों को ही प्राप्त हुए हैं।[१] इसके अतिरिक्त संसार में जो महत्वपूर्ण तथा बड़ी क्रान्तियाँ हुई हैं उनमें भी उपन्यास ही सर्वाधिक प्रेरणा-स्रोत रहे हैं। चाहे वह १७७८ ई० की फ्रांस की क्रांति हो या सन् १९०५ की रूसी क्रांति का उदय रूसो, वाल्टेयर, गोर्की आदि उपन्यासकारों की रचनाएँ ही थीं। इस सम्बन्ध में भगवतशरण उपाध्याय लिखते हैं—"ईश्वरवादिता। ईसाई आचार श्रृंखला, परम्परा की शक्ति प्राकृतिक कानून आदि की आधारशिला हिल गई, जब वाल्टेयर ने अपने लेखों और 'एमिल' (१७६१) द्वारा सबल आघात किया। दोनों ने अपनी कृतियों में अपने नये विचारों की शिला रखी।[२] इसी प्रकार रूसी क्रान्ति में भी गोर्की की रचनाओं ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई, जिसके लिए उसे क्रान्ति का पुरोहित तक कहा गया।

उपन्यास-साहित्य के इसी व्यापक महत्व को देखकर आचार्य शुक्ल ने कहा कि "उपन्यास वर्तमान काल की सबसे बड़ी साहित्यिक देन हैं। वर्तमान जगत में उपन्यासों की बड़ी शक्ति है। समाज जो रूप पकड़ रहा है, उसके निम्न वर्गों में जो प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हो रही हैं, उपन्यास उनमें विस्तृत प्रत्यक्षीकरण की प्रवृत्ति भी उत्पन्न कर सकते हैं।'[३] वस्तुतः वैज्ञानिक विकासक्रम के अधिकाधिक प्रचार एवं प्रसार का परिणाम यह हुआ कि गीति काव्य और नाटक, साहित्य की ये दो विधाएं अपना महत्व खोने लगी। ऐसे समय में उपन्यास ही एकमात्र ऐसा साहित्य रूप सिद्ध हुआ जो विज्ञान से दूर माने में होड़ ले सकता था। जिन नवीन मान्यताओं को विज्ञान जन्म दे रहा था, उन सबको आत्मसात करने की सामर्थ्य उपन्यास ने प्रदर्शित की। इस प्रकार वैज्ञानिक प्रभाव से चेतना के जो-जो स्वरूप निर्मित हुए, उन सबकी अभिव्यक्ति केवल उपन्यास साहित्य द्वारा ही संभव हो

सकी। इसके अतिरिक्त आगस्त काम्ते द्वारा समाजशास्त्र के आविष्कार के बाद तो उपन्यास साहित्य सामाजिक ज्ञान और वैज्ञानिक चेतना दोनों का पूर्ण उपभोग करते हुए पूर्व प्रतिष्ठित सभी साहित्यिक विधाओं पर हावी हो गया।

सारांश यह कि उपन्यास-साहित्य और जीवन आज इतने पास-पास इकट्ठे हो गये हैं कि दोनों में आपसी दूरी एकदम समाप्त हो गई है। वस्तुतः उपन्यास और जीवन में पार्थक्य कर पाना मुश्किल है, क्योंकि उपन्यास जीवन का पुनर्सृजन ही होता है। इस दृष्टि से उपन्यासकार की भूमिका ईश्वरीय सत्ता के समकक्ष पहुँची हुई लगती है जो सम्पूर्ण सृष्टि का सृजन करता है। उपन्यास उसी ईश्वरीय सृजन का पुनः सृजन है। जो प्रत्यक्ष है, वह जीवन है और जो अप्रत्यक्ष है, वह जीवन का अभिन्न अंग है। सत्य की स्थिति दोनों में है। क्योंकि सत्य का महत्व सापेक्षिक होता है। उपन्यास केवल जीवन के प्रत्यक्ष को लेकर ही नहीं लिखा जाता, जो अप्रत्यक्ष तथा न दीखने वाला सत्य है, उसे लेकर भी लिखा जाता है। तात्पर्य यह कि उपन्यास मानव जीवन की समग्रता तथा उसके परिवेश की संपूर्णता को भाषाबद्ध करके प्रकाशित करने का प्रयास करता है। यहाँ हम कह सकते हैं कि उपन्यासकार की यह भूमिका महाकाव्यकार की भूमिका से कम महत्वपूर्ण नहीं है। संभवतः इसीलिए आज उपन्यास तथा महाकाव्य में बहुत अधिक समता दिखाई पड़ने लगी है कि दोनों ही अपने समय की जिन्दगी को इतिहास का साहित्यिक संस्करण कहे जा सकते हैं।

उपन्यास केवल गद्य में लिखी गई कथा नहीं है बल्कि वह मानव जीवन का गद्य है। उपन्यास कला का वह प्रथम प्रयत्न है, जो मानव को समग्रता में ग्रहण करने तथा अभिव्यक्त करने की चेष्टा करता है। उपन्यास वह विधा है जो यथार्थ जीवन का यथार्थवादी दृष्टि से अध्ययन करे, जिस काल में लिखा जाय उस काल के जीवन को रूपायित करें और तत्कालीन जीवन-मूल्यों का निर्माण तथा उनका महत्व प्रतिपादित करें। जीवन से मतलब उन तमाम परिस्थितियों से है, जो परिवेश का निर्माण करती है। सामाजिक आवश्यकताओं के दबाव से मूल प्रकृति का नियमन होता है, जिससे चरित्रों का निर्माण भी होता है। उपन्यास साहित्य समाज-व्यवस्था एवं प्रकृति के सामंजस्य एवं असामंजस्य का उद्घाटन करता है, वह केवल मूल आवेगों के उपभोग तक ही अपने को सीमित नहीं रखता। इसीलिए यह मानव जीवन का समग्र रूप चित्रित करने वाला आधुनिक युग का सबसे सशक्त साहित्यिक माध्यम है। मानव जीवन की झांकी तथा उसके चरित्र की विभिन्न परिस्थितियों में प्रतिक्रियात्मक संभावनाओं का जितना सफल उद्घाटन इस विधा में संभव है, उतना किसी अन्य साहित्य-विधा में सम्भव नहीं। आधुनिक युग में उपन्यास साहित्य की लोकप्रियता और सर्वाधिक महत्व का मुख्य कारण यही है।

वस्तुतः साहित्य तथा कला के काल्पनिक तथा अलौकिक जगत से उद्धार के दिनों में ही उपन्यास का जन्म हुआ। इसीलिए उपन्यासों में अपने जन्मकाल से ही अलौकिकता तथा अविश्वसनीय के प्रति विद्रोह का संकेत देखने को मिलता है। १९वीं शताब्दी में सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक एवं कला तथा साहित्य के क्षेत्र में जो मूलभूत परिवर्तन उपस्थित हुए, उसमें यह बात भी शामिल थी कि *कला तथा साहित्य का विषय मानव तथा उसका वास्तविक जीवन है।* और यहीं से उपन्यासों की शुरुआत होती है, अतः उपन्यासों मे प्रारम्भ से ही जीवन की यथार्थता का आग्रह लक्षित किया जा सकता है। यह आग्रह जैसे-जैसे बढ़ता गया वैसे-वैसे ही उपन्यासों से सस्ते मनोरंजन के तत्व नष्ट होते गये और वह गम्भीर वैचारिक महत्व प्राप्त करता गया। कहने की आवश्यकता नहीं की आज वह विशुद्ध विचारों का विषय बन गया है क्योंकि आज उसका विषय मानव जीवन की यथार्थ समस्याएं तथा उसका स्वयं का जटिल एवं दुरूह जीवन हो गया है। पाश्चात्य विचारकर्मी इस मत से सहमत हैं कि उपन्यासकार जीवन का सृजन करता है—क्रिएट लाइफ तात्पर्य यह कि उपन्यास में जीवन को कलात्मक स्तर पर फिर से जिया जाता है। फिर से जीने की यह प्रतिभा या क्षमता ही उपन्यासकार को साधारण मनुष्यों से अलग करती है, क्योंकि जीवन को अनुभव के स्तर पर फिर से जीना सभी के लिए सम्भव नहीं होता। कुछ विरले प्रतिभाशाली ही इसमें सक्षम हो पाते हैं।

उपन्यास और नैतिकता—आज के उपन्यासों की मुख्य भूमिका है समाज में प्रचलित नैतिक मान्यताओं का विरोध करके नये नैतिक मूल्यों को स्थापित करना। *प्रायः प्रत्येक नये युग का प्रतिभाशाली कलाकार जो उस युग विशेष के* यथार्थ का प्रवक्ता होता है, रूढ़ तथा पुरानी मर्यादाओं के खिलाफ विद्रोह करने में ही अपनी सम्पूर्ण सार्थकता समझता है। उपन्यास साहित्य में तो इसकी अभिव्यक्ति सबसे अधिक देखी जा सकती है।

आधुनिक उपन्यासकार उचित-अनुचित के निर्णय में परम्परित मानों से काम न लेकर नये प्रतिमानों की स्थापना करके उचित-अनुचित की नई व्यवस्था करता है। इस कार्य में वह मानव और प्रकृति-प्रेम की दृढता तथा विश्वास से प्रेरित होता है। वह यथार्थ के प्रत्येक पहलू को सम्पूर्णता में देखने का प्रयास करता है। वह मानता है कि कोई भी प्राकृतिक नियम मानव जीवन के विरोध में अथवा उसके अहित में नहीं हैं। नीति के व्यापक अर्थ में हमारे जीवन को आगे बढ़ाने वाली जितनी चीजें हैं, वे सब उसके अन्तर्गत हैं। मालिक-नौकर, अधिकारी-अधिकृत, अवर्ण-सवर्ण, साहूकार-कर्जदार, पूँजीपति-मजदूर, पिता-पुत्र, पति-पत्नि तथा सास-बहू आदि के जितने सम्बन्ध हैं, वे सब नीति के ही अन्तर्गत आते

हैं, और प्रेमचन्द, कौशिक और सुदर्शन आदि के उपन्यासों में इस मानवता-सम्बन्धी नीति का अच्छा उद्‌घाटन हुआ है। इसके अतिरिक्त नीति का एक संकुचित अर्थ भी है, जिसके अनुसार लोकमत में नीति का तात्पर्य केवल यौन नीति से ही होता है। किसी वस्तु को नैतिक या अनैतिक कहने का आधार या तो शास्त्र होता है अथवा अंतःकरण या लोकमत। आजकल शास्त्र की बात भी लोकमत में ही अभिव्यक्त होती है। अंतःकरण का सम्बन्ध अधिकांशतः लोकमत से होता है। लोकमत से यदि कोई वस्तु ऊपर आती है तो वह है—बौद्धिक विवेचना। इसके अतिरिक्त नीति अथवा नैतिकता में सौन्दर्य चेतना का भी समावेश होता है। अज्ञेय जी ने इसीलिए नीति को सौन्दर्य आदि से जोड़कर उसकी व्याख्या करनी चाही। वे लिखते हैं—"नैतिक मूल्य, यानी शिवत्व के मूल्य और सौन्दर्य के मूल्य हैं तो अलग-अलग और अलग-अलग विचार मांगते हैं। विशुद्ध तर्क के क्षेत्र में मानना होगा कि ऐसा हो सकता है कि कोई कलाकृति सुन्दर हो और अशिव ही या कम से कम शिव न हो। यह मानकर भी मैं पहली बात कैसे मान सका, उसका कारण यही है कि उच्च-कोटि का नैतिक बोध और उच्च कोटि का सौन्दर्य बोध कम से कम कृतिकार में प्रायः साथ चलते हैं क्यों इसीलिए कि दोनों बोध मूलतः बुद्धि के व्यापार हैं मानव का विवेक ही दोनों के मूल्यों का स्रोत है, और दोनों के प्रतिमानों या मानदण्डों का आधार। विवेकशील मानव की विशेषकर उस विवेकशील मानव की जिसमें सृजनात्मक शक्ति या प्रातिभा भी है, गाहकता यानी जो हो पहचानती है।"*

तात्पर्य यह कि उपन्यास और नीति का सम्बन्ध केवल घनिष्ट ही नहीं, बल्कि जटिल भी है। आज परम्परागत नैतिक मान्यताओं का विघटन हो गया है। पुरानी मान्यताएं रूढ़ तथा जर्जर घोषित हो चुकी हैं। यद्यपि अभी नैतिक मर्यादा सम्बन्धी कोई नई नैतिकता की प्रतिष्ठा में उपन्यासों को पर्याप्त सफलता नहीं मिली है, फिर भी इतना तो मानना ही पड़ेगा कि आज का प्रत्येक प्रतिभाशील उपन्यास-कार उनकी प्रतिष्ठा के लिए जूझ रहा है, और उनकी उपयुक्तता सामयिक सन्दर्भों में प्रमाणित करने का संकल्प व्यक्त करता है। आज के उपन्यासकार की मुख्य समस्या यह है कि वह अच्छाई तथा बुराई के बुनियादी भेद को स्पष्ट करे तथा नये मानदण्डों का निर्धारण करे।

नैतिकता के सन्दर्भ में ऐसा कोई भी अकाट्य नियम नहीं हो सकता, जिसके पालन से कुछ मनुष्यों को अनिवार्यतः कष्ट भोगना पड़े। अन्ततः जो वस्तु कुछ लोगों के लिए ही सही, कष्ट का कारण है, वह आदर्श नैतिक धर्म नहीं बन सकती। जो मानव मात्र के व्यक्तित्व के संवर्धन और विकास में सहायक हो सकने की क्षमता रखता हो वही धर्म का आदर्श माना जायेगा। ज्यों-ज्यों सभ्यता के उपकरणों में वृद्धि होती

जाती है, त्यों-त्यों आदमी का परिवेश तथा उसकी प्रतिक्रिया जटिल होती जाती है। उपन्यासकार का एक प्रमुख दायित्व इस जटिलता की ओर संकेत करना तथा उसकी चेतना जगाना है। इसके अतिरिक्त उपन्यासकार इस चेतना के प्रकाश में मनुष्य के सुख-दुख की बदली हुई सम्भावनाओं का निर्देशन करता है। ये सम्भावनाएँ अनिवार्यतः स्वीकृति नैतिक नियमों, यथार्थ मानवी सम्बन्धों के नियामक नियमों में परिवर्तन की घोषणा करती हैं। यंत्र युग में लगातार बदलते हुए भौतिक परिवेश में मनुष्यों के पारस्परिक सम्बन्ध वही नहीं रह सकते जो आध्यात्मिक युग में रहे हों, इसीलिए पारस्परिक सम्बन्धों के बदलते ही उनके नियामक नियमों में भी परिवर्तन अपेक्षित हैं। वर्ग चेतना के इस युग मे आज का समझदार नेता, यदि मजदूरों को खुलकर राजद्रोह की शिक्षा देता है तो हम उसे अनैतिक नहीं कह सकते और न उस सरकार को ही अनैतिक कह सकते हैं, जो युद्धकाल में शांतिवादी नागरिकों को देशद्रोही घोषित करती है।

कला या साहित्य का मुख्य कार्य मानव के सुख-दुख में संवेदना प्रकट करना तथा ऐसी दशा में उनमें संजीवनी शक्ति का संचार करना है। नई सांस्कृतिक तथा भौतिक परिस्थिति में मानव के कष्ट क्या हैं और उनके कारण क्या हैं यह दिखाना कलाकार का ही काम है। अतः कलाकार को यह अधिकार प्राप्त होता है कि वह ऐसे किन्हीं भी नियमों अथवा पद्धतियों का खुलकर विरोध करे जिनसे मानव के कष्टों को सहयोग तथा बल प्राप्त होता है। इस प्रकार उपन्यासकार को भी अनिवार्यतः इन दायित्वों से मुँह नहीं मोड़ना चाहिए।

उपन्यास और यथार्थ—उपन्यासकार मानव जीवन के यथार्थ रूप को ही अपना विषय बनाता है। वास्तव में वह अपनी तीक्ष्ण प्रज्ञा शक्ति द्वारा जीवन के यथार्थ अर्थ-संदर्भों को ही उपन्यास के विषय के रूप में चुनता है। कल्पित और उसमें भी एक मात्र वायवी घटनाएँ किसी भी सुसभ्य तथा सुसंस्कृत समाज के पाठकों को आकर्षित नहीं कर सकती। सामाजिक विकास के साथ ही लोगों की यथार्थ दृष्टि भी अधिक प्राणवान होती जाती है और यथार्थ के प्रति उनका पक्षपातपूर्ण आग्रह बढ़ता जाता है।

उपन्यासकार की सफलता इसी बात पर निर्भर करती है कि वह अपने युग तथा जीवन के कितने बड़े तथा व्यापक क्षेत्र के यथार्थ को ग्रहण करता है। समाजशास्त्रीय समीक्षा का सर्वाधिक प्रमुख आधार यही है कि रचना को उसके व्यापक युगीन सन्दर्भों में विश्लेषित करके देखा जाना चाहिए कि उसमें उस काल के कितने बड़े तथा व्यापक यथार्थ को चित्रित करने का प्रयत्न मौजूद है। इस दृष्टि से अपने अन्य उपन्यासों की तुलना में 'वार एण्ड पीस' के लेखक के रूप में 'टाल्सटाय' तथा

'गोदान' के लेखक के रूप में 'प्रेमचन्द' ज्यादा बड़े तथा गौरवशाली लेखक हैं। यह भी स्वीकार किया जा सकता है कि उपन्यास में लेखक कल्पना की सहायता भी लेता है एवं किसी सीमा तक भावात्मकता को भी ग्रहण करता है। किन्तु, इनकी अभिव्यक्ति किन्ही सीमाओं के भीतर ही होना चाहिए। उनका अनुपात इतना ही अपेक्षित है, जितने से मूल कथा की स्वाभाविकता नष्ट न होने पाये और यथार्थ के उभार में कोई कमी न रहने पाये।

सारांश यह कि सामान्यतः साहित्य में और विशेषतः उपन्यास में क्रमशः यथार्थ का आग्रह और उसके विश्लेषण की परिधि निरन्तर बढ़ती गई है। मनुष्य की जीवन दृष्टि से जैसे-जैसे अलौकिक तत्वों का बहिष्कार होता गया है, वैसे-वैसे उसकी यथार्थ विषयक जिज्ञासा में वृद्धि होती गई है। वस्तुतः पिछली शताब्दियों में विभिन्न देश अथवा जातियाँ, जिस अनुपात में उनके साहित्य में जीवनगत यथार्थ का चित्रण बढ़ता गया है, उसी अनुपात में क्रमशः यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनायी गयी है। आज किसी भी देश के कथा-साहित्य को देखकर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उस देश में वैज्ञानिक यथार्थमूलक दृष्टिकोण किस सीमा तक विकसित हुआ है। इसके विपरीत जिस देश तथा समाज मे रूढ़िग्रस्तता तथा अवैज्ञानिक दृष्टिकोण जब तक मौजूद है तब तक उस समाज तथा देश के लेखक यथार्थ जीवन को अभिव्यक्ति देने से कतराते रहेंगे। क्योंकि उनकी यथार्थमूलक रचनाएँ उस समाजतथा देश द्वारा स्वीकृत ही नही की जा सकेंगी जिसका वैज्ञानिक दृष्टिकोण तथा यथार्थबोध पर्याप्त विकसित नही हो पाया। आज हम प्रेमचन्द की आदर्शवादिता को लेकर उन्हें बुरा-भला कहते हैं, लेकिन हम यह भूल जाते हैं कि उस समय का भारतीय समाज उससे अधिक यथार्थ को, जितना प्रेमचन्द ने व्यक्त किया है, निगल भी नहीं सकता था। आज भी हमारे देश में यदि पास्तारनाक तथा चमसमैन जैसे कलाकार पैदा नही हो रहे हैं, तो इसका प्रमुख कारण यही है कि हम आज भी यथार्थ के उतने गहरे सम्पर्क में नहीं आ पाये हैं। हमारे दृष्टिकोण में आज भी स्वप्नदर्शिता, जिसे अकर्मण्य लोग आदर्शवादिता कहते हैं, अधिक है। वैज्ञानिकता कम है। हमारे यहाँ ऐसे विभिन्न विचारकों की भी बहुतायत नहीं है जो विभिन्न क्षेत्रों से कलाकार के यथार्थ दृष्टिकोण को प्रोत्साहन बल तथा समृद्धि प्रदान करें। अतः हमारे यहाँ का कलाकार अभी इस दृष्टि से काफी पीछे है। सम्भवतः यही कारण है कि विश्व साहित्य की प्रगति दौड़ में हम सभी अपने को पर्याप्त समर्थ नहीं पाते।

उपन्यास और युगीन समस्याएं—उपन्यास आज के युग में सबसे अधिक सशक्त साहित्यिक विधा समझा जाता है। इसीलिए वह आज युगीन सत्य का वाहक भी समझा जाने लगा है। आज की जटिल जिन्दगी में सम-विषम समस्याओं

का जो सामाजिक दबाव मनुष्य पर पड़ रहा है, उन सबको अगर कोई साहित्यिक विधा अभिव्यक्ति दे सकती है तो वह उपन्यास की विधा ही दे सकती है। यदि उपन्यासकार युगीन समस्याओं को अपने उपन्यासों में उठाता है तो साहित्यिक दृष्टि से उपन्यास का महत्व प्रायः कम हो जाता है लेकिन कहने की आवश्यकता नहीं कि यह मानना केवल एक साहित्यिक भ्रम का प्रचार करना है। यह भ्रम असाहित्यिक प्रेरणा का परिणाम होता है। साहित्य में कलावाद तथा सौन्दर्यवाद और मूल्यवाद तथा सिद्धान्तवाद नया नहीं है, हां, इतना जरूर है कि कभी पहले यह द्वन्द युद्ध वैचारिक स्तर पर आत्मानुभूत सत्य का सहारा लेकर खड़ा किया गया था। इसीलिए तब के जमाने में इस द्वन्द की अपनी सार्थकता थी। लेकिन आज यह द्वन्द युद्ध राजनीति-जगत से प्रेरित और उद्बोधित हो रहा है, इसलिए हम इस द्वन्द को साहित्यिक मानने को सहमत नहीं हैं। हमारे लिए तो सौन्दर्य और मूल्य दोनों साहित्यिक महत्व के लगते हैं और एक की भी अवहेलना करके श्रेष्ठ साहित्यिक कृति की रचना नहीं की जा सकती।

लेखक का अपनी युगीन समस्याओं के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। युगीन समस्याओं को जितने व्यापक आयामों में वह प्रस्तुत करता है उसकी व्यापकता और महानता उतनी ही अधिक समझी जाती है। हां, ध्यान रखने की बात यह जरूर है कि वह जो समस्या उठाये उसके सम्बन्ध में उसका चिन्तन गम्भीर और अनुभव यथार्थ तथा पूर्ण हो। इलाचन्द्र जोशी के अनुसार किसी भी श्रेष्ठ कलाकृति में युग की केवल उन्हीं समस्याओं को प्रधानता दी जाती है, जो सारे युग की समग्र मानवता की सामूहिक गति से सम्बन्ध रखती हो। जैसे युद्ध और स्थायी शान्ति जन-जीवन में पायी जाने वाली व्यापक आर्थिक विषमता बनाम स्थायी सामूहिक समता आदि-आदि..........।[४]

उपन्यास का क्षेत्र तथा दायित्व

उपन्यास का क्षेत्र तथा उसका दायित्व आज के युग में बहुत अधिक बढ़ गया है। चूंकि मानव-चरित्रों का विश्लेषण तथा विवेचना उसका केन्द्रीय विषय है, इसीलिए उपन्यास, मानव, चरित्र अपने जिन भौतिक तथा आध्यात्मिक काल्पनिक एवं यथार्थ सामाजिक और राजनीतिक तथा सांस्कृतिक परिवेशों से घिरा है। उन सबका उचित विश्लेषण और अपनी इयत्ता में उन सबको आत्मसात् करके उनको सानुपातिक अभिव्यक्ति प्रदान करता है। तात्पर्य यह कि उपन्यास मानव व्यक्तित्व को उसकी सम्पूर्णता में चित्रित करता है। यहाँ सम्पूर्णता में चित्रण करने की बात के सम्बन्ध में कोई भ्रम नहीं पालना चाहिए। वस्तुतः कोई भी एक उपन्यास सम्पूर्ण जीवन का चित्रण नहीं कर सकता, वह जीवन के कुछ विशिष्ट तथा चुने हुए अंशों को ही ले सकता है, लेकिन ये चुने हुए अंश, खण्डित जीवन का चित्र

अध्याय तीन

आलोच्य युग में हिन्दी उपन्यास का विकास

प्रेमचन्द युग मे जिस आकस्मिकता की प्रधानता घटनाओं पर आधारित थी, उसे यद्यपि जैनेन्द्र जी ने भी जीवित रखा था, किन्तु उसका आधार परिस्थितियाँ न होकर चारित्रिक गूढ़ता थी। मानव-मन अनेक विचित्रताओं का पिटारा है। उसमें एक ही काल में अनेक विरोधी और कल्पनातीत भावभूमियाँ उपस्थित रह सकती हैं। इसका एक सहज और स्वाभाविक फल यह हुआ है कि उपन्यासों में अपरिमित रोचकता उत्पन्न हो गई है। इसका एक अन्य परिणाम भी निकला है कि उनके पात्रों के चारों ओर एक रहस्यमय आवरण उपस्थित हो जाता है।

यदि उनके कथानकों के औचित्य पर विचार किया जाय तो कहना पड़ता है कि वे समाज के प्रतिनिधि पात्रों की गाथाएं न होकर असाधारण चरित्रों की आत्मकथाएं हैं, जिनके कुछ अंश तो गोपनीय रहे होंगे। मानव-मन और चरित्र बहुत ही जटिल और गहन है। अतः उन्हें अनौचित्य के लाल सिग्नल के नीचे रख देना युक्ति-संगत नहीं है। अज्ञेय के समान जैनेन्द्र भी जीवन-चरित्र प्रणाली को स्वीकार करके उपन्यास लिखते हैं। अज्ञेय का क्षेत्र विशाल है, और जैनेन्द्र का लघु किन्तु इस लघुता में भी व्याप्ति है सहज प्रस्फुटन है।

इस काल में मनोवैज्ञानिक उपन्यास कला का और भी विकास हुआ और इलाचन्द्र जोशी के 'संन्यासी', 'निर्वासित', 'जिप्सी', 'मुक्तपंथ' और 'जहाज का पछी' आदि उल्लेखनीय उपन्यास हैं। वे कला का उद्देश्य मानव-मन के अवचेतन का विश्लेषण मानते हैं। वे भी अपनी कथावस्तु को यथार्थवादी मानते हैं और उनका तर्क है कि यह मन का यथार्थ है। अतः इसे अयथार्थ कैसे कहा जा सकता है। फ्रायड, एडलर और युंग जैसे मनोविज्ञानशास्त्रियों की मान्यताओं का साहित्य पर भी प्रभाव पड़ा है और उपन्यास ने उसे उसके सर्वाधिक व्यापक रूप में स्वीकार किया है। इन

विशेषताएँ होती हैं कि पात्र सामाजिक तत्वों के प्रतिनिधि होते हुए भी व्यक्तिगत विशेषताओं से विहीन न हों। यदि व्यक्तिगत गुणों का पूरा-पूरा विकास न दिखाया जा सकेगा तो उसके अभाव में उपन्यास के पात्र सजीव न होकर केवल यंत्र चलित कठपुतली मात्र रह जाते हैं। मार्क्सवादी उपन्यासों में जहाँ रागात्मकता की कमी हो जाती है वहाँ उनमें उपदेशपन आ जाता है। कला की कसौटी उसकी संवेदनशीलता है। इलिया एहरनवर्ग ने स्वीकार किया है कि सोवियत साहित्य की अधिकांश रचनाएँ इस कसौटी पर खरी नहीं उतरती। वे पाठकों को उस भावभूमि पर ले जाने में असमर्थ रही हैं जहाँ गोस्वामी तुलसीदास और महात्मा सूरदास की रचनाएँ एवं मीरा के पद ले जाते हैं। भवभूति जिस करुणा को उभार सके उसे कोई भी मार्क्सवादी उपन्यासकार आज तक उभारने में असमर्थ रहा है। टालसटाय की कला और मार्क्सवादी कलाकार की विचारणा जब भी कभी एकत्र होगी तभी मार्क्सवादी उपन्यास का मार्गदर्शी उपन्यास लिखा जायगा। गोर्की और मार्क्स आदि सभी ने स्वीकार किया है कि कला जितनी परोक्ष होगी उसमें निहित सत्य जितना छिपाकर प्रस्तुत किया जायगा वह उतनी ही उच्चकोटि की होगी और उसका लोगों पर उतना ही गहरा और व्यापक प्रभाव पड़ेगा।

नागार्जुन के 'बलचनमा' उपन्यास को हम कथावस्तु की सफलता की दृष्टि से मार्क्सवादी उपन्यासों के लिए आदर्श कह सकते हैं। उसमें 'बलचनमा' के बचपन से लेकर जीवन के मध्याह्न तक की घटनाओं का चित्रण है। इसकी कथा नायक के मुख से ही आत्मचरित्र प्रणाली में कहलाई गई है। 'बलचनमा' देहात के भूमिजीवी श्रमिक का लड़का है। लड़कपन से ही वह जमींदार के घर भैंसे चराने के लिए नियुक्त हो जाता है। फिर उनके रिश्तेदार फूलबाबू के साथ पटना जाता है वहाँ की जिन्दगी देखता है। सत्याग्रह-आन्दोलन में फूलबाबू जेल चले जाते हैं। लौटकर आने पर वे एकदम गांधीवादी हो जाते हैं। उनके साथ कुछ समय बिताकर वह फिर घर लौट आता है। उसके जमींदार मालिक उसकी सयानी बहन रेवती के साथ छेड़खानी करते हैं। वह दांत से काट लेती है। बड़ा हल्ला मचता है। बलचनमा पर थाने में चोरी की रिपोर्ट होती है। वह भागकर फूलबाबू के यहाँ जाता है। कांग्रेसी सत्याग्रहियों का एक आश्रम है। वहाँ फूलबाबू से भेंट होती है जो इस आश्रम के संचालक हैं। वह उनकी सेवा में नियुक्त हो जाता है। वहाँ रहकर उसे इन सत्याग्रहियों के जीवन का समीप से परिचय मिलता है। राधेश्वर से अलग होकर घर पर गौना कराने आता है। विवाह के बाद बहू आती और गृहस्थी मजे से चल निकलती है। इसी बीच खेतों पर संघर्ष होता है। जमींदार किसानों को भूमि से वंचित करने के लिए सारी ताकत लगा देते हैं। संघर्ष को बलचनमा संगठित करता है। एक रात सोते समय जमींदार के आदमी अचानक उस पर हमला करते हैं,

और मरणान्तक चोट से उसे जख्मी कर जाते हैं, और यहीं उपन्यास समाप्त हो जाता है। उपन्यासकार ने आन्दोलन का नेतृत्व सोशलिस्ट पार्टी के हाथों में सौंपा है जो उनके व्यापक और परम्परायुक्त दृष्टिकोण का सूचक है। इस उपन्यास में नागार्जुन ने मिथिला के ग्रामीण जीवन का सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया है। यह कथाकार प्रेमचन्द की परम्परा की अगली कड़ी है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि नागार्जुन का स्थान प्रेमचन्द से भी ऊँचा है। बस वे प्रेमचन्द के पश्चात् ग्रामीण किसान की समस्याओं को चित्रित करने का प्रयास करने रहे हैं, और इस चित्रण में उनकी दृष्टि तीव्र व्यंगकार की न होकर एक ग्रामीण जीवन के निकट सम्बन्धी और ममताशील सुहृद की है। प्रेमचन्द की दृष्टि अधिक व्यापक और यथार्थवादी थी। समाजवादी यथार्थ का तात्पर्य यह नहीं है कि स्थितियों का एकांगी और अधूरा चित्र प्रस्तुत किया जाय। सामन्तवाद को समाप्त करने वाला पूँजीवाद भी प्रगतिशील होता है, किन्तु जब वह अपनी चरमावस्था पर पहुँच जाता है तभी वह प्रतिक्रियावादी होता है।

नागार्जुन ने 'रतिनाथ की चाची' में अप्राकृतिक व्यभिचार और फूहड़ शब्दों का प्रयोग यथार्थवाद की झोंक में किया है। इससे वह प्रकृतवादियों की सीमा में पहुँचते दिखाई देते हैं। 'नई पौध' और 'बाबा बटेश्वरनाथ' में विषय और समस्याएँ तो पुरानी ही उठाई गई है, किन्तु वातावरण सर्वथा नवीन और मौलिक है जिससे समस्याओं के वैविध्य और गहनता का पता चलता है।

नागार्जुन के कथानक यशपाल की अपेक्षा अधिक सुगठित है। यशपाल के 'दादा कामरेड' और 'देशद्रोही' दो प्रसिद्ध उपन्यास हैं जिनमें क्रान्तिकारी पार्टी से सम्बन्धित पात्रों की कथाएँ चलती हैं। 'देशद्रोह' और 'दादा कामरेड' में यशपाल खुलकर मार्क्सवादी दृष्टिकोण को प्रस्तुत करते हैं, किन्तु साथ ही साथ रोमांस का भी इतना व्यापक और तीव्र रोल दिखता है कि कहीं-कहीं तो यह निर्णय करना कठिन होता है कि उपन्यास रोमांसवादी है या मार्क्सवादी। चरित्रों की कुछ क्रियाएँ और बलिदान तक इसी घपले में अनिर्णीत रह जाते हैं। कोई भी मार्क्सवादी सिद्धान्तों का विश्वासी पात्र बिना प्रेम के नहीं दिखाया गया है। हम मान सकते हैं कि जीवन में प्रेम और कामा का भी खास स्थान है और मार्क्सवादी कोई ऐसा जन्तु नहीं होता जिसे प्रेम से वंचित रखने का आदेश मिल चुका है, किन्तु यशपाल के उपन्यासों के पात्र और कथा साम्यवाद और रोमेंटिक यथार्थ के ताने-बाने से बुने गये हैं।

मार्क्सवादी दृष्टिकोण वाले डा० रांगेय राघव के कई उपन्यास भी अच्छे बन पड़े हैं। 'विषाद मठ' में बंगाल के अकाल का हृदयविदारक और वीभत्स चित्रण है। शैली-शिल्प की दृष्टि से रांगेय राघव ने भी कई प्रयोग किये हैं। 'हुजूर'

एक उदाहरण है। यह उपन्यास कमरे के छोटे-छोटे स्केचों का संग्रह-सा है, किन्तु प्रत्येक चित्र अत्यन्त भावमय और प्रभावोत्पादक है। वर्ग-संघर्ष की तीव्रता और बदलते हुए सामाजिक प्रश्न उभर कर सामने आये हैं। नारी की परवशता और शिष्टता के आवरण में शोषितों की दयनीयता इस उपन्यास की सबलता है। समाज के विगलित अंगों की यथार्थ स्थिति चित्रित की गई है और बदलते हुए आर्थिक सम्बन्धों के परिणामस्वरूप समाज के विभिन्न वर्गों की दशा किस प्रकार बदल जाती है, यह भी परोक्ष रूप से उपन्यास में दिखाया गया है। उपन्यास में शासक शोषक, जमींदार, पूँजीपति, नेता आदि के चरित्रों की ह्रासशीलता और विलासिता का सुन्दर चित्रण है। किन्तु समय के साथ-साथ समाज के कौन से प्रगतिशील तत्व उसे आगे बढ़ाने में समर्थ होते रहे हैं, इसका चित्र भी दिया जाना चाहिए था, जो नहीं दिया गया है। अंग्रेज अफसर के घर उसकी पुत्री की कामुकता और मतलब निकल जाने पर धोबी के लड़के की निर्मम हत्या, सेठ हरिदास के घर में खुला व्यभिचार, मटरूमल और उनके पुत्र का खुला नग्न अनाचार, मसूरी में सौन्दर्य और नारीत्व का खुला क्रय-विक्रय, मटरूल की जमींदारी में कारिन्दे और मैनेजर की ऐयाशी आदि दृश्य बड़े हृदय विदारक और समाज के ऊपर तीव्र व्यंग्य है। समाज यह सब देखता, समझता और सहता चला जा रहा है। यही दुःख है।

आलोच्य काल में कुछ नीतिपरक उपन्यास भी लिखे गये हैं। उपन्यास और नीति का प्रश्न कला और आचार के प्रश्न का ही एक अंग है, किन्तु जब से उपन्यास वर्तमान युग के सभी ऊहापोहों और संघर्षों का चित्र प्रस्तुत करने लगा है तब से उसकी नीतिपरकता अधिक महत्वपूर्ण हो गई है। यद्यपि उपन्यास का जन्म मनोरंजन हेतु हुआ था और यह तत्व अब भी उससे जुड़ा हुआ है, किन्तु आज वह केवल मनोरंजन और कौतूहल वृत्ति को शान्त करने वाला नहीं रह गया है। युग और समाज के गम्भीरतम प्रश्नों की अभिव्यक्ति आज के उपन्यास का विषय बन गई है।

हिन्दी उपन्यास गांधीवाद, सर्वोदय, मार्क्सवाद, फ्रायडवाद आदि अनेक जीवन दर्शनों को सभी नैतिक मानते हैं, किन्तु मार्क्सवादी दर्शन भी अनैतिक नहीं कहा जा सकता। जो दर्शन समाज से शोषण, अन्याय, वर्गवाद और असमानता को मिटाकर वर्ग-विहीन समाज की स्थापना करना चाहता है उसे अनैतिक कैसे कहा जा सकता है। उसके साधनों में हिंसा को भी प्रश्रय मिला है। भारतीय संस्कृति के अनुसार धर्म के लिये युद्ध को अहिंसात्मक माना गया है न कि हिंसात्मक। गीता और रामायण की संस्कृतियाँ इसकी सबसे बड़ी गवाह हैं। मार्क्सवादियों का उद्देश्य भी पूर्ण शान्ति और अहिंसा है। हमारे सारे सामाजिक और कौटुम्बिक-सम्बन्ध नीति के अन्तर्गत आते हैं। उनका विश्लेषण नीति के आधार पर किया जा सकता है, किन्तु नीति का एक संकुचित अर्थ भी ग्रहीत होता है और साधारण भारतीय लोगों में

उसका सही अर्थ प्रचलित है और यह अर्थ है यौन-सम्बन्धी। लोक में नीति का अभिप्राय यौन नीति है।

इस प्रश्न की अभिव्यक्ति भगवतीचरण वर्मा के 'चित्रलेखा' उपन्यास में हुई है। इस उपन्यास में लोक प्रतिष्ठित आचार सम्बन्धी विचारों की सापेक्षता दिखाकर उन्हें व्यर्थ सिद्ध किया गया है। सिद्धान्तों के व्यावहारिक पक्ष की व्यर्थता भी स्पष्ट की गई है। परिस्थितियाँ व्यक्ति के ऊपर हावी होकर उसे सिद्धान्तों से गिरा देती हैं।

भगवतीचरण वर्मा ने 'तीन वर्ष', 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' और 'आखिरी दाँव' तीन उपन्यास और लिखे हैं। वर्मा जी तीव्र व्यंग्यकार हैं। उनके उपन्यासों में समाज और राष्ट्र की चलती हुई समस्याओं का सुन्दर प्रस्तुतीकरण है। वर्मा जी ने यथार्थ और व्यंग्य को स्वीकार करके उपन्यासों के कथानक भी उसी दृष्टिकोण के अनुरूप अपनाये हैं।

राजेन्द्र यादव कृत 'प्रेत बोलते हैं' और 'उखड़े हुए लोग' के कथानकों में यद्यपि सोद्देश्यता और उद्देश्य की ओर तीव्रता तो होती है, किन्तु साथ ही कुछ आनुषंगिक कथाएँ भी आवश्यकतानुसार आ जाती हैं। कौतूहल वृत्ति को जाग्रत रखते हुए अन्त तक उसका निर्वाह किया जाता है। कहीं-कहीं विवरण और चित्रात्मक शैली अपनाई गई है, वहाँ दृष्टिकोण एकांगी है। कुछ मार्क्सवादी दृष्टिकोण को अपनाने वाले यथार्थवादी उपन्यासकार को तो सारे गतिरोध और संघर्ष स्पष्ट करके सामने लाने चाहिएं।

अमृतलाल नागर के 'बूँद और समुद्र' में रूढ़िग्रस्त समाज की दुर्बलताओं, अव्यवस्थित मान्यताओं, परम्पराओं द्वारा पालित विकारों एवं आग्रहों का जो विशाल सागर है उसमें आज के व्यथित मानव का अस्तित्व एक बूँद के समान है। उपेन्द्रनाथ अश्क ने 'गिरती दीवारें' नामक उपन्यास मे चेतन नामक युवक की कहानी लिखी है। यह भी आत्मचरितात्मक कहानी ही है। धर्मवीर भारती और प्रभाकर माचवे ने भी सामाजिक यथार्थ को चित्रित किया है। भारती ने 'गुनाहों का देवता' और 'सूरज का सातवां घोड़ा' नामक दो उपन्यास लिखे है। 'गुनाहों के देवता' में अव्यावहारिक आदर्शवाद की पोल खोली गई है तथा समाज के भावुक युवक और युवतियों की वर्गीय नैतिकता की असफलता का पूर्ण चित्रण किया गया है। यद्यपि यह कहानी दमित कामकुण्ठाओं का वर्णन करती है फिर भी समाज की मान्यताओं का पर्दाफास हो जाता है जो ध्वंसोन्मुखी है और जो आज नहीं तो कल अवश्य ही मिट जायेंगी।

'सूरज का सातवां घोड़ा' में कहानी कहने की एक प्राचीन परम्परा का आश्रय लेकर मात्र की सात दो पहरियों में सात कहानियाँ कही गई हैं जिन्हें यदि

अलग-अलग पढ़ा जाय तो कहानी का आनन्द उठाया जा सकता है और एक साथ मिलाकर पढ़ने पर उपन्यास का। कहानियाँ एक दूसरे से मिली हुई हैं माणिक मुल्ला के माध्यम से। प्रेम की मार्क्सवादी विवेचना स्वीकार की गई है और बताया गया है कि प्रेम समाज-निरपेक्ष और व्यक्तिगत नहीं है, वरन् वह तो सदैव आर्थिक व्यवस्था के अनुरूप चलता है। भारती जी के उपन्यासों में कहानी कहने की नई कला के दर्शन तो होते हैं, किन्तु कथानक की गठन की दृष्टि से कोई विशेष सफलता उन्हें नहीं मिल सकी है। उनके उपन्यासों में एक सूत्रता और संगठन की कहीं-कहीं कमी खटकती है।

प्रभाकर माचवे ने 'परन्तु', 'एकतारा' आदि उपन्यास लिखे हैं। 'परन्तु' उपन्यास उनकी कला का नमूना हो सकता है जिसमें एक व्यक्ति की कथा आद्योपान्त चलती है। इसमें पूँजीपतियों की धनलिप्सा शोषण का सुन्दर चित्र है तथा साथ ही चित्र का दूसरा पहलू भी है जिसका शोषण होता है—वे मजदूर और बेबस नारियाँ जो अपनी मजबूरी के कारण इनके सामने झुकने को तैयार हो जाती हैं।

उदयशंकर भट्ट का 'नये मोड़' उपन्यास भी अपने ढंग का एक सुन्दर उपन्यास है। उन्होंने इस उपन्यास के नायक 'प्राणनाथ' में मध्यवर्गीय व्यक्तित्व की स्थापना की है। वह नवीन जीवन-मूल्यों की स्थापना के लिए प्रयत्नशील है और स्वयं इसे अपने से ही प्रारम्भ करना चाहता है। वह बौद्धिक है और अनेक ग्रन्थों से अर्जित पुस्तकीय ज्ञान उसके पल्ले है, किन्तु उस ज्ञान को वह पचा नहीं पाता, व्यावहारिक स्वरूप प्रदान नहीं कर पाता। वह साम्यवादी मानवतावाद का हिमायती है और उसका तार्किक समर्थन भी करता है। किन्तु इसके पीछे उसकी अनुभूति नहीं, व्यावहारिक बुद्धि है। इस युग में आकर कथानक अधिक बौद्धिक और सूक्ष्म होते चले जा रहे हैं जो आज की चेतना के अधिक गुम्फित स्वरूप की अभिव्यक्ति के अनुरूप ही है। डा० देवराज का 'पथ की खोज' आकर्षक और दार्शनिक तो है, किन्तु कथानक की दृष्टि से दोषपूर्ण है। सरस्वतीसरन 'कैफ' का 'ऊँची-नीची राहें' वर्तमान मार्क्सवादी युवकों की मनोवृत्ति का वर्णन है। श्री राम शर्मा का 'नींव का पत्थर' मजदूर आन्दोलन पर आधारित है। इसमें पूँजीपतियों और मजदूरों की समस्याओं और संघर्षों का वर्णन है। इसमें वर्गवादी संघर्ष अपनी चरम सीमाओं को पहुँचाया गया है। यदि इस उपन्यास में लेखक अधिक तटस्थ और संयमशील होता तो उपन्यास और भी सुन्दर बन जाता।

कुमार देव का 'बन्धन मुक्त' उपन्यास एग्रेसिव उपन्यासों की कोटि में आता है और उसी कोटि के उपन्यासों से उसने प्रेरणा ग्रहण की है। लेखक वर्तमान से संतुष्ट नहीं है और कुछ नया लाने के लिए प्रयत्नशील है, किन्तु वह अभी अनिर्णीत अवस्था में पड़ा हुआ है। उसे स्वयं पथ का ज्ञान नहीं है तब फिर भला दूसरों

को मार्ग दिखाना कैसे सम्भव है ? इसी प्रकार का एक और उपन्यास 'पतन का अन्त' है जिसे ओम प्रकाश एम० ए० ने लिखा है। इसमें सामाजिक विषमता और मजदूर संगठन का वर्णन है।

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि यथार्थवादी और मार्क्सवादी उपन्यासों के कथानक यथार्थ जीवन की समस्याओं और यौन प्रश्नों से ही बनाये गये हैं। इन उपन्यासों में प्रेम, सेक्स, विवाद आदि का सर्वत्र वर्णन है। आज का समाज इन सामाजिक प्रथाओं और संस्थाओं को बदलती हुई परिस्थिति में नये रूप में देखना चाहता है और प्रश्न को नये जीवन दर्शनों की मान्यतानुसार प्रस्तुत करना चाहता है।

राधाचरण गोस्वामी की ऐतिहासिक उपन्यास की परम्परा, जो प्रेमचन्द काल में वृन्दावनलाल वर्मा में ही सिमट गई थी, इस काल में फूट चली है। प्रसाद जी ने इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठों को नाटक के माध्यम से प्रस्तुत किया। उपन्यासों के मानवीय संवेदनाओं का विस्तार करके भावनाओं और विचारों के बीच एक नया सामंजस्य उत्पन्न करने का प्रयत्न है। जीवन के चिरन्तन सत्यों का उद्घाटन उपन्यासकार करता है। इतिहास का उद्देश्य भी प्रायः यही है, किन्तु उसकी दशाएँ भिन्न होती हैं। इतिहास और उपन्यास का अन्तर स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि उपन्यास में तिथि और घटनाओं के अतिरिक्त सब कुछ सत्य होता है, और इतिहास में तिथि और घटनाओं के अतिरिक्त सब कुछ असत्य होता है।

इतिहास को ऐतिहासिक उपन्यासकार बदल सकता है या नहीं यह एक प्रमुख प्रश्न है जिस पर काफी विवाद चला है। वृन्दावनलाल वर्मा और यशपाल के अनुसार लेखक को अपनी दृष्टि पूर्वाग्रह मुक्त रखनी चाहिए। उसकी दृष्टि में जितनी निष्पक्षता और तटस्थता होगी उपन्यास में उतनी ही शक्ति आ जायगी। इतिहास के तथ्य आज उपलब्ध हैं उनकी कसौटी पर हम इन कृतियों को परखते हैं, और इस प्रक्रिया में जो कृति जितनी सफल सिद्ध होती है उसका मूल्य उतना ही अधिक आंका जाता है। ऐतिहासिक संगति के निर्वाह होने तक उपन्यासकार कल्पना का प्रयोग कर सकता है। शुक्ल जी ने भी बताया है कि औचित्य की सीमा का उल्लंघन ऐतिहासिक उपन्यासकार ने युग की वास्तविकता को, जिसने सच्चे अर्थ में समझ लिया है, वह उतना ही सफल उपन्यासकार है।

ऐतिहासिक उपन्यासों में तीन प्रकार से सत्य का भ्रम कराया जाता है। पहले प्रकार के ऐतिहासिक उपन्यास हैं जिनमें ऐतिहासिक पात्रों की योजना करके ऐतिहासिक सत्य की उपलब्धि कराई जाती है। दूसरे प्रकार के उपन्यासों में पात्र तो कल्पित हो सकते हैं किन्तु घटनाएँ ऐतिहासिक और इतिहास द्वारा मान्य तथा सुप्रसिद्ध होती हैं, और तीसरे प्रकार के उपन्यासों में पात्र और घटनाएँ दोनों काल्प-

निक हो सकते हैं, किन्तु वातावरण, भाषा, रीति-रिवाज, वस्त्राभूषण आदि सभी उस काल के प्रस्तुत किये जाते हैं और उनके माध्यम से ऐतिहासिकता की रक्षा और निर्वाह किया जाता है।

हिन्दी के प्रमुख ऐतिहासिक उपन्यासकार वृन्दावनलाल वर्मा, राहुल सांकृत्यायन, चतुरसेन शास्त्री, यशपाल, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी आदि हैं तथा कुछ अन्य उपन्यासकारों में डा० सत्यकेतु विद्यालंकार, रघुवीरशरण मिश्र, वेनप्रसाद वाजपेयी, गोविन्दवल्लभ पन्त आदि के नाम लिये जा सकते हैं। वृन्दावनलाल वर्मा ने 'गढ़-कुण्डार', 'विराटा की पद्मिनी', 'कचनार', 'अमरबेल', 'मृगनयनी', 'झांसी की रानी' और 'माधवजी सिंधिया' आदि उपन्यास लिखे हैं। आचार्य चतुरसेन शास्त्री का 'वैशाली की नगरवधू' एक सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यास है। इसमें बौद्धकालीन भारत की सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक परिस्थितियों का सुन्दर-चित्रण है। इस उपन्यास में ईसा पूर्व ६०० से ५०० की घटनाओं का वर्णन है।

ऐतिहासिक उपन्यासों की शृङ्खला की एक सबल कड़ी यशपाल की 'दिव्या' है। ऐतिहासिक उपन्यासकार को पूर्वाग्रह से मुक्त होकर तथा ईमानदारी के साथ तत्कालीन समस्याओं के चित्रण में पूर्ण सामर्थ्य दिखानी चाहिए। उसे वादों के चक्कर में नहीं पड़ना चाहिए तथा इतिहास की घटनाओं और पात्रों को आज के प्रश्नों और आज के वादों की मीमांसा का साधन नहीं बना देना चाहिए। यशपाल यद्यपि मार्क्सवादी हैं फिर भी 'दिव्या' में उन्होंने यथेष्ट तटस्थता और कला की आत्मा की सुरक्षा और पूर्वाग्रह मुक्तता का सुन्दर परिचय है।

डा० रांगेय राघव ने 'मुर्दों का टीला' की भूमिका में भी निर्देश दिया है कि यहाँ दास और स्त्री सामान्य नागरिक की भाषा न बोलें तो अस्वाभाविकता आ जाती है। यद्यपि इस उपन्यास में, युग-चेतना और तत्कालीन संस्कृति को उसके प्रामाणिकतम रूप में प्रस्तुत करने की चेष्टा की गयी है, किन्तु पात्रों के कथन और जीवन-दर्शन सम्बन्धी दृष्टिकोण आधुनिक तथा अस्वाभाविक हो जाने से यथार्थ का भ्रम हो जाता है और उपन्यास की प्रामाणित ऐतिहासिक यथार्थ को भारी चोट पहुँचती है।

हजारी प्रसाद द्विवेदी का 'बाणभट्ट की आत्मकथा' ऐतिहासिक उपन्यास है। आश्चर्य की बात तो यह हुई है कि इस उपन्यास के [illegible] लेखक ने जो 'यथार्थ का भ्रम' उत्पन्न किया है उस[illegible] में बड़े-बड़े [illegible] आ गये

माध्यम से सजीव हो उठा है। हिन्दी में इस प्रकार के ऐतिहासिक उपन्यास एक उच्च और महत्वाकांक्षी परम्परा के प्रतीक हैं।

रांगेय राघव का 'मुर्दों का टीला', राहुल जी का 'जय यौधेय' आदि चर्चित उपन्यास हैं। 'मुर्दों का टीला' में जनतांत्रिक समस्याओं और मान्यताओं का सुन्दर वर्णन है। यशपाल में यद्यपि मार्क्सवादी सिद्धान्तों का आरोप मिलता है जिससे ऐतिहासिकता यतिरजदामुक्त और अयथार्थवादी प्रतीत होने लगती है। किन्तु, यह बात राहुल जी के उपन्यासों में बहुत अधिक मिलती है। उनके पात्र तो यहांयह आज के मार्क्सवादी सिद्धान्तों की व्याख्या और स्थापना करते हुए दिखाई देते हैं।

ऐतिहासिक उपन्यासों की शृङ्खला में 'शतरंज की मुहरे' और 'कठपुतली के धागे' प्रमुख हैं। इन दोनों उपन्यासों की कथावस्तु प्रायः समान है। इन दोनों उपन्यासों में स्वराज्य के लिए प्रथम क्रान्ति को केवल 'सिपाही विद्रोह' न मान कर उसे जनता की व्यापक और सुनियोजित योजना सिद्ध करने का प्रयास किया गया है जिसे अधिकांश देशी राजाओं, नवाबों और जनता के एक विशाल भाग का सहयोग प्राप्त था। इन उपन्यासों में तत्कालीन राजनीतिक, सांस्कृतिक और आर्थिक अवस्थाओं का ऐसा इतिहासानुमोदित और यथार्थवादी वर्णन किया गया है कि सारा अतीत आज भी हमारे सामने स्पष्ट हो उठता है। हमारे उस समय के समाज के सम्बन्ध और उस समाज का अन्तर्विरोध इतनी जागरूकता और सतर्कता के साथ अंकित किया गया है कि उसमें जागरूकता आते आ गई है और कहां पिछड़ गई है। इन दोनों उपन्यासों में हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न का हल परोक्ष रूप से दिया गया है और बताया गया है कि धर्म हमारी राजनीति और अर्थनीति से बिलकुल अलग रखा जाना चाहिए और जब तक ऐसा नहीं किया जायगा तब तक हम आगे नहीं बढ़ सकते।

इस प्रकार आलोच्य युग में संक्रमण की स्थिति रही है। भारतीय और यूरोपीय संस्कृति के झंझावात में डाँवाडोल भारतीय जन अपनी नियति भोगने लगे।

उपन्यास साहित्य और नये मूल्यों की खोज

प्रत्येक नया युग अपने लिए नये सामाजिक, सांस्कृतिक मूल्य निर्मित करता है। क्योंकि, पुराने मूल्यों की प्रासंगिकता युगीन परिस्थितियों में परिवर्तन के साथ ही समाप्त हो जाती है। इस प्रकार प्रत्येक नया युग तथा प्रत्येक नया समाज अपनी आवश्यकताओं, रुचियों, मूल्यों की स्थापना करता है। मूल्यान्वेषण की सामग्रियों का प्रस्तुतीकरण ही किसी साहित्यकार को गौरवशाली तथा प्रतिष्ठित बनाता है। अन्यथा, मूल्यों की चेतना से शून्य साहित्य का कोई महत्व नहीं होता। इसीलिए साहित्यकार की चेतना अनिवार्यतः जीवन-मूल्यों की चेतना को अपने अन्दर समाहित किये हुये रहती

है। साहित्यकार अपनी रचना में जीवन-मूल्यों की अभिव्यक्ति करता है। उनका सृजन करता है और उनकी व्यावहारिक उपयोगिता का प्रश्न भी उठाता है। लेकिन ये सारे कार्य-व्यापार रचना के स्तर पर ही घटित होते हैं, क्योंकि साहित्यकार मुख्यतः कला का रचनाकार होता है।

नये मूल्यों की स्थापना का प्रस्तुत आधुनिक युग की वस्तु है, क्योंकि सांस्कृतिक प्रतिरोध और सांस्कृतिक संकट भी आधुनिक जीवन में ही उत्पन्न हुआ है। इस दृष्टि से प्रारम्भिक हिन्दी उपन्यासों का सम्बन्ध इस प्रश्न से नहीं जुड़ता, क्योंकि उनके लेखन-काल में प्राचीन जीवन-मूल्यों की ही प्रधानता समाज में थी और लोग उन्हीं पर आस्था रखते थे। इसीलिए प्रारंभिक उपन्यासकारों ने परम्परा से प्राप्त मूल्यों का समर्थन किया। लेकिन प्रेमचन्द काल तक आते-आते भारतीय जीवन बहुत कुछ बदल चुका था और सांस्कृतिक विघटन का प्रारंभ होने लगा था। इसलिए नये मूल्यों की आवश्यकता इसी युग में आकर प्रतीत हुई। फलतः युगीन दार्शनिकों तथा साहित्यकारों ने इस दिशा में कार्य-प्रारंभ किया। अतः इस विवेचन में हम प्रेमचन्द और प्रेमचन्दोत्तर काल तक ही अपने को सीमित रखेंगे और उसमें भी उन्हीं उपन्यासकारों को उठायेंगे जिनमें सचमुच नये मूल्यों की स्थापना का प्रयत्न मिलता है।

हम स्पष्ट कर चुके हैं कि अन्तर्विरोधग्रस्त जीवन-मूल्यों के कारण ही व्यक्ति तथा समाज के सम्मुख अराजकता की स्थिति उत्पन्न हुई। इस बीच समाज-सुधार आंदोलन तथा साहित्य के माध्यम से सामाजिक तथा सांस्कृतिक मूल्यों का परिष्कार अवश्य किया गया, लेकिन सार्वभौमिक संस्कृति तथा जीवन दृष्टिकोण का निर्माण सम्भव नहीं हो पाया। अतः व्यावहारिक स्तर पर सर्वत्र अराजकता का ही बोल-बाला रहा। इस सम्बन्ध में दूसरी बात यह थी कि आधुनिक युग के प्रारंभ अर्थात् जागरण काल से ही समाज-सुधार आन्दोलनों की जो बाढ़ आई उसने साहित्य में भी समाज को प्रतिष्ठित कर दिया। अतः अब चिन्तन का केन्द्र व्यक्ति नहीं रहा; उसकी जगह समाज ने ले लिया। यहाँ आवश्यकता इस बात की थी कि व्यक्ति तथा समाज में समुचित सामञ्जस्य स्थापित किया जाये तथा दोनों को केन्द्र में रखकर सामाजिक, सांस्कृतिक जीवन-मूल्यों का परिष्कार किया जाये। अतः कुछ उपन्यासकारों ने इस बात का प्रयत्न भी किया कि व्यक्ति को केन्द्र में रखकर जीवन-गत मूल्यों की पुनर्परीक्षा की जाय और नवीन मूल्यों को भी स्थापित किया जाये। यह प्रयत्न युगीन दार्शनिक पृष्ठभूमि में हो रहा था, कि व्यक्ति के माध्यम से समष्टि का चिन्तन किया जाय। हिन्दी उपन्यासकार व्यक्ति को ही केन्द्र मानता है तथा समाज उसकी दृष्टि में उपेक्षित ही रहता है। इन उपन्यासकारों ने नितान्त व्यक्ति

परक मूल्यों की स्थापना की जो निश्चय ही युगीन अराजक स्थितियों से प्रभावित थे। इसलिए इन आधुनिक युग के लेखकों ने सांस्कृतिक धरातल अराजकता की स्थिति को प्रोत्साहित किया। नवीन मूल्य स्थापना में अगर व्यक्ति तथा समाज दोनों को बराबर महत्व दिया जाता तो इस अराजकता को जगह सन्तुलित सांस्कृतिक विकास हुआ होता। लेकिन इन लेखकों ने केवल व्यक्ति के महत्व पर ही जोर दिया, जिसके चलते समाज संस्कृत तथा जीवन दृष्टिकोणों के प्रति उनका निषेधात्मक दृष्टिकोण ही उभर कर आया। इन लेखकों ने नवीन मूल्यों की स्थापना तो की लेकिन सामाजिक जीवन में नहीं बल्कि व्यक्तिगत जीवन में और प्रत्येक व्यक्ति के जीवन दृष्टिकोण को भिन्न स्वीकार किया। स्पष्ट है कि सांस्कृतिक दृष्टि से ये उपन्यासकार अपनी युग के शून्य तथा अराजक स्थिति को चित्रित करते हैं।

जयशंकर प्रसाद 'कंकाल' (१९२९) उपन्यास सांस्कृतिक धरातल पर ऐसी ही शून्य स्थिति का चित्र प्रस्तुत करता है। प्रेमचन्द तथा उसकी आदर्शोन्मुखी भाव-धारा के उपन्यासकार मूलतः सुधारवादी प्रवृत्ति के लेखक थे। उनका लक्ष्य होता था समाज तथा संस्कृति के जर्जर पक्षों का उन्मूलन करना। लेकिन प्रसाद समस्त समाज तथा उसकी संस्कृति को अस्वीकार करते हैं। 'कंकाल' के सभी चरित्र इस दृष्टि से व्यंग्य की सृष्टि करते हैं। उपन्यास में अवैध प्रेम की सृष्टि की गई है। कहीं भी शुद्ध तथा पवित्र प्रेम की स्थिति उत्पन्न नहीं होने पाई है, और न वैवाहिक जीवन की पवित्रता के ही कहीं दर्शन होते हैं।

वर्गीय कुलीनता तथा अकुलीनता का विचार युगों से प्रायः सभी देशों तथा समाजों में सामाजिक संगठन का मुख्य आधार रहा है। वैवाहिक जीवन की पवित्रता समाज की पवित्रता को सुरक्षित रखती रही है। लेकिन 'कंकाल' में प्रसाद जिस समाज का चित्र प्रस्तुत करते हैं, उसमें समाज की एक भी रीति-नीति, परंपरा तथा सांस्कृतिक मूल्य शुद्ध एवं आधार नहीं है और न वे व्यक्ति के जीवन के लिए उपयोगी ही हैं। स्पष्ट है कि निवृत्तिमूलक, आदर्शवाद यहाँ बौद्धिक यथार्थोन्मुख प्रतिक्रिया के रूप में उभर कर आ गया है।

वस्तुतः परम्परा समाज तथा व्यक्ति के मूल्य जर्जर तथा खोखले हो चुके थे। आधुनिक युग में इन जर्जर मूल्यों के विरुद्ध सुधारात्मक आक्रमण की नीति अपनाई जा चुकी थी और आर्य समाज जिसका प्रतिनिधित्व कर रहा था। इन सुधार आन्दोलनों का तथा आर्य समाज के दृष्टिकोणों का परिणाम यह हुआ कि एक प्रकार का पवित्रतावादी दृष्टिकोण उत्पन्न हुआ, जो अस्वीकार को अपना दृष्टिकोण मानकर विकसित हुआ। ऐसी दशा में युगीन उपन्यासकार तथा सुधारवादी चिन्तक समाज

के सम्मुख स्वभावजन्य तथा प्रकृतिजन्य जीवन-मूल्यों को प्रस्तुत नहीं कर सके। इसके स्थान पर अस्वाभाविक नियंत्रण तथा कठोर पवित्रतावादी दृष्टिकोण उत्पन्न हुआ जिसके फलस्वरूप साहित्य तथा दर्शन में कोरे आदर्शवाद की स्थापना हुई।

ज़ाहिर है कि ऐसी दशा में व्यक्ति शून्य की सी स्थिति अनुभव करने लगा। बौद्धिक उन्मेष से प्रभावित बीसवीं शताब्दी का व्यक्ति इस समाज तथा संस्कृति को अस्वीकार कर देता है तथा सम्पूर्ण समाज तथा संस्कृति एवं जीवन मूल्यों का निषेध करता है। वह जीवन मूल्यों को बौद्धिक कसौटी पर परखने का प्रयत्न करता है। क्योंकि, वह बौद्धिक युग की उपज है। अततः उसे लगता है कि इस समाज तथा संस्कृति का आधार ही गलत है। समाज में घोर अनाचार तथा व्यभिचार फैले होने पर भी, समाज का मुख्य आधार कुलीनता ही बना हुआ है। इसीलिए वह सभी पुरानी जर्जर मान्यताओं से अपनी असहमति व्यक्त करता है, तथा पवित्रतावादी कोरे आदर्शवाद की भी उपेक्षा करता है। इस प्रकार आज का व्यक्ति एक ओर तो परम्परित रूढ़ियों से टकराता है और दूसरी ओर कोरे आदर्शवाद से संघर्ष करता है, और अंततः 'कंकाल' की स्थिति में पहुँच जाता है। प्रश्न है कि 'प्रसाद' क्या केवल समाज की अराजक स्थितियों का चित्र भर देना चाहते हैं, केवल यथातथ्य चित्रण और विचार दर्शन की अभिव्यक्ति दोनों भिन्न चीजें हैं। स्मरणीय है कि 'विजय' व्यक्तिगत स्तर पर ही विद्रोह करता है, तो क्या इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि लेखक व्यक्तिवादी दर्शन की स्थापना करना चाहता है। 'विजय' पाप-पुण्य का विश्लेषण इस प्रकार करता है—"पाप और कुछ नहीं है। यमुना, जिन्हें हम छिपाकर करना चाहते हैं उन्हीं कर्मों को पाप कह सकते हैं। परन्तु समाज का एक बड़ा भाग उसे यदि व्यवहार्य बना दे तो वही कर्म हो जाता है, धर्म हो जाता है।" स्पष्ट है कि लेखक यहाँ पाप-पुण्य का निर्णय व्यक्ति के निर्णय पर नहीं छोड़ता बल्कि उसे समाज के बहुमत से सम्बन्ध करके देखता है। अतः हम देखते हैं कि प्रसाद जी का सामाजिक अराजकता तथा अनैतिकता का चित्रण इस उद्देश्य से करते हैं कि गलत सामाजिक मान्यताओं तथा कोरे आदर्शवाद की परिणति दिखाई जा सके। यह लेखक का निश्चय ही क्रान्तिकारी कदम है जो जर्जर तथा खोखली संस्कृति को बदलने की क्षमता रखता है। समाज तथा संस्कृति के प्रति विजय का विद्रोह चूंकि एकांतिक है, इसीलिए उसका दुखद अन्त होता है। उसमें विद्रोह को व्यापक धरातल पर संगठित करने की शक्ति नहीं है। इस प्रकार 'प्रसाद जी' का यह विद्रोह यद्यपि एकांतिक है, लेकिन उसके दुखद अन्त में यथार्थवादी आग्रह से भी इन्कार नहीं किया जा सकता। अतः 'कंकाल' सांस्कृतिक धरातल पर शून्य स्थिति का द्योतक है, उसमें अराजक तथा व्यक्तिवादी विचार दर्शन की स्थापना का कोई प्रयत्न नहीं दिखाई पड़ता।

भगवतीचरण वर्मा के 'चित्रलेखा' (१९३४) तथा 'तीन वर्ष' (१९३६) उपन्यास में बौद्धिक धरातल पर सांस्कृतिक मूल्यों की विवेचना प्रस्तुत की गई है। 'चित्रलेखा' की कथा प्राचीन ऐतिहासिक कथा है तथा उसके पात्र भी ऐतिहासिक पात्र ही हैं, लेकिन उपन्यास की भावभूमि ऐतिहासिक से अधिक सांस्कृतिक बन गई है। अतः सांस्कृतिक मूल्यों के सन्दर्भ में 'चित्रलेखा' उपन्यास का अपना विशिष्ट महत्व है। इस उपन्यास में लेखक पाप-पुण्य की व्याख्या करना चाहता है और साथ ही कथानकों में निवृत्ति मार्ग तथा प्रवृत्ति मार्ग जैसे दो प्रमुख दार्शनिक मतवादों को भी प्रस्तुत करता है। ये मतवाद केवल दार्शनिक महत्व ही नहीं रखते, वरन् जीवन-दृष्टि के निर्माण में भी इसका महत्वपूर्ण योगदान होता है।

वस्तुतः पाप-पुण्य की मान्यताएं अपने आप में अंतिम और ठोस सत्य नहीं होती, नहीं हो सकती है। इसलिए भिन्न-भिन्न समयों और संस्कृतियों में इनका स्वरूप भिन्न-भिन्न होता है। जो किसी एक संस्कृति की दृष्टि में पाप है, वह दूसरी संस्कृति की दृष्टि में पुण्य भी हो सकता है। अतः जितनी प्रकार की संस्कृतियाँ हैं, पाप और पुण्य की परिभाषाएँ तथा उनका स्वरूप भी उतनी ही प्रकार का बनता गया है। इसी विचार भूमि पर भगवती चरण वर्मा 'चित्रलेखा' में पाप और पुण्य की दार्शनिक तथा सांस्कृतिक प्रश्न उठाते हैं। बीजगुप्त प्रवृत्तिमूलक संस्कृति का प्रतीक है जिसका जीवन, भोग-विलास में ही कटता है तथा योगी कुमार गिरि निवृत्तिमूलक संस्कृति का प्रतीक है, जो संयमी तथा तपस्वी है। 'चित्रलेखा' एक प्रसिद्ध नर्तकी है, जिसके माध्यम से लेखक दो भिन्न मान्यताओं की जांच-परख करता है। उपन्यास की अन्तिम स्थिति यह है कि बीजगुप्त सम्पूर्ण वैभव त्यागकर निवृत्तिमार्गी बन जाता है तथा कुमारगिरि का संयम चित्रलेखा के सम्पर्क में आने से भंग हो जाता है और विश्वासघात के स्तर तक उसका चारित्रिक पतन हो जाता है।

इस प्रकार लेखक अंततः इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि जीवनगत आदर्शों तथा विभिन्न सांस्कृतिक मूल्यों का अपना कोई अस्तित्व नहीं होता, वरन् परिस्थितियों के अनुसार उनमें आवश्यक परिवर्तन उपस्थित होता है। ऐसी दशा में न तो पाप ही का अस्तित्व है और न पुण्य का ही। वर्मा जी लिखते हैं—"संसार में पाप कुछ भी नहीं है, वह केवल मनुष्य के दृष्टिकोण की विषमता का दूसरा नाम है। प्रत्येक व्यक्ति एक विशेष प्रकार की मनः-प्रवृत्ति लेकर उत्पन्न होता है—प्रत्येक इस संसार के रंगमंच पर एक अभिनय करने आता है। अपनी मनःप्रवृत्ति से प्रेरित होकर अपने पाठ को वह दुहराता है, यही मनुष्य का जीवन है। जो कुछ मनुष्य करता है, वह उसके स्वभाव के अनुकूल होता है और स्वभाव प्राकृतिक है। मनुष्य

अपना स्वामी नहीं है, वह परिस्थितियों का दास है, विवश है। वह कर्त्ता नहीं है, वह केवल साधन है फिर पुण्य, पाप कैसा।"

वर्मा जी निश्चित रूप से सामाजिक, सांस्कृतिक मूल्यों को स्वीकार नहीं करते और न ही उन्हें मानवीय सत्ता पर ही विश्वास है। उनकी दृष्टि में नियति ही कर्त्ता है, मानव तो विवश और उसका दास है। अतः पाप-पुण्य का दायित्व भी नियति तथा परिस्थितियों पर है न कि मानव पर। वर्मा जी का दूसरा महत्वपूर्ण निष्कर्ष यह है कि प्रत्येक व्यक्ति के भिन्न सांस्कृतिक तथा जीवनगत मूल्य होते हैं, क्योंकि उनका आधार व्यक्ति की मनः प्रवृत्ति है, जो निश्चय ही एक दूसरे से भिन्न होती है। अपनी-अपनी मनः प्रवृत्ति को लेकर ही व्यक्ति जन्म लेता है। उसका निर्माण समाज में नहीं होता। इस प्रकार वर्मा जी समाज की सत्ता को स्वीकार नहीं करते तथा सामाजिक तथा सांस्कृतिक धरातल पर भी प्रत्येक व्यक्ति का भिन्न अस्तित्व स्वीकार करते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि उनका विचार-दर्शन उन्हें नियतिवादी तथा व्यक्तिवादी बना देता है, और अन्ततः वे अराजकतावादी जीवन दृष्टिकोण को प्रस्तुत करते हैं।

वर्मा जी के एक अन्य उपन्यास 'तीन वर्ष' में इस अराजकतावादी जीवन-दृष्टिकोण को और अधिक स्पष्टता के साथ रेखांकित किया जा सका है। यहाँ लेखक ने सांस्कृतिक मूल्यों तथा जीवन दृष्टिकोणों को सापेक्षता के सिद्धान्त पर परखा है। यद्यपि लेखक ने विभिन्न सांस्कृतिक मूल्यों के परीक्षण के लिए दो भिन्न सामाजिक, आर्थिक वर्गों का सहारा लिया है। लेकिन उसकी अंतिम परिणति वैयक्तिक भूमि पर होती है। सापेक्षता का सिद्धांत वस्तुतः एक वैज्ञानिक नियम है और उसका प्रभाव दर्शन साहित्य तथा व्यक्ति के जीवन दृष्टिकोण पर भी पड़ा है तथा विभिन्न विद्वानों ने सांस्कृतिक मूल्यों तथा नैतिक मान्यताओं के परीक्षण के निमित्त इसका प्रयोग भी किया है। लेकिन जब हम सामाजिक तथा सांस्कृतिक धरातल पर वैज्ञानिक सिद्धांतों का प्रयोग करते हैं तो उसका आधार व्यक्ति नहीं, समाज के वैज्ञानिक नियम होने चाहिए जबकि अधिकांशतः एक ओर तो वैज्ञानिक सिद्धांत अपनाया जाता है और दूसरी ओर उन्हीं वैज्ञानिक नियमों का विरोध भी किया जाता है।

बौद्धिक धरातल पर किसी एक वैज्ञानिक सिद्धांत को अपनाकर तथा अन्य वैज्ञानिक नियमों की अवहेलना करके बुद्धि को संतोष अवश्य दिलाया जा सकता है, जीवन के प्रति यह समग्र दृष्टिकोण नहीं कहा जा सकता। समाज, संस्कृति तथा जीवनगत दृष्टिकोण में दृष्टि की समग्रता का होना अत्यन्त आवश्यक शर्त है, केवल कुछ वैज्ञानिक नियमों तथा सिद्धांतों के आधार पर उसका निर्माण सम्भव नहीं। ज्ञान-विज्ञान की समस्त चेतनात्मक उपलब्धियों के समुच्चय

से ही समाज, संस्कृति तथा जीवनगत दृष्टिकोण का निर्माण होता है। समग्र दृष्टि के अभाव में, बौद्धिकता का यह प्रबल आग्रह वैचारिक अराजकता की स्थिति उत्पन्न कर सकता है। 'तीन वर्ष' में लेखक ने अपनी सतर्क दृष्टि से प्रत्येक समाज को तथा उसके रीति-रस्मों, आचार-विचारों तथा संस्कारों को देखा-परखा है और अन्ततः इस निष्कर्ष पर पहुँचा है कि प्रत्येक समाज के रीति-रस्म, आचार-विचारों तथा संस्कारों में विभिन्नता स्वाभाविक रूप से पाई जाती है। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि उसकी भौतिक तथा जीवनगत परिस्थितियों में अंतर होता है। लेकिन अजित तथा सरोज के निर्माण में उनके संस्कारों तथा उनकी भौतिक परिस्थितियों को लेखक बहुत अधिक महत्व नहीं देता है। यहाँ पहुँचकर वह सांस्कृतिक मूल्यों तथा जीवनगत दृष्टिकोणों को नितान्त व्यक्तिपरक मान लेता है। अपने समाज तथा वर्गगत संस्कारों से सम्पन्न चरित्र प्रभा और रमेश को लेखक पूरी तरह उभार नहीं सका है। बल्कि उन्हें व्यक्तित्वहीन बनाने का प्रयत्न अवश्य किया है। लेखक के आदर्श पात्र तो वो हैं, जो समाज तथा वर्गगत संस्कारों की कोई सत्ता नहीं स्वीकार करते।

इस प्रकार लेखक अपने अन्तिम निष्कर्ष में यह मत व्यक्त करता है कि सांस्कृतिक मूल्य तथा आदर्श समाजगत नहीं, बल्कि व्यक्तिपरक होते हैं। 'तीन वर्ष' उपन्यास में बौद्धिक संतोष की पर्याप्त सामग्री के बावजूद भी सांस्कृतिक धरातल पर समाजगत तथा वर्गगत पात्रों के चरित्र का सफल मूल्यांकन नहीं हो पाया है। वर्मा जी सांस्कृतिक अराजकता को ही प्रश्रय देते हैं। उनका कहना है "हमारे व्यक्तित्व पृथक-पृथक हैं, और इसीलिए विचार भी पृथक-पृथक होते हैं। हम सबलोग मानसिक अराजकता के इस वातावरण की तरफ बढ़े चले आ रहे हैं। आवश्यकता इस बात की है कि शिक्षा कम कर दी जाय लोगों के मस्तिष्क का विकास बन्द कर दिया जाय तभी यह सम्भव होगा कि हम सब एक दूसरे की बात समझ सकें।"[1]

वर्मा जी अराजकता की इस स्थिति से निकलने का न तो कोई सम्पूर्ण दृष्टिकोण दे पाते हैं और न ही नवीन सांस्कृतिक मूल्यों की स्थापना ही कर पाते हैं। इस संम्बध में उनका दृष्टिकोण कितना खोखला और अवैज्ञानिक है—"दुनिया उसी को पूजती है, जो उसे दबा सके, दबा नहीं सके, बल्कि उसकी आत्मा की हत्या कर दे। और इसीलिए इंग्लैंड में पढ़ने वाला अजित आज भी स्त्री को गुलाम समझता है।""पुरुष की गुलामी करने के लिए ही स्त्री उत्पन्न हुई है, वह स्वामी बनकर रह नहीं सकती। अजित आगे चलकर बन्धुता, समता तथा स्वतंत्रता का ही नहीं, बल्कि गुलामी एवं परतंत्रता की भी विश्लेषण तथा संदेश व्यक्त करता है। यह निश्चय है कि हम सब गुलाम हैं और हम सब सम्पत्ति हैं, अपने से अधिक बलवानों की। केवल बल का केन्द्र भिन्न है, कुछ का बल धन में है कुछ का बल विद्या में है, और

कुछ का बल उनके शरीर में है। हमें जीवित रहने के लिए गुलामी करनी ही पड़ती है।"[2] कहने की आवश्यकता नहीं कि ये विचार मात्र अजित नामक व्यक्ति के नहीं हैं, वरन् लेखक के विचार हैं। इस प्रकार वर्मा जी का जीवन-दृष्टिकोण स्वस्थ तथा वैज्ञानिक नहीं लगता, बल्कि उसमें अराजकतावादी तत्वों की ही प्राधान्य दिखती है, वर्मा जी सम्पूर्ण समाज तथा संस्कृति के विकास की उपेक्षा करते हैं तथा वर्बर अराजक संस्कृति की उद्घोषणा करते हैं। इस प्रतिगामिता के लिए वे नियतिवादी विचारधारा को भी कहीं-कहीं अपनाते हैं।

जैनेन्द्र कुमार ने अपने उपन्यास 'त्यागपत्र' (१८२९) में सांस्कृतिक मूल्यों के पुनर्मूल्यांकन का प्रयास किया है, तथा तत्सम्बन्धी सांस्कृतिक तथा सामाजिक पहलुओं पर विचार प्रस्तुत किया है।

सापेक्षता के सिद्धांत के दो प्रमुख परिणाम निकलेंगे। एक तो यह कि हम अपनी संस्कृति, समाज विशेष के चौखटे में बन्द कर देंगे और दूसरा यह कि इस चौखटे से ऊपर उठने पर भी अन्तर्विरोधी मूल्यों की उलझनपूर्ण स्थिति में हमारे लिए सही निर्णय ले पाना संभव नहीं होगा। ऐसी दशा में सांस्कृतिक अराजकता तथा वैचारिक आपाधापी से हम बचे नहीं रह सकते। इस स्थिति से उबरने का अथवा इसे समाप्त करने का एक ही मार्ग है कि व्यापक स्तर पर मानवतावादी मूल्यों की प्रतिष्ठा पर बल दिया जाये और यही कार्य इस युग के लेखकों, कवियों और दार्शनिकों का है।

लेकिन समस्या का अन्त यहीं नहीं हो जाता। एक प्रश्न और है जो आगे किसी भी सांस्कृतिक चिन्तक को परेशान कर सकता है। व्यक्ति मूलतः सामाजिक प्राणी होता है और समाज में रहने के नाते वह अपने समाजविशेष के नियमों, तौर-तरीकों और पाबन्दियों तथा संस्कारों से भी जुड़ा होता है, ऐसी दशा में इस बात की संभावना से इन्कार नहीं किया जा सकता कि समय विशेष में समाज तथा मानव के मूल्य परस्पर एक दूसरे से टकरा सकते हैं। इस टकराहट की स्थिति में व्यक्ति के लिए यह निर्णय कर पाना मुश्किल काम होगा कि वह मानव मूल्य और समाज मूल्य में किसको कितना महत्वपूर्ण माने। सापेक्षता तथा समय के स्थायित्व की दृष्टि से देखें तो मानव मूल्यों में स्थायित्व के तत्व कहीं अधिक है, जबकि समाज के मूल्यों की अपनी सीमाएं तथा प्रतिबद्धताएं होती हैं और उनमें परिवर्तनशीलता का भी समावेश अधिक होता है।

आधुनिक भारतीय नवोत्थान काल में मानवतावादी सांस्कृतिक मूल्यों पर विशेष ध्यान दिया गया, क्योंकि इनमें व्यापक मानव के प्रति सहानुभूति तथा सम्वेदना समाहित थी। इस विचारधारा ने आधुनिक भारत को अपने ढंग से प्रभावित

किया एवं यहाँ की संस्कृति तथा मस्तिष्क पर पर्याप्त असर डाला। फलतः मानवतावाद तथा मानव धर्म के धरातल पर सामाजिक संस्कृति के मूल्यों का परीक्षण-निरीक्षण किया जाने लगा तथा व्यापक मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा होने लगी। हिन्दी उपन्यासकारों में प्रेमचन्द इस मानवतावाद के काफी आग्रही थे और 'गोदान' तक आते-आते अपने को इस सन्दर्भ में प्रौढ़ता के स्तर पर पहुँचा चुके थे, जिसका उत्कृष्ट रूप हमें होरी के चरित्र में मिलता है। प्रेमचन्द का यह मानवतावाद मानव संस्कृति की अभिनव प्रतिष्ठा का ही प्रयत्न था, जो विविध पहलुओं से अपनी व्यापक अभिव्यक्ति कर रहा था। प्रेमचन्द के बाद मानवतावाद की प्रतिष्ठा में सबसे अधिक अगर किसी ने जोर लगाया तो वह है जैनेन्द्र कुमार ने। उन्होंने न केवल मानवतावाद को नये संदर्भों में संदर्भित कर उसे एक नया परिप्रेक्ष्य ही प्रदान किया, वरन् मानवतावाद के धरातल पर हिन्दू संस्कृति की प्राचीन तथा अर्वाचीन सभी मान्यताओं के मूल्यांकन का महत् प्रयत्न भी किया।

प्राचीन हिन्दू संस्कृति के अनुसार नारी-जीवन के सम्पूर्ण आदर्श पतिव्रत धर्म में समाहित हैं। सतीत्व ही नारी के चारित्रिक मूल्यांकन की कसौटी है। उसे समाजीकृत रूप प्रदान करने के लिए समाज ने वैवाहिक पवित्रता के नियम कठोर बनाये हैं, तथा विवाह को भी आध्यात्मिक अनुबंध अथवा संबंध स्वीकार किया है। इस प्रकार हिन्दू स्त्री का पति उसके लिए परमेश्वर समझा जाता है। लेकिन जैनेन्द्र मानवतावादी दर्शन का आश्रय ग्रहण कर इस परम्परित विचारधारा का खण्डन करते हैं, और मानव धर्म की तुलना में पतिव्रत धर्म को सीमित और संकीर्ण बताते हैं।

'त्यागपत्र' की मृणाल का पति संकीर्ण मनोवृत्ति का है जो उसे घर से निकाल देता है। लेकिन बदले में मृणाल पति के सम्मुख आत्म-समर्पण नहीं करती, क्योंकि उसकी दृष्टि में पतिव्रत धर्म से कहीं अधिक महत्वपूर्ण मानव धर्म है। नारी के स्वाभिमान की रक्षा के लिए मृणाल खुशी-खुशी अपना घर-बार छोड़ देने को तैयार हो जाती है। वह मानती है कि नारी पहले मानव है। नारी है, फिर बाद में किसी की पत्नी है। उसे पहले मानवीय मूल्यों की रक्षा करनी चाहिए और मानव के स्वाभिमान को बचाना चाहिए। पत्नी का दायित्व मानवीय मूल्यों के दायित्वों की अपेक्षा गौण है। इस प्रकार मृणाल के चरित्र में नये मानवतावाद तथा नारी-जागरण का प्रखर स्वर सुना जा सकता है। यह एक सांस्कृतिक संघर्ष की स्थिति है जिसमें लेखक ने अपने निर्णय को पूरी आस्था के साथ प्रस्तुत किया है।

लेकिन लेखक की यह आस्था, यह प्रस्तुतीकरण तथा उसकी मूलभूत सांस्कृतिक चेतना, स्वस्थ सांस्कृतिक दृष्टिकोण के निर्माण में सफल नहीं हुई है। लेखक

की शरत्चंद्रीय भावुकता ने उसे विकृत कर दिया है जिसके कारण मृणाल, सुनीता, कल्याणी प्रभृति नारियाँ जो प्रारम्भ में बगावत का ध्वज धारण करके चलती हैं, अंततः पराजय और पराश्रय में ही शरण लेती हैं। नारी चरित्रों का स्वावलम्बी तथा स्वाभिमानी रूप अपनी समग्रता में नहीं उभरता। मृणाल अपने स्वाभिमान की रक्षा के लिए पति का आश्रय छोड़कर भी आर्थिक स्वावलम्बन प्राप्त नहीं कर पाती। मृणाल अपने मानवतावाद को प्रमोद के सम्मुख इस प्रकार अभिव्यक्ति करती है "मेरे रूप का लोभ इस पर चढ़ता गया। वह नशा हो आया। मुझे उस समय उस पर बड़ी करुणा आई।" मृणाल यह जानती है कि वह व्यक्ति कुछ दिन बाद ही उसे छोड़ देगा, लेकिन फिर भी वह उसके सम्मुख अपने को समर्पित कर देती है, क्योंकि लेखक के अनुसार वह मानवतावादी चरित्र है। मृणाल का मानवतावाद अथवा लेखक का मानवतावाद यही है कि पुरुष की कामुकता पर स्त्री की करुणा उत्पन्न हो। स्पष्ट है कि मानवतावाद के परदे में लेखक यहाँ अपनी कुण्ठाओं तथा मनोग्रंथियों का प्रकाशन कर रहा है।

मृणाल भारतीय सामाजिक संस्कृति के प्रति विद्रोह करती है ताकि उच्च मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा कर सके। लेकिन लेखक का मानवतावाद उसे अंततः घृणित और कुरूपा ही बनाता है। कर्मठ मृणाल का अस्वाभाविक चारित्रिक पतन पाठकों को खटकता है। वस्तुतः मृणाल की अपनी कोई दृष्टि नहीं है, वह जैनेन्द्र के विचारों की अभिव्यक्ति का माध्यम भर है।

इस संबंध में स्मरणीय है, जैनेन्द्र कुमार अपने सांस्कृतिक मूल्यों को समाज से नहीं जोड़ पाते। उनके मूल्य यथार्थ सतह से टकराने के बजाय कल्पना-लोक में विचरण अधिक करते हैं। प्रमोद से चर्चा करती हुई मृणाल कहती है, "मैं समाज को तोड़ना-फोड़ना नहीं चाहती हूँ। समाज टूटा कि फिर हम किसके भीतर बनेंगे या कि किसके भीतर बिगड़ेंगे। इसीलिए मैं इतना ही कर सकती हूँ कि समाज से अलग होकर उसकी मंगलाकांक्षा में खुद ही टूटती रहूँ।"

इस प्रकार मृणाल का विद्रोह समाज तथा सांस्कृतिक मूल्यों के परिष्कार के लिए नहीं है। उसे भ्रम है कि वह समाज से अलग है अतः उसका विद्रोह निरुद्देश्य है। उसका एकमात्र उद्देश्य है, आत्म वेदना, आत्मपीड़ा के दर्शन का सहारा लेकर अपने प्रिय पाठकों की करुणा को उत्तेजित करना। वह स्वयं अपने व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा में सफल नहीं हो पाई है, उससे मानव-मूल्यों की प्रतिष्ठा की उम्मीद व्यर्थ ही है। जीवन के प्रति उसका तटस्थ दृष्टिकोण पराजय की चरम स्थिति का द्योतक है। इस तटस्थता के कारण मृणाल घर से निकाली जाती है, और अंत तक मारी-मारी फिरती है। इस प्रकार वह न तो मानवीय मूल्यों की रक्षा करती है और न

व्यक्ति के अस्तित्व को ही प्रतिष्ठित करती है। समाज और संस्कृति का परिष्कार तो दूर की बात है। बिना हिचक के हम इसे जैनेन्द्र के विकृत मानवतावाद की सफलता कह सकते हैं।

नवीन सामाजिक, सांस्कृतिक मूल्यों के निर्माण का प्रयत्न हिन्दी उपन्यास-साहित्य में बहुत अधिक व्यापक पैमाने पर चलता रहा और अपनी तमाम असफलताओं तथा असमर्थताओं के बावजूद लेखक वर्ग अपने उस उत्साह के साथ इस प्रयत्न में लगा रहा। हिन्दी उपन्यास के तीसरे चरण में आस्थाहीन बौद्धिकता का जो व्यापक प्रसार हुआ, उसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं जिसके परिणामस्वरूप तथा मध्यवर्गीय कुण्ठाओं से विक्षुब्ध होकर इस युग के उपन्यासकारों ने समस्त परम्परित मूल्यों का निषेध किया और नवीन मूल्यों की स्थापना की चेष्टा की। इन उपन्यासकारों में अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी, यशपाल का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इन लेखकों ने समाज के सम्पूर्ण विकास को तथा उसकी समस्त सांस्कृतिक विरासत को अस्वीकृत कर दिया तथा नये मूल्यों की स्थापना के लिए आदिम मनुष्य की प्राथमिक प्रवृत्तियों तथा उसकी मूलभूत आवश्यकताओं को आधार बनाया। इस प्रकार इस बौद्धिक अनास्था ने समाज तथा संस्कृति की सत्ता पर ही प्रश्न चिह्न खड़ा कर दिया। अतः इन उपन्यासकारों ने आदिम मनुष्य की मूल प्रवृत्तियों की सत्ता स्वीकार करके समाज, संस्कृति तथा सभ्यता का नवनिर्माण करने का दायित्व संभाला। वस्तुस्थिति यह है कि मध्यवर्गीय कलाकार ठोस समाज में अपना अस्तित्व समाप्त होते देखते हैं और अपने वर्तमान से असन्तुष्ट होने के कारण प्रतिक्रिया में है मूल प्रवृत्तियों की ओर उन्मुख होते हैं। यह ठीक वैसे ही है, जैसे शासन की पराधीनता में निःसहाय स्थिति के कारण कई विचारकों का प्राचीन इतिहास की शरण में जाना। लेकिन दोनों प्रवृत्तियों में फर्क है तथा उसके परिणाम भी इसीलिए अलग-अलग देखे जा सकते हैं। आधुनिक उपन्यासकार समाज तथा संस्कृति से वंचित आदिम मनुष्य को अपना आदर्श पात्र बनाते हैं, पर कहीं भी वे पात्र आदिम प्रवृत्तियों के आधार पर नवीन समाज एवं संस्कृति की रचना करने में संलग्न नहीं दिखाई देते।

इन उपन्यासकारों ने नये मूल्यों की सृष्टि करके किसी नये आदर्श समाज का चित्र दिया होता तो उनका कार्य प्रशंसनीय कहा जाता। लेकिन इन उपन्यासकारों ने ऐसा कुछ नहीं किया। इनके चरित्र निर्बल, कुण्ठित और निष्क्रिय अधिक हैं। उनके द्वारा किसी नये समाज तथा संस्कृति के निर्माण की उम्मीद नहीं की जा सकती। वे केवल वर्तमान समाज-व्यवस्था की विसंगतियों से असंतुष्ट तथा विक्षुब्ध होकर अपनी अनाचारिता तथा स्वेच्छाचारिता से उसे तहस-नहस कर सकते हैं।

अज्ञेय, 'शेखर : एक जीवनी' (१६४०) उपन्यास, में समाज तथा संस्कृति की पूरी तरह अवहेलना करके नवीन सामाजिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों के अन्वेषण का प्रयत्न करते हैं। अज्ञेय की दृष्टि में यह अन्वेषण 'स्वातंत्र्य की खोज' है।[3] बनारसी दास चतुर्वेदी के प्रश्नों का जवाब देते हुए अज्ञेय लिखते हैं—"क्योंकि कला को नैतिकता के प्रचलित रूप से कोई लगाव नहीं है उसे तो नैतिकता के बुनियादी स्रोतों से मतलब है।"[4] इस बुनियादी स्रोत की खोज में आगे न जाकर अज्ञेय पीछे ही बढ़ते जाते हैं और अन्त में संस्कृति के आदि तथा बर्बर युग में पहुँच जाते हैं। यह मानव की उस अवस्था का अन्वेषण करते हैं, जब वह संस्कृति तथा समाज की कलुषित छाया से दूर था और अपेक्षाकृत संस्कृत व्यक्ति से अधिक शुद्ध तथा पवित्र था। ऐसे विशुद्ध मानव में उन्हें तीन मूल प्रवृत्तियां दृष्टिगोचर होती है, जो मानव जीवन को नियंत्रित तथा अनुशासित करती हैं। ये प्रवृत्तियाँ हैं—अहम्, भय तथा काम।[5] लेखक का निष्कर्ष है कि प्रेम ने मनुष्य को मनुष्य बनाया, भय ने उसे समाज का रूप दिया तथा अहंकार ने उसे राष्ट्र में संगठित कर दिया।[6] लेकिन अन्यत्र काम और घृणा को ही लेखक मूल प्रवृत्ति मानता है। शेखर की प्रेरणा के पीछे ये ही प्रवृत्तियाँ प्रमुखतः कार्य करती है। शेखर सबसे अधिक एक काम पीड़ित चरित्र है और वह अपने सम्पर्क में आने वाली सभी नारी पात्रों से अपनी इस पीड़ा की पूर्ति चाहता है। यहां तक कि अपनी मौसेरी बहन शशि से भी प्रेम करता है और उसकी अपनी सगी बहन सरस्वती भी उसे केवल स्त्री लगती है। सरस्वती के प्रति भी शेखर में काम भावना विद्यमान है। दूसरी प्रवृत्ति है भय की, जिसके कारण शेखर अनेक बार आत्महत्या का प्रयत्न करता है। 'अहंकार' के कारण वह समाज, माता-पिता, शिक्षा, सम्पूर्ण सामाजिक एवं सांस्कृतिक विरासत तथा विकसित मानवीय भावनाओं का तिरस्कार करता है। वस्तुतः शेखर स्वेच्छाचारी प्रवृत्ति का काम पीड़ित चरित्र है, अतः सामाजिक सम्बन्धों को तोड़ने की हठधर्मिता करता है। वह अकर्मण्य और निरुद्देश्य भी है, इसीलिए आत्म हत्या की ओर उन्मुख होता है।

इस प्रकार शेखर एक ऐसा उच्च मध्यवर्गीय चरित्र है जो अपना स्वस्थ विकास नहीं पाकर हीनता ग्रन्थि से ग्रस्त हो जाता है और अपने व्यक्तित्व का अस्वाभाविक विकास करता है। अपनी अहम् प्रवृत्ति के कारण वह घृणा का प्रचार करता है और सभी कुछ को अस्वीकार करता है। निश्चय ही लेखक का ही यह दृष्टिकोण शेखर के माध्यम से व्यक्त हुआ है। यद्यपि इसे छिपाने के लिए लेखक उपन्यास के पहले भाग की भूमिका में एक झूठ का सहारा लेता है। शेखर तथा उसके रचयिता का जीवन दर्शन एक है। लेखक शेखर के व्यक्तित्व से अपनी तटस्थता, जिसका दावा उसने अपनी भूमिका में किया है, बनाये नहीं रख सका है। बाद का शेखर जिन सांस्कृतिक मूल्यों को प्रस्तुत करता है उसके निर्माण के पीछे उसका आत्म

तथा जिज्ञासु मन प्रमुख रहा है, जिसने एक-एक वस्तु का स्वयं अनुभव किया है तथा ज्ञान प्राप्त किया है। तात्पर्य यह है कि बाल्यावस्था का शेखर जिन अनुभूतियों, विचार-दर्शनों, सदाचार, व्यवहारों तथा समाजगत विद्रोहों को प्रस्तुत करता है, लेखक का प्रयत्न यह रहा है कि उन्हें शेखर का अपना मानसिक गठन कहकर प्रचारित किया जाय, ताकि उसके साथ जाने-अनजाने लेखक की मानसिक बनावट को जोड़ा न जा सके। कहने की आवश्यकता नहीं कि लेखक का यह भ्रमजाल अब काफी कुछ टूट चुका है और लगभग स्थिति सभी प्रबुद्ध पाठकों के समक्ष स्पष्ट हो चुकी है कि बाल्यावस्था के शेखर के संस्कार तथा उसके समाज-विरोधी स्वरूप के पीछे लेखक के अपने संस्कार तथा उसका अपना समाज विरोधी स्वरूप है। जो निरन्तर उसे प्रेरणा प्रदान करता रहा है। लेखक का यह दृष्टिकोण उसके वर्गीय संस्कारों की उपज है तथा उसका मानसिक गठन वर्गीय सांस्कृतिक मूल्यों के आधार पर ही हुआ है। इस प्रकार 'शेखर: एक जीवनी' में प्रस्तुत किये गये सांस्कृतिक मूल्य शेखर की स्वतंत्र साधना का परिणाम नहीं है बल्कि लेखक की समाज-विरोधी विचारधारा का परिणाम है। अज्ञेय जी ने स्वयं लिखा है, "कर्म में विश्वास और सामंजस्य लाने के लिए नैतिक व्यवस्था को खतरे में पड़ने दिया जाये।"[७] स्पष्ट है कि तब तो ऐसे लोगों के विश्वास के लिए समाज की समस्त भावनाएं ध्वस्त कर देनी चाहिये। लेकिन समाज के अस्तित्व को लेखक कहाँ रखेगा और समाज के ध्वस्त हो जाने या कि बिखर जाने के बाद लेखक की नवीन मान्यताएं तथा उसके अभिनव सांस्कृतिक मूल्य अपना क्या अस्तित्व रख सकेंगे, कहना मुश्किल है। इस प्रकार हम देखते हैं कि अज्ञेयजी निवृत्तिमूलक नैतिक मूल्यों को स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार संसार के सभी शास्त्रों तथा स्मृतियों में निवृत्ति मूलक नैतिकता का ही आख्यान है। प्रेम की अपेक्षा घृणा, त्याग की अपेक्षा वासना, सामाजिकता की अपेक्षा असामाजिकता का प्रचार तथा समस्त सांस्कृतिक मूल्यों का निषेध करते हुए अज्ञेय स्वयं भी कई निषेधों की सृष्टि कर जाते हैं। अज्ञेय एक ऐसा जीवन-दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं—जो न तो निवृत्तिमूलक है और न ही प्रवृत्तिमूलक, बल्कि शून्य की स्थिति में उनका पाठक भटकता रह जाता है।

इसी प्रकार इलाचन्द्र जोशी के औपन्यासिक नायक भी घृणा, असामाजिकता, अहम्, प्रतिहिंसा, अनाचारिता तथा स्वेच्छाचारिता का प्रचार करते हैं। इन स्वेच्छाचारी पात्रों की अहिंसा तथा अनाचार का सर्वाधिक शिकार होती हैं, उनके नारी पात्र। जोशी जी दो वर्गों में दुनिया भर के समाज को विभाजित करते हैं—पहला शासक वर्ग, जिसका प्रतीक है पुरुष और दूसरा शासित वर्ग जिसका प्रतीक है स्त्री। 'निर्वासित' (१९४६) में उनकी एक पात्र शारदा कहती है—"वर्तमान युग में सारी मानव जाति को मोटे तौर पर दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—एक

पुरुष वर्ग और दूसरा स्त्री वर्ग। जिस अल्प संख्य सबल वर्ग ने राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक दासता से सारे विश्व के दुर्बल राष्ट्रों या वर्गों को गुलामी की जंजीर से जकड़ रखा है, वह पुरुष वर्ग है और सभी दलित वर्ग, निम्न मध्यम वर्ग, मजदूर, किसान, अछूत, नारी समाज आदि स्त्री वर्ग के अन्तर्गत आ जाते हैं। अगर समाज-शास्त्र का थोड़ा भी कोई ज्ञाता हो तो इस सामाजिक वर्गीकरण की हास्यास्पदता समझते उसे देर नहीं लगेगी।[८] कहने की आवश्यकता नहीं कि इस वर्गीकरण में शासकों तथा शोषितों के मार्क्सवादी सूत्रों को अपनाये जाने के बावजूद भी अभिव्यक्ति फ्रायड तथा अन्य मनोवैज्ञानिक दर्शन को ही मिली है। मार्क्सवाद तथा फ्रायडवाद जैसे दो विरोधी जीवन दर्शनों की एक साथ संयुक्त अभिव्यक्ति जोशी जी से ही सम्भव हुई है।

समाजवाद तथा मनोविज्ञान को मिला कर जोशी जी ने अपने जीवन दृष्टिकोण का निर्माण किया है। उनके उपन्यासों के पुरुष चरित्र भिन्न सांस्कृतिक मूल्यों द्वारा निर्देशित हैं। उनकी स्त्रियाँ विकसित समाज तथा संस्कृति एवं विकसित जीवन-मूल्यों से परिचालित हैं। उनके पुरुष चरित्र-आदिम मानव-बर्बर, युगीन समाज तथा संस्कृति के जीवन मूल्यों से परिचालित होकर वर्तमान समाज एवं संस्कृति का निषेध करते हैं। साथ ही ये चरित्र आधुनिक तथा सुसभ्य, किन्तु स्वेच्छाचारी तथा बर्बर चरित्र हैं।

फिर भी इतना तो स्वीकार करना पड़ेगा कि दो भिन्न युगीन सांस्कृतिक एवं मानवीय मूल्यों के संघर्ष में जोशी जी विकसित समाज के मानवीय मूल्यों का ही पक्ष समर्थन करते हैं, लेकिन यह भी मानना पड़ेगा कि जोशी जी का यह समर्थन ठोस यथार्थ के धरातल पर ही नहीं उतरता है। उदाहरणार्थ, उनकी नारियाँ अपने साथ विकसित जीवन मूल्य लेकर उपस्थित होती हैं और संघर्षों में वे विजयी भी होती हैं, लेकिन उनकी यह विजय केवल आदर्शात्मक है, क्योंकि यथार्थ जीवन में वे पुरुषों से सदैव आक्रांत ही रहती हैं, कभी भी मुक्त नहीं हो पाती हैं। 'जिप्सी' (१९४८) उपन्यास का पादरी लेखक के विचारों को ही व्यक्त करता है। वह पादरी है, मार्क्सवादी है, और सिल्विया के प्रति काम भाव के कारण ही पादरी भी बना है। वह कार्ल मार्क्स तथा ईसामसीह दोनों महापुरुषों में घृणा तथा प्रतिहिंसा की मूल प्रवृत्तियाँ मानता है। पादरी के अनुसार समस्त सभ्यताएं इन्हीं दोनों प्रवृत्तियों से विकसित हुई हैं। बर्बर युग में जो हिंसा और घृणा की प्रवृत्ति छोटे-छोटे गुटों में थी वही सभ्य युग में बड़े-बड़े गुटों के बीच है।"[९]

अज्ञेय तथा इलाचन्द्र जोशी की यहाँ तुलना काफी रोचक तथ्यों से भरपूर लगती है, वस्तुतः निषेध का स्वर दोनों में है तथा दोनों के ही चरित्र एक से,

स्वेच्छाचारी तथा बर्बर हैं, लेकिन इनमें पार्थक्य यह है कि अज्ञेय अहम् के बल पर समस्त समाज तथा संस्कृति के मूल्यों का निषेध करते हैं, जबकि जोशी जी ने हीन ग्रन्थि के सिद्धांत को स्वीकार करके बर्बर पुरुष द्वारा अराजकता के प्रचार का समर्थन किया है। अज्ञेय में अहम् का उदात्तीकरण नहीं हो पाया है इसीलिए उनके चरित्र तानाशाही प्रवृत्ति के लगते हैं, लेकिन जोशी जी मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों के अनुसार इस अराजकता के बचाव के लिए मनुष्य के हृदय में परिवर्तन के सिद्धांत को अपनाते हैं। इस प्रकार अज्ञेय अहम्, भय, काम तथा घृणा को सांस्कृतिक एवं मानवीय मूल्यों का स्रोत मानते हैं और जोशी जी सभ्यता के विकास को हिंसा, प्रतिहिंसा, काम तथा घृणा से सम्बन्धित करते हैं।

प्रेमचन्द युग के उपन्यासकारों का काम सम्बन्धी नैतिक दृष्टिकोण बहुत ही कट्टर था। वस्तुतः जब किसी समाज का युग के अनुसार परिष्कार तथा नवीनीकरण नहीं हो पाता है तथा रूढ़ियों और परम्पराओं के कारण वह विकृत होने लगता है तो यह कट्टरता अपने आप आ जाती है। परिणाम होता है, पवित्रतावादी नैतिक दृष्टिकोण का ढिंढोरा पीटना। स्वामी दयानन्द सरस्वती (१८७५ के आस-पास) इसी पवित्रतावादी नैतिक दृष्टिकोण की स्थापना करते हैं। समाज की विकृतियों से घबड़ाकर कठोर नैतिक मूल्यों का आश्रय ग्रहण करना, युगानुरूप सामाजिक सांस्कृतिक मान्यताओं के अभाव में रूढ़ियों और परम्पराओं की प्रबलता, यह सब आधुनिक युग के सांस्कृतिक नवजागरण-प्रक्रिया की विविध दिशाएं थीं। इस दृष्टिकोण ने स्वस्थ जीवन दृष्टिकोण की स्थापना न करके मूलतः निवृत्ति मार्ग का प्रचार किया। प्रेमचन्दकालीन उपन्यासकारों में प्रायः सभी इस दृष्टिकोण से कमोवेश प्रभावित हुए। इस दृष्टिकोण का सर्वाधिक प्रचार आर्य समाज ने किया तथा हिन्दी उपन्यासकारों में प्रेमचन्द, उग्र, भगवती प्रसाद बाजपेयी, वृन्दावन लाल वर्मा आदि इससे प्रभावित हुए।

इन सभी उपन्यासकारों ने सामाजिक दृष्टिकोण अपनाया और समाज सुधारकों की भाँति सामाजिक समस्याओं की तह में जाकर अपने ढंग से उनका समाधान प्रस्तुत किया। लेकिन निरन्तर लेखक एक अन्तर्विरोधी दृष्टिकोण के शिकार बने रहे। एक तरफ जहाँ विषय-प्रस्तुतीकरण में ये यथार्थवाद के निकट रहे, वहीं दूसरी तरफ समस्याओं के समाधान में घोर आदर्शवादी भी रहे। ऐसा पवित्रतावाद के आग्रह के कारण ही हुआ। अतः उपन्यासकार इस पवित्रतावादी नैतिक दृष्टिकोण का अतिक्रमण करके सामाजिक समस्याओं को गहराई में ले जाकर उन्हें यथार्थ दृष्टि से प्रस्तुत नहीं कर सके। प्रेमचन्द की इसी असमर्थता को हम आदर्शोन्मुख यथार्थवाद के नाम से जानते हैं। प्रेमचन्द, उग्र तथा भगवती प्रसाद बाजपेयी क्रमशः 'सेवासदन', 'शराबी' तथा 'पतिता की साधना' में वेश्या समस्या को उठाते हैं,

लेकिन इनमें से किसी ने भी वेश्या के शारीरिक व्यापार को दिखा सकने का साहस नहीं किया। उसकी वेश्याएं केवल संगीत तथा हृदय का व्यवसाय करती है। वे घृणास्पद इसलिए नहीं हैं कि वे शरीर का व्यापार करती हैं। बल्कि इसलिए हैं कि उनका काम नाचना गाना है। लोग उन्हें वेश्या के नाम से जानते हैं, पुकारते हैं। इन उपन्यासकारों में इतना साहस नहीं कि वेश्या को सही सही वेश्या के रूप में शरीर का व्यापार करती हुई प्रस्तुत कर सकें। जो वेश्याएं शरीर से अपनी पवित्रता बनाए रखती हैं कम से कम लेखक की पुस्तकों में शरीर का व्यापार नहीं करती। उनका चारित्रिक परिवर्तन कराकर समाज में सम्मिलित कर लेने का प्रयत्न अवश्य किया गया है।

वस्तुतः इन लेखकों की समझ में यह बात आ ही नहीं सकती थी कि सतीत्व बेचने वाली नारियों का भी उद्धार हो सकता है। क्योंकि अपनी नैतिकता के सीमित दायरे से ये बाहर निकल ही नहीं सकते हैं। अतः मूलभूत समस्या का कोई स्थायी या सुयोग्य समाधान ये लेखक नहीं प्रस्तुत कर पाये हैं। परख की 'कट्टो', सरला आदि ऐसी ही नारियां हैं, जिनका निर्माण इसी नैतिकतावादी धरातल पर हुआ है।

इस नैतिकतावादी दृष्टिकोण को वृन्दावन लाल वर्मा ने अपने उपन्यासों में व्यक्त किया है। वर्मा जी मूलतः रोमैंटिक भाव-धारा के उपन्यासकार हैं, फिर भी कहीं उनके उपन्यासों में अवैध प्रेम तथा अनैतिक संबंध का जिक्र नहीं आया है। उनके उपन्यासों में शृङ्गारिता, रोमांस तथा प्रेम का आयोजन एकमात्र पतिव्रत, पत्नीव्रत तथा नैतिक मूल्यों के समर्थन के उद्देश्य से ही किया गया है। यही रोमांस का आधार नैतिक दृष्टिकोण ही है। इस नैतिक दृष्टिकोण के कारण आदमी कितना क्रूर हो जाता है उनके 'प्रेम की भेंट' उपन्यास के कामोद के चरित्र के माध्यम से जाना जा सकता है। कामोद, जो सरल तथा मानवीय भारतीय किसान है, अपनी पुत्री का धीरज के साथ प्रेम संबंध सहन नहीं कर पाता है। आवश्यकता यह थी कि लेखक इस नैतिकता पर प्रहार करता, लेकिन नवीन मूल्यों के अभाव में अराजकता की स्थिति से बचाव के लिए यह आदर्शवाद तथा नैतिक दृष्टिकोण का आश्रय ग्रहण कर लेता है।

हिन्दी उपन्यास साहित्य के तीसरे चरण में पहुँचने पर हम पाते हैं, कि इस पवित्रतावादी नैतिक दृष्टिकोण की प्रतिक्रिया इन लेखकों में होती है। ये लेखक पाश्चात्य संस्कृति तथा साहित्य से प्रभावित हुए तथा फायड और अन्य मनोवैज्ञानिकों का भी इन लोगों ने भली-भांति पारायण किया। फलतः फायड के दर्शन में उन्हें काम सम्बन्धी बहुत सी जटिलताओं का समाधान प्राप्त हुआ और मानसिक मुक्तता का अनुभव हुआ। अतः काम सम्बन्धी नैतिक मूल्यों पर प्रहार करने के

के लिए इन्हें एक बना बनाया, वैज्ञानिक दर्शन प्राप्त हो गया। इस प्रकार इलाचन्द्र जोशी, यशपाल, भगवती प्रसाद बाजपेयी आदि उपन्यासकारों ने काम सम्बन्धी परम्परागत नैतिक मूल्यों की उपेक्षा की। इनके पुरुष और नारी चरित्र अधिकांश ऐसे हैं जो विवाह-बंधन में बँधना नहीं चाहते और विवाह के पूर्व ही वे काम संबंध स्थापित कर लेते हैं। पिछले उपन्यासकारों ने वेश्या का चरित्र-चित्रण करते हुए उसे शरीर का व्यापार करते हुए नहीं दिखलाया और उसमें सतीत्व-धर्म की कल्पना की थी। लेकिन इस युग के कतिपय उपन्यासकार अपने आदर्श पात्रों को भी अवैध काम-सम्बन्ध में संलग्न दिखाना आवश्यक मानते हैं। विशेषकर यशपाल में यह प्रवृत्ति सबसे अधिक है।

यशपाल ने समाज में प्रचलित काम संबंधी नैतिक मूल्यों के विरुद्ध अपने मूल्यों को स्थापित करने के उद्देश्य से मार्क्सवादी दर्शन का भी सहारा लिया है। वे न केवल आर्थिक तथा राजनीतिक वरन् नैतिक स्वतंत्रता के भी आकांक्षी हैं। विवाह, सतीत्व, नैतिक सदाचार तथा एकनिष्ठ प्रेम की सभी मान्यताएं यशपाल के अनुसार सामन्तवादी एवं पूंजीवादी समाज के सांस्कृतिक मूल्य हैं। इसीलिए लेखक अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'दादा कामरेड' में विवाह का विरोध करके स्वच्छन्द प्रेम तथा अवैध काम-संबंध की मान्यता प्रस्तुत करता है तथा अवैध संतान को भी स्वीकृति प्रदान करता है।

इसी प्रकार 'देशद्रोही' (१९४३) उपन्यास में पत्नीव्रत धर्म की सीमा केवल मानसिक स्तर पर स्वीकृति की गई है। यहाँ काम तृप्ति की छूट दाम्पत्य में सदाचार में व्याघात उपस्थित नहीं करती। डा० खन्ना पत्नी के लिए व्याकुल तथा नर्गिस से अपना काम संबंध भी चला आ रहा है। इससे उनके पत्नी-प्रेम में कोई व्यवधान नहीं उपस्थित होता। 'पार्टी कामरेड' (१९४६) उपन्यास में लेखक सदाचार का जनाजा निकालने के उद्देश्य से पार्टी सदस्या गीता तथा शहर के नामी गुण्डा पदमलाल भांवरिया का चरित्र प्रस्तुत करता है। लेखक यहाँ यह प्रचारित करना चाहता है कि पार्टी के हित के लिए वैयक्तिक रुचियों तथा नैतिकता के नियमों को भी ताक पर रख देने में हिचक नहीं होनी चाहिए। अपने इस दृष्टिकोण के प्रमाण में यह फासिस्ट दोनों की नैतिकता का प्रमाण उपस्थित करता है। जर्मनी में लड़कियों और स्त्रियों ने अपने चुम्बन बेच-बेचकर युद्ध के समय देश की सहायता के लिए रुपया इकट्ठा किया था और जापान में वेश्यावृत्ति द्वारा देश की सहायता के लिए धन कमाया गया। इस देश में ऐसे काम को किसी भी भावना से नहीं जोड़ा सकता। लेखक गीता द्वारा मुस्कान बेचकर तथा गुण्डे की तृप्ति के लिए सम्पर्क लाभ देकर पार्टी के लिए चन्दा इकट्ठा करने का आदर्श प्रस्तुत करती है। इसके लिए वह फासिस्ट देशों का सहारा लेती है, क्योंकि रूस तथा

भारत की नैतिक संस्कृति उसका समर्थन नहीं कर पाती। राष्ट्र के लिए सभी तरह के नैतिक और मानवीय मूल्यों का समर्पण फासिस्ट देशों की ही सांस्कृतिक दृष्टि है।

इस प्रकार यशपाल साम्यवाद के नाम पर समाज विरोधी तथा भ्रष्ट नैतिक दृष्टिकोण का निर्माण करते हैं। 'मनुष्य के रूप' उपन्यास में वह न केवल विवाह को, बल्कि प्रेम को भी एक प्रकार का आर्थिक समझौता मानते हैं। वह उनके लिए नैतिक महत्व का नहीं, बल्कि परिस्थितिजन्य समझौता है। लेखक की यह लाचारी है कि वह जीवन के प्रत्येक क्षेत्रों में शोषण का स्वरूप देखता है तथा उसका दृष्टिकोण सम्पूर्णतः नैतिकवादी है। उसके अनुसार विवाह भी एक प्रकार नैतिक शोषण ही है, तथा प्रेम भी हृदयगत अनुभूति नहीं, बल्कि भौतिक परिस्थितियों से उत्पन्न वस्तु है। सोमा के बदलते हुए नैतिक एवं मानवीय मूल्य तथा सदाचार को विभिन्न रूपों में प्रस्तुत करने के लिए लेखक ने घटनाओं तथा परिस्थितियों को इस प्रकार अनावश्यक तोड़ा-मोड़ा है कि वह लेखक के हाथ की कठपुतली मालूम पड़ती है। उसका स्वतः स्वाभाविक विकास नहीं हो पाता और न चारित्रिक उच्चता को ही वह प्राप्त करती है। उसे शरीर बेचते हुए पूंजीवादी संस्कृति में अभिनेत्री बना दिया जाता है। लेखक का यहाँ उद्देश्य अगर सोमा की उन्नति के माध्यम से पूंजीवादी सांस्कृतिक व्यवस्था पर व्यंग्य करना रहा है, तो बगैर हिचकिचाहट के यह बात कही जा सकती है कि लेखक अपने इस उद्देश्य में काफी असफल रहा है।

यशपाल भी प्रेम तथा विवाह को भौतिक मानते हैं, लेकिन उन्हें सामाजिक रूप नहीं देते। यही उनकी भ्रांति का मूल कारण है। वह पूंजीवादी नैतिकता के बागन के रूप में काम-सम्बन्धी नैतिक मान्यताओं को देखते हैं। यहाँ हम उन्हें रूसी निहलिस्टों के निकट पाते हैं, जिन्होंने स्वच्छ गिलास से स्वच्छ जल पीने के सिद्धांत का प्रतिपादन किया था। जिसे 'ग्लासवाटर थियोरी' के रूप में जाना जाता है, इसीलिए यशपाल मुक्त काम-तृप्ति की छूट समाज से चाहते हैं तथा नैतिकवादी, साम्यवादी दर्शन के आधार पर इसका दर्शनिकीकरण करते हैं। जबकि साम्यवादी दर्शन के साथ इस दृष्टिकोण का कोई मेल नहीं बैठता। साम्य-

पैदा होता है।[१०] स्पष्ट है कि समाज पर आधारित साम्यवादी दर्शन के अनुयायी होने पर भी यशपाल जी ऐसे नैतिक मूल्यों को प्रस्तुत करते हैं जो नवीन समाज-रचना की क्षमता बिल्कुल नहीं रखता, बल्कि इससे तो सांस्कृतिक सामाजिक अराजकता की ही सृष्टि होती है।

यशपाल के उपन्यासों में 'मनुष्य के रूप' (१९४९) और 'झूठा सच' (१९५९ तथा दूसरा भाग १९६) विशेष प्रशंसनीय हैं। 'मनुष्य के बदलते रूप' में मनुष्य के बदलते रूपों के साथ आधुनिक जीवन से ग्रस्त समस्याओं का चित्रण हुआ है। सामाजिक रूढ़िवादिता और पतनोन्मुखी जीवन के चित्र भी उपन्यास में आये हैं। यशपाल के अनुसार परिस्थितियों के कारण मनुष्यों के रूप में जो परिवर्तन होता है, उसका मू ाधार आर्थिक समस्यायें हैं। शोभा और धर्मसिंह के स्वभाव में जो भी परिवर्तन अ ये हैं उनके मूल में आर्थिक विपन्नता ही कारण रही है। झूठा-सच' में यशपाल मार्क्स-वादी घेरे से बिलकुल बाहर आ गये हैं ऐसा मानना उचित नहीं है; क्योंकि इस उपन्यास में भी उनकी यथार्थवादी सम्बन्धी धारणाएं पूर्ववत् हैं। यशपाल ने जीवन को प्रभावित करने वाली शक्ति के रूप में आर्थिक और सामाजिक आवश्यकताओं को ही प्रमुखता दी है। उपन्यास के प्रथम भाग में जिसे 'वतन और देश' की संज्ञा दी गई है, देश के विभाजन का यथार्थ चित्रण है। साम्प्रदायिक भावना, राज-नीति और समाज को किस सीमा तक दूषित करती है इसका चित्रण उपन्यास में हुआ है। उपन्यास का विकास चरित्रों पर कम होकर परिस्थितियों पर अधिक आधारित है। इन परिस्थितियों का प्रादुर्भाव, राजनीतिक परिवर्तन के अन्तर्गत सामाजिक, पारिवारिक और आर्थिक क्षेत्रों में हुए परिवर्तनों के फलस्वरूप हुआ है। घटनाओं और परिस्थितियों के घात-प्रतिघात में चरित्रों का विकास हुआ है। उपन्यास का कथानक संगठित और व्यवस्थित है।

अपने प्रति बहुचर्चित मताग्रहों के आक्षेप का उत्तर देते हुए यशपाल जी ने लिखा है—"मैं किसी यांत्रिक चिन्तन का दास नहीं हूँ—यौनवादी तृष्णा, व्यक्तिवाद, प्रगतिवाद किसी के चौखटे में, मैं अपने को यांत्रिक नहीं बना सकता। मेरे सामने इतिहास है, जीवन और मनुष्य की पीड़ा है, मनुष्य की चेतना है, जो निरन्तर अन्धकार से लड़ रही है।"[११] यशपाल के उपन्यासों में पीड़ित मनुष्य के प्रति सहानुभूति एवं ममत्व की अभिव्यक्ति सशक्त रूप में हुई है।

अमृतलाल नागर जी के 'बूंद और समुद्र' में रूढ़िग्रस्त समाज की दुर्बलताएँ और उसके अन्धविश्वास पर आधारित मान्यताओं को स्पष्ट कर उसकी विभीषिका में मनुष्य की भावनाओं का चित्रण किया गया है। समाज रूपी समुद्र में मनुष्य बूँद के समान है। समाज रूपी समुद्र में परम्परा विकार, अव्यवस्थित मान्यतायें

गहराई के रूप में हैं और इसी समुद्र में मनुष्य बूँद की भाँति उसमें लिप्त रहते हुए भी निजी अस्तित्व के लिए प्रयत्नशील हैं। उपन्यास का घटना स्थल लखनऊ का चौक है और उसमें प्रथम आम चुनाव के युग का प्रतिबिम्ब है, विशेषतः २८ दिसम्बर १९५१ से लेकर जून १९५२ तक का। इस उपन्यास में सामाजिक व्यवस्था के अंतर्गत भारतीय परिवारों के बनते-बिगड़ते एवं परिवर्तित रूपों का स्वाभाविक चित्रण है, इसके साथ ही शोषण विहीन समाज की आकांक्षा दृष्टिगत होती है।

१९४७ और १९७० के बीच उपेन्द्रनाथ 'अश्क' के अनेक उपन्यास प्रकाशित हुए हैं। इनमें 'गर्मराख' (१९५२) तथा 'पत्थर अल पत्थर' (१९५७) समाजवादी यथार्थवाद के अधिक निकट है। इनमे चरित्रों के माध्यम से युग और जीवन की अभिव्यक्ति है। अश्क ने रूढ़िवादिता पर प्रहार कर नये निर्माण के लिए संकेत भी किए हैं। 'बिना इस समाज का ढाँचा बदले हम जैसों के लिए कुछ नहीं हो सकता।'[१२]

'पत्थर अल पत्थर' मे काश्मीरी जनता का जीवन और जीविका के लिए संघर्ष करता हुसनदीन का चित्रण उपन्यासकार ने अत्यन्त स्वाभाविकता से किया है। उपन्यास में निम्न वर्ग के एक पात्र को नायक का रूप प्रदान कर समाज में सताये जाने वालों की निरीहता और लाचारी का चित्रण किया गया है। हुसनदीन की सहानुभूति में तत्कालिक व्यवस्था के प्रति मन में विद्रोह की भावना जाग्रत होती है। नागार्जुन ने स्वतंत्र्योत्तर काल में (४८-६३) नौ उपन्यास लिखे।[१३] उनके उपन्यासों में जन-साधारण का दर्द और पीड़ा मुखरित हुई है। नागार्जुन ने प्रेमचन्द की परम्परा को आगे बढ़ाया है। उनके पात्र प्रेमचन्द के होरी और गोबर की भाँति सामाजिक व्यवस्था के आघातों से मर नहीं जाते वरन् वे दृढ़ता के साथ संघर्ष करते हैं। उनके पात्रों को अत्याचार सहने की आदत नहीं है। वे खुलकर सामाजिक विकृतियों और अत्याचारों के विरुद्ध झगड़ा करते हैं। उनके उपन्यास यद्यपि समाजवादी सिद्धान्तों से आच्छादित है पर उनमें कोरी सैद्धांतिकता ही नहीं, व्यवहारिकता भी है।

नागार्जुन ने उपन्यासों को सैद्धान्तिक और बौद्धिक ऊँचाई से उतार कर अपनी सशक्त लेखनी और प्रामाणिक अनुभूति के द्वारा उसे जन-सामान्य के बीच प्रतिष्ठित किया है। नागार्जुन के उपन्यासों के संबंध में सुरेश सिन्हा ने लिखा है कि—"उनके उपन्यासों में जीवन दर्शन समाजवादी चेतना के अधिक निकट है। परस्पर समानता स्थापित होना, सबको विकास करने का समान अवसर प्राप्त होना, शोषण एवं वर्ग-वैषम्य का अन्त होना, यही उनके उपन्यासों का मूल स्वर है। उन्होंने ऐसी क्रान्ति का सूत्रपात करने का प्रयत्न अपनी कृतियों में किया है जिसका संबंध ग्राम-जीवन से अधिक है और जिसके सफल होने से ग्रामों की रूढ़ियों

एवं जर्जरित मान्यताएँ समाप्त होंगी और समाजवादी ग्राम-समाज की नव रचना होगी।"[14]

'रतिनाथ की चाची' में मैथिल गाँवों का यथार्थ चित्रण है। रतिनाथ के चरित्र में स्वयं नागार्जुन की संवेदनशीलता है। "रतिनाथ के चरित्र में उपन्यासकार के निजी जीवन के कुछ तथ्यों का समावेश हो गया है। रति के पिता की अकिंचनता, अल्पायु में उसके माँ के स्नेहसिक्त आंचल की सुखद छाया से वंचित हो जाना। धनाभाव के कारण संस्कृत का अध्ययन, परान्नजीवी छात्र जीवन, काशी तथा कलकत्ता की राजकीय संस्थाओं से स्नातक होना आदि घटनायें लेखक के निजी अनुभवों पर आश्रित हैं।"[15] 'रतिनाथ की चाची', 'बलचनमा', 'नई पौध', 'बाबा बटेसरनाथ' और 'वरुण के बेटे' नामक उपन्यासों में सम सामायिक चेतना एवं सामाजिक यथार्थ के सजीव चित्रण उपन्यासकार की वैचारिक दृष्टि एवं अनुभूतियों का प्रतिफल है। यह वैचारिक दृष्टि उन्हें सोवियत क्रांति के फलस्वरूप प्राप्त हुई है।

अमृतराय के प्रमुख उपन्यास हैं—'बीज', 'हाथी के दाँत' 'नागफनी का देश', 'जंगल', 'भटियारी', 'सुख-दुख' और 'धुंआ'। इनमें 'बीज' ने अधिक ख्याति प्राप्त की है। इसके प्रमुख पात्र मध्यमवर्गीय हैं। उपन्यास का नायक सत्यकाम और उसकी पत्नी उषा नये विश्व के निर्माण में विश्वास करते हैं। भैरव प्रसाद गुप्ता मार्क्सवाद के हिमायती हैं। सामाजिक चेतना के साथ व्यक्तिगत चेतना के विभिन्न पक्षों का विश्लेषण उन्होंने अपने उपन्यासों में सफलता के साथ किया है। समाज में मनुष्य की स्थिति को ऐतिहासिक भौतिकवादी दृष्टिकोण से स्पष्ट करते हुए डा० नामवर सिंह ने लिखा है, "समाज में मनुष्य व्यक्ति ही नहीं, बल्कि वर्ग भी है। व्यक्ति साहित्यकार के भी यही दो रूप आते हैं। इसी को विशेष और सामान्य (टाइप) का सिद्धांत कहा जाता है।"[16]

भैरव प्रसाद गुप्त जी ने इसी दृष्टि को अपने उपन्यासों में अपनाने का प्रयास किया है। उनके उपन्यास 'गंगामैया' में बलिया अंचल के किसानों के संघर्ष का चित्रण है। 'जंजीरें और नया आदमी' में सामंती दुराचारों की कहानी व्यक्त हुई है। इसके पात्र यथार्थवाद का क्रान्तिकारी रूप प्रस्तुत करते हैं। 'सती मैया का चौरा' में गुप्त जी ने साधारण किसानों के जीवन एवं संघर्षों का चित्रण किया है। डा० भगवतशरण उपाध्याय ने 'सती मैया का चौरा' के सम्बन्ध में लिखा है—"गाँवों के महाजन और चतुर बैठकबाज, हिन्दू और मुसलमान, जमींदार और रैयत, कांग्रेसी और कम्युनिस्ट सबों का चित्रण लेखक ने भरपूर आस्था से किया है और यह भी दिखाया है कि किस तरह आज का शासक वर्ग अनैतिक जरियों से सत्य का हनन कर गाँव के कर्मठ

जीवन में कुन्ठा उत्पन्न कर रहा है। यही इनकी कृतियों के विषय हैं।''[१०] सैद्धांतिक प्रतिपादन के कारण राहुल सांकृत्यायन के उपन्यासों में मार्क्सवादी दृष्टिकोण व्यक्त हुआ है पर अनुभूति की गहराई के अभाव में वह जीवन को प्रेरित करने में सक्षम नहीं हो सका है। राहुल जी के उपन्यासों की गणना ऐतिहासिक उपन्यासों में की जाती है। राहुल के उपन्यासों के सम्बन्ध में डा० नलिन विलोचन शर्मा ने लिखा है—''साम्यवादी दृष्टिकोण से लिखे गए राहुल सांकृत्यायन के ऐतिहासिक उपन्यास भी उपन्यास कम और नवीन दृष्टि से पुनर्निमित इतिहास अधिक हो गए हैं।''[११] नरेश मेहता का प्रमुख उपन्यास 'यह पथ बन्धु था' (१९६२) में १९२० से १९४५ तक की साधारण जन की गाथा कही गई है। उपन्यास में व्यक्ति और परिवेश का सामंजस्य है। उनका पारस्परिक संघात एक दूसरे को आलोकित करता है। उपन्यास में मानवीय, राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक सम्बन्धों का खोखलापन समग्रता से चित्रित है, और व्यक्ति चेतना को राष्ट्रीय चेतना के अभिन्न अंग के रूप में दर्शाया गया है।

संदर्भ : —

१. 'तीन वर्ष' पाँचवाँ संस्करण, पृ० १०९।
२. भगवतीचरण वर्मा, तीन वर्ष संस्करण, पृ०
३. आत्मनेपद : प्रथम संस्करण, १९६१, पृ० ६७।
४. वही, १९६०, पृ० ६७।
५. शेखर : एक जीवनी : पाँचवाँ संस्करण, भाग १, १९५५, पृ० ४८।
६. वही, पृ० ५१।
७. आत्मनेपद : प्रथम संस्करण, १९६०, पृ० ५१८।
८. निर्वासित : प्रथम संस्करण, २००३, पृ० २०६।
९. 'जिप्सी' : प्रथम संस्करण, १९४८, पृ० २३४।
१०. उदाहरण—डा० राम विलास शर्मा : प्रगतिशील साहित्य की समस्या : प्रथम संस्करण, १९५४ पृ०
११. श्री अश्क, गर्म राख, पृ० १७६।
१२. रतिनाथ की चाची १९४८, बलचनमा १९५२, नई पौध १९५३, बाबा बटेसरनाथ १९५४, वरुण के बेटे १९५५, दुखमोचन १९५६, कुम्भीपाक १९६०, हीरक जयन्ती १९६१, उग्रतारा १९६३।

१३. श्री सुरेश सिहा—हिन्दी उपन्यास उद्भव और विकास, पृ० ४१० ।
१४. डा० सुषमाधवन, हिन्दी उपन्यास, पृ० २०३ ।
१५. डा० नमवर सिह, इतिहास का नया दृष्टिकोण—इतिहास विशेषांक
१६. डा० भगवतशरण उपाध्याय, आज साहित्य विशेषांक १९६० ।
१७. डा० नीलनी विलोचन शर्मा, आलोचना इतिहास अंक १०, पृ० ११८ ।

अध्याय चार

समकालीन हिन्दी उपन्यास : बदलते स्वरूप

समकालीन उपन्यास आधुनिकता से अभिभूत है । आधुनिकता एक तरह से रचनात्मक स्थिति है । उसकी अपनी वैचारिकता और अपना दर्शन है । प्रत्येक युग अपने युग में आधुनिक हुआ करता है । आधुनिकता, पुरातन के विरोध में खड़ी कोई चीज नहीं है वरन् रूढ़िगत विचार, क्रिया और आज के जीवन में अटकाने वाली शर्तों के विरोध में एक वैचारिक क्रांति है । "आधुनिकता का एक पहलू वह है जो बीते हुए से शेयर करता है और दूसरा वह जो उसकी अपनी देन है ।"[1] अतीत तो आधार होता है जिस पर आज के कार्य व्यापार और विचार बनते हैं । हम इतिहास को भुलाकर आगे नहीं बढ़ सकते क्योंकि वह हमें सिखाता है कि हम कितनी कठिनाइयों, अंधकारों में से गुजरकर आये हैं । सुखमय जीवन के लिए हम क्या कर सकते हैं । हम अपने अतीत को तो नकार नहीं सकते । हर युग के अपने जीवन-मूल्य और जीने के तरीके होते हैं । हमें समय के साथ कदम मिलाकर चलना होता है । यदि समय के साथ हम चल नहीं पाते तो पिछड़ जाते हैं। यह पिछड़ापन जितना वैचारिक स्तर पर होता है उतना ही भौतिक जीवन स्तर पर भी । पर यदि वैचारिक स्तर पर पुरातन और भौतिक स्तर पर आधुनिक होते हैं तो यह एक द्वन्द्व की नहीं मंत्रणा की स्थिति होती है ।

डा० रमेशकुंतल मेघ के अनुसार—"आधुनिक होना आधुनिक मनुष्य का ही एकाधिकार नहीं रह जाता क्योंकि आधुनिक मनुष्य (अर्जुन, कौटिल्य, कबीर) भी हुए हैं और इसके पहले भी आधुनिक युगों की कौंध हुई है ।"[2] आधुनिक मनुष्य समय की गति के साथ कदम मिलाता हुआ अपने पूर्ववर्ती मूल्यों से टकराता है । जीवन की जटिलता और समय से टकराहट के क्रम में ही आधुनिकीकरण की प्रक्रिया चलती है । अतः आधुनिकता एक प्रक्रिया है और इस प्रक्रिया में स्वीकृत मूल्य

अस्वीकृत हो जाने की गवाही देकर फिर स्थापित होकर विस्थापित हो जाते हैं। इसलिए इसे मूल्यमयता या मूल्यहीनता में आंकना भी असंगत जान पड़ता है। यदि आधुनिकता एक प्रक्रिया है तो इसके एक से अधिक दौर हो सकते हैं जिनसे यह गुजर चुकी है या गुजर रही है। उपन्यास में या हिन्दी उपन्यास में और समकालीन हिन्दी उपन्यास में इसे किस तरह पहचाना जाये या किस कसौटी पर इसे परखा जाए? आधुनिकता पर गहरा चिंतन पश्चिम में किया गया है। यह चिंतन कभी उपन्यास के अन्त के बीच को लेकर है कभी कथा के अमानवीयकरण की समस्या को लेकर। कभी संबोधन या, या वाचिकता की समस्या को लेकर है तो कभी चरित्रचित्रण की समस्या को लेकर। कभी काल की समस्या को लेकर है, तो कभी देश की समस्या को लेकर। इस तरह का चिंतन विदेश के उपन्यास को आधार बनाकर किया गया है। जिसका इतिहास लंबा है और जिसकी परम्परा सम्पन्न है। हिन्दी उपन्यास का आधार इतना लम्बा नहीं है और न ही इसकी परम्परा इतनी संपन्न है। इसलिए आधुनिकता का बोध इसमें पश्चिम की आधुनिकता के आधार पर तलाशना इतना संगत नहीं जान पड़ता और इतना इसलिए कि आधुनिकता का बोध नगरीकरण की प्रक्रिया से भी जुड़ा हुआ है और उपन्यास की विधा किसी विशेष देश या विशेष भाषा तक सीमित न होकर सब देशों और भाषाओं की हो रही है। इसी तरह नगरीकरण की प्रक्रिया भी सब देशों में जारी है।

हिन्दी उपन्यास में आधुनिकता बोध की शुरुआत 'गोदान' से मानी गई है। गोदान में लेखक ने अपनी उपन्यास की [illegible] है। इसमें आदर्श की दुनिया छोड़ दिया गया है। इसका अन्त इसके [illegible] की तरह अन्त न होकर [illegible] की गवाही देने लगता है। लेकिन इसके [illegible] का [illegible] नहीं किया गया है। [illegible] की यथार्थों होने की स्थिति से [illegible] होने की [illegible] में और [illegible] का [illegible] छोड़ दिया है जो आधुनिकता की [illegible] है। [illegible] उपन्यासकार की [illegible] हुई है। [illegible] होकर प्रेमचन्द की [illegible] है। इसके [illegible] उपन्यास आधुनिकता की दृष्टि से [illegible] 'मां' और '[illegible]' [illegible] छोड़ देती है।

आधुनिकता की [illegible]

करता था। समापन एक रूढ़ि थी जिसे तोड़ा गया है। यह आधुनिकता की चुनौती का नया मोड़ है जो उपन्यास में वर्णित है। यह मोड़ केवल परम्परा का अस्वीकार ही नहीं बल्कि अनुभूति के अन्त का भी अस्वीकार था। इन शब्दों से काफी खेला गया है और हिन्दी उपन्यास के बारे में इनसे थोड़ा और खेला जाये तो असंगत न होगा। इस मोड़ के बाद जब आधुनिकता की प्रक्रिया कुछ तेज होने लगती है तो 'इति' एक बार और 'अर्थ' बन जाती है। इति उपन्यास के बाहर निकलने की गवाही देने लगती है। उपन्यासकार के लिए अंतिम बात करना इसलिए कठिन हो जाता है कि जीवन वास्तव में जटिल होने की गवाही देने लगता है। और वास्तव की जटिलता को उजागर करने के लिए पुराने ढरचरे को तोड़ना पड़ता है, वह चाहे वस्तु का हो या शिल्प का। इस तरह के उपन्यास में अनुभूति का खुल जाना केवल पात्रों को नहीं पाठकों को भी इसका सामना करने के लिए बाधित करता है। अनुभूति जब खुलने लगती है तो उपन्यास की संरचना एक प्रक्रिया के रूप में होती है। आगे की गति होती है अनुभूति का अन्त लाजमी नहीं होता। इसका समापन आवश्यक नहीं होता। इसे समेटना नहीं होता। यह तो सब जानते हैं कि उपन्यास वास्तव दिखता है, उजागर करता है या कहता है यह वास्तव को किस तरह पकड़ता या कहता है—इसे भोगना पड़ता है। क्या इस वास्तव के या अनुभूति के कुछ मानी भी होते हैं ? क्या स्वयं वास्तव या अनुभूति उसके मानी है ? इन सवालों में आधुनिकता का बोध है जिसने उपन्यास की संरचना को बदला है। यदि इसकी शुरुआत 'गोदान' (१९३४-३६) से होती है, जिसमें लेखक ने स्वयं बन्द अनुभूति की परम्परा को तोड़ा है, तो इसकी गवाही अज्ञेय के 'शेखर : एक जीवनी' (१९४१-४४) में भी मिल जाती है। इसमें सहज जीवन का जो निरूपण किया गया है उसका घोर विरोध शायद इसलिए किया गया था कि इसमें बहिन से रति की युग-बोध के अनुरूप नहीं थी। इससे उस समय के पाठक की संवेदना को गहरी ठेस लगती थी। क्या इसमें लारेंस वाली सहज जीवन-दृष्टि है ? यह अलग सवाल है, लेकिन यह सही है कि यह आधुनिकता की प्रक्रिया का परिणाम है जो थोड़ा जोर पकड़ने लगती है। लेखक की संवेदना के गह्वरे में धंसने लगती है।

समकालीन उपन्यास हमने १९६० के बाद का माना है। प्रश्न उठ सकता है कि समकालीन उपन्यास ६० के बाद का ही क्यों ? साठ के बाद के उपन्यासों में आधुनिकता का बोध गहराने लगता है। आधुनिकता की दृष्टि से हिन्दी उपन्यास ने पहला मोड़ शायद 'गोदान' में लिया है। दूसरा 'शेखर एक जीवनी' में और तीसरा शायद 'वे दिन' (१९६४) में लिया गया है जहाँ अन्त केवल खुलने की ही गवाही नहीं देता अंतहीन होने की भी गवाही देने लगता है। अंत उपन्यास के बाहर होने

का बोध कराने लगता है। इसका मतलब यह हुआ कि आधुनिकता एक प्रक्रिया है। जो एक से अधिक दौरों से गुजरने की गवाही देती है।

उपन्यासों के बदलते स्वरूप पर चर्चा करने के लिए आवश्यक है कि हम साठ के बाद के कुछ प्रतिनिधि उपन्यास लेकर जीवन के बदलते स्वरूप, चिन्तन और आज के गतिशील जीवन को पहचानें। अज्ञेय का 'अपने-अपने अजनबी' (१९६१), मोहन राकेश का 'अंधेरे बंद कमरे' (१९६१), नरेश मेहता का 'यह पथ बन्धु था' (१९६२), निर्मल वर्मा का 'वे दिन' (१९६४), शरद देवड़ा का 'टूटती इकाइयाँ' (१९६४), राजकमल का 'शहर था शहर नहीं था' (१९६६), रमेश बक्षी का 'बैसाखियों इमारत' (१९६६), महेन्द्र भल्ला का 'एक पति के नोट्स' (१९६६), उषा प्रियम्वदा का 'रुकोगी नहीं राधिका' (१९६७), मोहन राकेश का 'न आने वाला कल' (१९६८), श्रीकान्त वर्मा का 'दूसरी बार' (१९६८), गिरिधर गोपाल का 'कन्दील और कुहासे' (१९६८), गोविन्द मिश्र का 'अपना चेहरा' (१९७०), प्रमोद सिन्हा का 'उसका शहर' (१९७०), गिरिराज किशोर का 'यात्राएँ' (१९७१), ममता कालिया का 'बेघर' (१९७१), मणि मधुकर का 'सफेद मेमने' (१९७१), मन्नू भंडारी का 'आपका बंटी' (१९७१), बदीउज्जमां का 'एक चूहे की मौत' (१९७१), और कृष्णा सोबती का 'सूरजमुखी अंधेरे के' (१९७२) उल्लेखनीय हैं। अधिकांश उपन्यासों में आधुनिकता का बोध नगरबोध से जुड़ा हुआ है, नगरीकरण की प्रक्रिया से जुड़ा हुआ है। इसकी प्रक्रिया भारतीय परिवेश में या जीवन में इतने गहरे में नहीं धंसी है जितनी अमरीका या यूरोप के परिवेश या जीवन में। इसलिए इन्सान की परिवेश से कट जाने की समस्या और अजातीयता की समस्या जितने गहरे स्तर पर इन देशों के परिवेश और जीवन में है उतनी भारत के नगर-जीवन में अभी नहीं है। इसलिए आधुनिकता संवेदना के धरातल पर इतनी नहीं है जितनी धारणा के धरातल पर है। अजातीयता की समस्या भी पूंजीवादी समाज तक सीमित न हो समाजवादी समाज में भी उठ रही है। यह नगरीकरण की प्रक्रिया का परिणाम है। मशीन युग की देन है। इस तरह आधुनिकता का बोध रोमांटिक बोध का विरोध उसी तरह करता है जिस तरह रोमांटिक बोध ने मध्यकालीन बोध विरोध किया है। आज वास्तव और जीवन वास्तव इतना जटिल हो रहा है कि वह पकड़ में नहीं आ रहा है। उपन्यास इसे पकड़ने की कोशिश में खुद बदलने की गवाही दे रहा है।

अज्ञेय का 'अपने-अपने अजनबी' (१९६१) में मौत का सामना है। उसे पहचानने की कोशिश है। लेकिन जिन्दगी और मौत के बारे में चिंतन काफी बदल रहा है। पहले जीवन को वास्तव माना जाता था और मृत्यु को अवास्तव। यह मध्यकालीन बोध का परिणाम था। इसे अलग-अलग तरह से कहने की कोशिश होती रही है।

मरण के बाद जन्मान्तर है। नींद के बाद जागना है। कयामत के दिन कब्रों से उठना है। फटा चोला बदलना है। आज मृत्यु वास्तव का बोध देने लगी है और जीवन विसंगत होने का। इस चिंतन के मूल में आधुनिकता की चुनौती है। 'अपने-अपने अजनबी' जीवन को मृत्यु के माध्यम से पहचानने की कोशिश है—"सांस की बाधा ही जीवन बोध" है। यह जीवन को मानी देती है। इसमें अस्तित्ववादी चिंतन की झलक है नियति की विवशता है। "एकाएक ऐसा लगता है कि जीवन पैरों के घिसटने के सिवा कुछ भी नहीं है और उसके बीचों बीच जो मुझे अपना ध्यान आता है वह धोखा है। मैं नहीं हूँ और केवल पैरों का घिसटना है।"[3] यह उपन्यास आधुनिकता के उस दौर को सूचित करता है जब इनकी कृतियों में आधुनिकता का अस्वीकार झलकने लगता है। जब वह कविता की तीसरी नाव में सवार होकर "नव रहस्यवाद" की संवेदना को उजागर करने लगते हैं। इस उपन्यास में जगन्नाथन् इसका माध्यम बनता है। अन्य पात्र विदेशी हैं। योके और सेल्मा भारतीय पात्र हैं। पहले खण्ड की बुढ़िया सेल्मा मौत के माध्यम से जीवन की सार्थकता सिद्ध करना चाहती है। उसकी देह से मौत की गंध इस कदर फैल जाती है कि उससे उबरने का तरीका सामने नहीं आता। योके ने युद्ध के आतंक से आत्मघात कर लिया है। पहले दो खण्डों में आधुनिकता का स्वीकार है। लेकिन आखिरी खण्ड में मौत से उबरने में आधुनिकता का अस्वीकार है। इस उपन्यास में जिस भाषा का उपयोग किया गया है वह अस्तित्ववादी चिंतन से जुड़ी हुई है—स्वतंत्रता वरण, विसंगति, मृत्यु बोध। अन्त में योके जिन्दगी को कैंसर मान लेती है। यह समझकर वह आत्मघात कर लेती है कि मैंने मौत वरण कर लिया है, स्वतंत्रता का चयन कर लिया है। संरचना की दृष्टि से 'अपने-अपने अजनबी' कितना ही कमजोर बन गया हो लेकिन मृत्यु के साक्षात्कार में आधुनिकता का बोध है। उपन्यास में ठहरी हुई नियति या मृत्यु बोध और उसका साक्षात्कार, स्थितियों की विसंगति और स्वतंत्र चुनाव की समस्या है।

'अँधेरे बन्द कमरे' का लेखक दिल्ली के आधुनिक जीवन का एक चित्र प्रस्तुत करता है जो भारतीय जीवन का ही प्रतीक है। बीच में कथा के प्रमुख पात्र इंग्लैंड और यूरोप का भी चक्कर काटते हैं। इसमें मध्यम वर्गीय जीवन के चित्र मिलते हैं। पात्र दिल्ली की सर्दी में मीलों पैदल चलते हैं। करलबाग़पुरा की गन्दी बस्ती में जिन्दगी काटते हैं। काफी हाउस और टी-होटल में बैठक जमाते हैं और निरन्तर जीवन से संत्रस्त रहते हैं। समाचार पत्रों के मालिक उनके श्रम का शोषण करते हैं और उन्हें ठगते हैं। विदेशी दूतावास उन्हें नैतिक स्तर पर निरस्त्र करके उनकी प्रतिभा को देशद्रोह के मार्ग पर ले जाना चाहते हैं। यह सब 'कल्चर' और 'फ्रीडम' के नाम पर होता है। सिगरेट के धुँए और काफी की चुस्कियों के बीच

भी वातावरण में काफी ऊब, घुटन और निराशा रहती है। दिल्ली की सम्पूर्ण रंगीनियों के बीच एक अजीब उदासी और थकान पात्रों के मन पर छा जाती है। बादल घिर जाते हैं, वर्षा होने लगती है, ओले गिरते हैं, हवा किवाड़ झकझोर डालती है और अँधेरे, बन्द कमरों में बैठे मनुष्य का मन एक विचित्र बेबसी और अकेलेपन की भावना से भर जाता है। ये व्यक्ति नींद की गोलियाँ खाते हैं, रात-रात भर जाग कर शराब पीते हैं। किन्तु, इनकी व्यथा और अकेलेपन का जैसे कोई इलाज ही नहीं है। जब यह कुण्ठित मध्यम वर्ग का प्राणी अँधेरे बन्द कमरे से निकलकर स्वच्छ और उन्मुक्त सामाजिक वातावरण में प्रवेश करेगा तभी त्रस्त आत्मा को शान्ति मिलेगी। मगर कमरे में अँधेरा है तो कमरे के बाहर भी कम अँधेरा नहीं है। अँधेरे में भटकते रहना नियति है जिसे उपन्यास का हर पात्र भोग रहा है। और इस त्रास से मुक्ति का उपाय बहसों में नहीं मिलता। 'क्षण की अनुभूति' और अनुभूति के क्षण पर लम्बी-लम्बी बहसें काफी हाउस में चलती हैं। असफल लेखकों, पत्रकारों, चित्रकारों और कलाकारों का यहाँ जमघट रहता है। हर एक दूसरे की निन्दा करता है। हर व्यक्ति हर दूसरे व्यक्ति का प्रतिद्वन्दी है। हरएक का हरएक के साथ युद्ध है।" उपन्यास में जीवन की कथा नहीं है, जीवन की स्थितियाँ हैं।

'अँधेरे बंद कमरे' का चित्रपट बहुत विस्तृत नहीं है। आज की सामाजिक पृष्ठभूमि में दो-चार व्यक्ति ही इस चित्र में अंकित हैं। ये पात्र मध्यम-वर्गीय व्यक्ति हैं और सघन कुहासे से इनका जीवन घिरा है। ये अपने ही अंदर बन्द, घुटे, छटपटाते हैं, और बाहर निकलने के लिए तड़पते हैं। इस कथा में दो धागे परस्पर लिपटे हैं। किन्तु, वे अलग-अलग भी हैं। मधुसूदन कस्साबपुरा की गन्दी बस्ती में रहता है जहाँ की तंग गलियों में नालियों का बदबूदार पानी बहता है, जहाँ निरन्तर गाली-गलौज और लड़ाई के कर्कश स्वर हवा में तैरते रहते हैं। नई दिल्ली के रंगीन, किन्तु दूषित जीवन से ऊबकर इसी कस्साबपुरा की ओर मधुसूदन वापस लौटता है। उसका लौटना उसकी नियति नहीं है, वरन् तनावों से मुक्ति का उपाय खोजने की कोशिश है। हरबंस, नीलिमा और शुक्ला का जीवन अधिक सुविधापूर्ण और समृद्ध है। हरबंस और नीलिमा के सम्बन्ध अधिकाधिक बिगड़ते जाते हैं। उनका 'प्रेम' क्या केवल शारीरिक वासना है? विवाह में दो व्यक्तियों के उनझाव और अन्तर्द्वन्द्व की कथा इस उपन्यास में बड़ी सूक्ष्म अनुभूति से और कुशलतापूर्वक कही गई है। हम मधुसूदन की दृष्टि से मानों हरबंस और नीलिमा के जीवन व्यापार को देखते हैं। मधुसूदन मानों किसी ग्रीक नाटक का 'कोरस' पात्र है।

जिन समस्याओं को लेखक ने इस कथा में उठाया है, उनका कोई समाधान वह प्रस्तुत नहीं करता। मनुष्य के सम्बन्धों को मनोवैज्ञानिक की भाँति अपनी अनुसंधानशाला में माइक्रोस्कोप के नीचे देखता है। दाम्पत्य जीवन की इन उलझनों

और विफलताओं का हल क्या है ? नीलिमा हरबंस के घर वापस लौट आती है। सुरजीत ने तीन विवाह करके अनेक स्त्रियों को ठगा है। किन्तु नीलिमा को वहीं सबसे अच्छा आदमी लगता है। हरबंस अपने अहम का बन्दी है, किन्तु अन्त में वह देश और समाज के प्रति ईमानदार प्रतीत होता है। वह धन का लोभ त्याग कर देशद्रोह का मार्ग ठुकरा देता है। शुक्ला, जिसका लगाव हरबंस से है, सुरजीत के साथ कैसे जीवन बिता सकेगी ? क्या मधुसूदन जो सुषमा से प्रेम करता है, ठकुराइन की लड़की से विवाह करके सन्तुष्ट और सुखी जीवन बिता सकेगा ? इन प्रश्नों को पाठक के मन में छोड़कर उपन्यास का अन्त होता है।

इस उपन्यास में मध्यम वर्ग की जिन्दगी, उसकी विषमताओं और विफलताओं का चित्र मिलता है। यह जिन्दगी नई दिल्ली की सड़कों और पुरानी दिल्ली की गलियों में बीतती है। सड़कों की इस जिन्दगी के पीछे लोगों के अपने छोटे-छोटे घरों की जिन्दगी है। इस चमक-दमक और चहल-पहल के पीछे न जाने किन-किन अँधेरी और तंग गलियों की जिन्दगी है। एक नया शहर है जो तेजी से बन रहा है। उसके पीछे एक पुराना शहर है जो धीरे-धीरे ढह रहा है। एक तरफ बड़ी-बड़ी नयी-नयी योजनाओं और नए प्रयोगों की जिन्दगी है जिसकी एक अपनी संस्कृति है। दूसरी तरफ बदबू और गन्दगी में पलती हुई एक सीलनदार कोठरियों की जिन्दगी है, जिसकी एक अपनी संस्कृति है।

एक अकथ अवसाद पत्थर की शिला की तरह जमकर पाठक की आत्मा पर बैठ जाता है। सभी कहीं उसे अँधेरा ही अँधेरा नजर आता है। मध्य वर्ग के संघर्षरत प्राणी के लिए आज प्रकाश की एक हल्की किरण भी कहीं दिखाई नहीं देती। यह आज की दिल्ली है, यह आज का भारत है। यह आधुनिक जीवन का यथार्थवादी चित्र है।

"यहाँ खड़े होकर जरा इस भीड़ को देखो बस पर धक्कम-धक्का करते हुए लोगों की गाली-गलौज, मद्रास होटल के पास के ग्राउन्ड में नवयुवती के साथ संदिग्ध स्थिति में पकड़े गए नवयुवक की भीड़ और पुलिस द्वारा मरम्मत, गेलार्ड के सामने बिकती हुई बेला और गुलाब की वेणियां, पुलिसमैन के डर से भागते हुए बूट पालिश करने वाले लड़के, थियेटर कम्यूनिकेशन्स बिल्डिंग के सामने फुटपाथ पर पड़े हुए अपाहिज का कराहना, भीड़ में खोए हुए अपने लड़के के लिए बिलखती हुई माँ—क्या वह सम्भव था कि इस पूरी भीड़ को तो क्या, इसके किसी एक हिस्से, किसी एक समूह या किसी एक व्यक्ति को ही खिड़की के पास खड़े होकर अच्छी तरह देखा जा सके ?"[४]

इस उपन्यास में लेखक ने मानव-मन के सूक्ष्म अन्तर्द्वन्द्वों को रूप दिया है। बाहरी और भीतरी संसार के खोखलेपन, घुटन और कुंठाओं का लेखक ने उपन्यास

में सजीव, सशक्त, प्रौढ़ और कलात्मक अंकन किया है। इन पृष्ठों में आज के भारतीय जीवन का रूप अपनी संपूर्ण उदासी, व्यथा और विफलता लेकर प्रकट हुआ है। किन्तु इस कथा का मानव सचेत सामाजिक प्राणी भी है। वह संघर्षों में अपने प्राण को होम करने को तत्पर प्राणी है। अपनी समस्त बेबसी और दुर्बलताओं के बावजूद हरबंस और मधुसूदन विषम परिस्थितियों के आगे घुटने टेकने से इन्कार करता है। वह देश के साथ विश्वासघात का मार्ग दृढ़तापूर्वक त्यागता है। इस प्रकार वह आज के आत्म सम्मानी, प्रतिष्ठित भारतीय नागरिक का सहज प्रतीक भी है। मोहन राकेश के दूसरे उपन्यास 'न आने वाला कल' (१९६८) में अनुभूति की धारा बन्द नहीं होती और अन्त उपन्यास के बाहर आधुनिकता की प्रक्रिया का बोध कराता है। इसकी चर्चा यथास्थान की जायेगी।

कुछ वर्षों से विस्तृत कथा-वृत्त को घेरने वाले उपन्यासों में उपन्यासकार अपने निजी अनुभव को विस्तृत सामाजिक परिदृश्य देना चाहते हैं। उपन्यास की अपनी माँग भी हो सकती है कि वह व्यापक परिप्रेक्ष्य में मानव सम्बन्धों का अध्ययन प्रस्तुत करे। जहाँ निजी अनुभव को ऐतिहासिक, सामाजिक परिस्थिति से जोड़ने की आवश्यकता होती है वहाँ दोनों के बीच एक तरह के आदर्श संतुलन का सवाल भी पैदा होता है। इसमें संदेह नहीं कि जहाँ 'यह पथ बन्धु था' में बाह्य घटनाओं का विस्तार है वहीं निजी प्रसंगों की सघन सम्पृक्ति भी है। साधारण व्यक्ति की इस जीवन-कथा में बहुत कुछ घट गया है जो साधारण नहीं। ठाकुर परिवार का विघटन साधारण हो सकता है पर श्रीधर के सम्पर्क में आनेवाले कितने ही असाधारण पात्र हैं जिन पर दृष्टि जानी चाहिए। विपिन, रत्ना और मालिनी—इनमें से किसे साधारण कहेंगे? इन सबके जटिल सम्बन्धों के बीच श्रीधर अकेला ही ऐसा है जो अव्यक्त बना रहता है, यद्यपि वह भी नारायण बाबू की व्याख्या के अनुसार असाधारण उद्देश्य के लिये ही निकला है। निर्वासन की नियति ही उसे सरों से अलग कर देती है। उससे अधिक सहज साधारण है, सरो। क्योंकि उसकी वे महत्वाकांक्षाएं भी नहीं हैं जो विपिन या रत्ना या मालिनी किसी की भी हो सकती हैं। एक ही तरह घटती हुई वह एक ही चक्र में पिसती है, और समाप्त होती है। सीधे तौर पर इस औपन्यासिक वस्तु के दो संसार हैं—एक वह जिसमें श्रीनाथ ठाकुर का परिवार छिन्न-भिन्न हो रहा है। कलह और अमानवीय हद तक शत्रुता से भरे इस वातावरण में पिसने वाला पक्ष श्रीधर का परिवार है जिसकी ट्रेजेडी सबसे अधिक सरो और गुनो के माध्यम से व्यक्त हुई है। दूसरे पक्ष में श्री मोहन और श्री वल्लभ हैं जिनकी पत्नियों की बँटवारे की माँगें श्रीनाथ ठाकुर को इस विघटन का द्रष्टा मात्र बनाकर छोड़ती है। पूरी परिस्थिति में यदि कोई सबसे अधिक टूटा है तो श्रीनाथ ठाकुर। परिस्थिति के किसी भी हिस्से से उनका

नकारात्मक ही है, अर्थात् न कुछ के बराबर है। दूसरे संसार में, जो श्रीधर को छोड़ने पर मिलता है, बिशन, रत्ना, मालिनी जैसे लोग हैं। बिशन का सम्पर्क श्रीधर को उस राजनीतिक के सम्पर्क में लाता है। कमल सहज है और बिशन के प्रति समर्पित। रत्ना के कई रहस्य हैं—वह कभी रत्ना है, कभी रोमी सेक्सन। पर वह पूरी तरह अकुंठ है, खुली हुई है। उसका संकल्प प्राणों को होम कर देने का है। मालिनी की रहस्यमयता शरत् के कुछ दुर्लभ चरित्रों की याद दिलाती है। लछमन के अनुसार "मांजी वेश्या है तो गंगा भी वेश्या है।" मालिनी बिशन के क्रान्तिकारी षड्यंत्रों को जान लेती है और उसके लिए चिन्तित होती है। बिशन के विवाह का प्रस्ताव सुनकर वह कहीं बहुत गहरे पीड़ित होती है, सहानुभूति से पीड़ित पूर्वपक्ष से श्रीधर को देखें तो श्रीधर अध्यापक है। सरी में संयुक्त परिवार व्यवस्था की घुटन है। भाइयों में बड़े हैं श्रीमोहन ठाकुर और छोटे श्री वल्लभ ठाकुर अर्थात् छोटा डाक्टर। पिता श्रीनाथ ठाकुर आजीवन शांत, संतुष्ट है। श्री मोहन अलग होने के लिए उत्सुक है, और श्रीधर जो कुछ सोचते हैं वह हवाई और कल्पनिक होता है। लेखक के अनुसार सरी और श्रीधर दोनों के जीवन के दो वृत्त हैं जो छूते थे लेकिन काटते नहीं थे। सरी और श्रीधर के संबंधों का जैसा चित्रण हुआ है उसके आधार पर अनुभव किया जा सकता है कि एक बीते हुए समय के पात्रों को यहां नयी दृष्टि से देखा गया है। यही कारण है कि दोनों के प्रति निकटता की चर्चा करते हुए ठंडेपन के अनुभव की चर्चा की गयी है। सरी का स्वत्व-व्यक्तित्व, लोक-परलोक श्रीधर में ही लीन हो चुका है। इसलिए उसकी सहिष्णुता पारम्परिक जान पड़ेगी। श्रीधर इतिहास की अपनी रचना में परिवर्तन के लिए तैयार नहीं और त्यागपत्र के लिए सहज प्रस्तुत हैं। त्यागपत्र अस्वीकृत का लक्षण है, और अस्वीकृति नये मनुष्य का स्वभाव है। श्रीधर के मन में विवेकानंद की प्रेरणाएं हैं और जीवन महाप्रस्थान का पथ। श्रीधर अस्वीकार कर सकते हैं पर क्रोध नहीं, क्योंकि वे प्रायः चुनौती अनुभव नहीं करते। इसीलिए यहां संकेत है कि श्रीधर का अनुभव क्रोध का नहीं खेद का अनुभव है। सरी की लड़ाई वासनाहीन और आधारहित लड़ाई है। आरम्भिक प्रसंग में ही बाला साहब की पुत्री इन्दु का उल्लेख है। इस अतीत में इन्दु अभि-भाविका है। इन्दु की आँखें ऐसी हैं जैसे मुख पर सिर्फ आँखें ही हैं। श्रीधर की सहज रागात्मकता के पीछे इन्दु ही है। इन्दु ने श्रीधर के व्यक्तित्व को संवेदनशीलता सौंपी है पर शक्ति नहीं।

इन्दु के विवाह का प्रसंग भी शरच्चन्द्रीय कथा जगत की याद दिलाता है— "कैसा संबंधहीन सम्बन्ध इस पूरे व्यापार में है। एक हम हैं कि प्रत्येक पल में एक-एक बूंद रिसते हैं।"[5] इसके बाद विपुल पृथ्वी को देखने का संकल्प श्रीधर को

उत्तरापथ की ओर ले जाता है। वह सरो से कह आया है कि वह पृथ्वी है। उत्तरापथ के कथानक में भी घटनाएं दो संसारों में घट रही हैं—एक इन्दौर के परिवेश में वहाँ और भी बहुत सी बातें हुई। बिशन कमल का विवाह हुआ। कमल ने स्वीकार किया है कि विवाह उसने इच्छा से नहीं किया। बनारस में श्रीधर और रत्ना एक दूसरे के निकट आये हैं। रत्ना ही श्रीधर को सूचित करती है कि बिशन बाबू नहीं रहे। मालिनी चारों धाम की यात्रा पर चली गयी है। रत्ना का श्रीधर के प्रति कुंठा रहित लगाव है और वह श्रीधर को निवर्माक्त जान पड़ती है। रत्ना के अतीत की वास्तविकता श्रीधर के परिचय से खुलती है। कलकत्ता हाईकोर्ट के जज की पुत्री। वह मधु दा के कारण राजनीति में आयी। श्रीधर को तीन वर्ष के लिये जेल हुई। इस सम्बन्ध के लिए लेखक का संकेत है—"रत्ना श्रीधर के लिए न इन्दु दीदी थी, न सरो थी, न मालिनी दीदी थी। बल्कि पहले दिन से एक सहज मात्र नारी के रूप में आयी थी, जिसने क्रमशः उसके मन के अनेक स्तर उजागर किये जिनसे वे जीवन भर अपरिचित ही रहे। यदि सम्भव हो तो वह उसे प्रेम तक कह सकती है।" वे इतिहास के ऐसे संकट में मिले हैं कि केवल एक को ही चलना है। रत्ना ने श्रीधर को भी क्रान्तिकारी बना दिया था। नवीन और सुबाबू के साथ रत्ना भी गिरफ्तार हुई। उसे फांसी की सजा मिली और श्रीधर को सश्रम दस वर्ष की कैद। रत्ना श्रीधर जैसी एक संस्था को संज्ञा देकर चली गयी थी। इधर सरो का दुःखपूर्ण वृतान्त था। कांता का विवाह हो चुका था। श्रीनाथ ठाकुर के तीनों लड़के दूर और अलग थे। यह छिन्न-भिन्न होती हुई कड़ियों का इतिहास था और इसकी कोई भाषा नहीं थी। सरो को यक्ष्मा ने ग्रस लिया था। फिर गुनी चली गयी। पूरे परिवार में उसकी वापिसी के बाद एक अजीब तरह की घुटन समा गयी थी। सब अपने-अपने ढंग से बीमार हो गये थे। श्रीवल्लभ मकान में हिस्सा और जमा पूँजी का हिसाब चाहता था। परिवार के विघटन के इस घटनाक्रम में अगर कोई अनुपस्थित था तो श्रीधर। श्रीधर जेल से बाहर आया। बनारस में साम्प्रदायिक दंगे हो रहे थे। जनक्रांति का ओर था। इन्दु ने अस्वस्थ श्रीधर की दवादारू कराई और घर लौटने की प्रेरणा दी। सरो की मृत्यु हुई। पच्चीस वर्ष बिताकर लौटे श्रीधर को लगा कि पहले राज्य का इतिहास लिखा था। अब मनुष्य का इतिहास लिखना होगा। कुल मिलाकर वह एक असफल पराजित टूटे हुए और अकेले व्यक्ति की कथा है। एक पूरे युग के सामाजिक जीवन-मूल्यों के संदर्भ में वैयक्तिक अनुभव की संवेदनशील गाथा है। इतने बड़े कथा संसार की मांग इतिवृत्त हो सकती है, जबकि यहाँ भाषा रह-रह कर काव्यात्मक हो उठती है। यह उपन्यास प्रमाणित करता है कि कल्पना की खींचतान छोड़कर भी रचना की कलात्मकता

सुरक्षित रह सकती है। शिल्प का सौंदर्य सरलता का विरोधी हो—यह आवश्यक नहीं।

नरेश मेहता के साथ कवि होने की सुविधा है और यह कवि दृष्टि भी जो यथार्थ को एक व्यक्तिगत पहचान दे पाती है। यथार्थ की इस व्यक्तिगत पहचान में अपनी संकीर्णताएं रह जातीं यदि लेखक में एक लंबे समय के सामाजिक इतिहास के प्रति एक जागरूक दृष्टि न होती। यहां फिर हम अन्तर पर ध्यान देना चाहिए कि जानकारी नहीं बल्कि दृष्टि, बदलते हुए जीवन या विकसित होते हुए जीवन के यथार्थ के चित्रण के लिए जरूरी है। यह दृष्टि ही है जो यथार्थ को उसकी जड़ों में देखती है। जड़ों की स्मृतियां अक्सर रचना में जैसे कि इस उपन्यास में एक सहज पारम्परिक रंग लाती हैं। छोटी-छोटी बातें ऐसे प्रसंगों में यथार्थ का ज्यादा जरूरी हिस्सा बन जाती हैं। जहां बावड़ी का पथरीलापन या ओसारे या छोटी सड़क या म्यूनिसिपैलिटी की लालटेन अर्थ देने लगते हैं। 'जब कभी बावड़ी से पानी लेने जाती है तो उसका गहरा पथरीलापन भूरा, ठंडा वहां कबूतरों की गुटरगूं या एकान्त पीपल का नन्हा सा गाछ अजीब आमंत्रण भरे लगते हैं।" "बापू और मां जाने किस युग के मूक चरित्रों से ओसारे में बैठे सब देखते रहते हैं।"

निर्मल वर्मा के उपन्यास 'वे दिन' (१९६४) में नगर बोध गहरे में है जो यूरोप के नगर का है जहां डियोमीडस शहर में धंस गया है। 'गोदान' और 'शेखर : एक जीवनी' के अंत जहां खुलने की गवाही देने लगते हैं वहां 'वे दिन' का अन्त अंतहीन हो जाता है जो आधुनिकता की प्रक्रिया के अगले दौर को सूचित करता है। यह उपन्यास के पुराने चौखटे को तोड़ता है। कथानक और चरित्र चित्रण आदि की सीमा को सूचित करता है। इस उपन्यास में नगर के परिवेश से कट जाने से अकेलेपन का बोध है। उपन्यास मे रायना अकेली है, उसका पति अकेला है, उसका पुत्र भी अकेला है, फ्रांज भी, मारिया भी, मैं भी; टीटी भी। यह महायुद्ध का परिणाम भी है और नगरबोध का भी। इस तरह अजनबीयता के बोध मे आधुनिकता का बोध उजागर होता है। इस स्थिति में विगत के बारे में या अनागत के बारे में सोचना बेकार है। जागत में ही जीना या मरना है। इस तरह काल बोध का एक दूसरे से कट जाना आधुनिकता को उजागर करता है। काल बोध ही एक दूसरे से कट नहीं जाता। देश बोध भी कट जाता है। एक आयु के बाद घर लौटना नहीं हो सकता। उसकी याद चाहे कितना तंग करनेवाली हो व्यर्थता का बोध भी पात्रों की रंगों में समाया हुआ है। रायना, टीटी, फ्रांज, मारिया सबके जीवन मे एक खास तरह का रीतापन है, उदासीनता है, तटस्थता है जिनके लिए एक दूसरे को जानना बेकार है। अधिक जानना दुख की बात लगता है। इन्सान कहीं ... है,

कहाँ जा रहा है मानव की नियति क्या है ? इसके बारे में कुछ पता नहीं है। इस तरह उपन्यास में आधुनिकता का बोध उजागर होता है। इसमें अकेलेपन का जो बोध है वह मध्यकालीन और छायावादी अकेलेपन के बोध से भिन्न है। मध्यकालीन बोध के अनुसार मानव 'आत्मिक' स्तर पर अकेला है। रोमांटिक बोध की दृष्टि से वह व्यक्ति के स्तर पर अकेला है, लेकिन इस उपन्यास की आधुनिकता के अनुसार वह नियति के स्तर पर अकेला है, उसके अथ और इति का पता नहीं चल रहा है। निर्मल वर्मा की कहानी 'परिंदे' और 'लंदन की एक रात' में भी इसके संकेत मिल जाते हैं। आज के जटिल और गतिशील वास्तव को पकड़ने की कोशिश है, इसलिए उपन्यास में वास्तव की गति को किसी अन्त से बन्द करना कठिन हो रहा है। अनुभूति की धारा या जमीर की धारा उपन्यास से बाहर जाने के लिए विवश है। 'वे दिन' का अन्त शायद इसलिए अंतहीन हो गया है, अधूरा सा रह गया है। कथानायक या कथावाचक की बातचीत से यह उजागर होता रहता है कि अंतिम क्षण बिल्कुल अन्तिम नहीं लगता। वह अपना कोट उठा कर चल तो देता है लेकिन रायना को स्टेशन पर विदा करने के लिए नहीं। नगर बोध से छुटकारा पाने के लिए पहाड़ों पर जाने की सोचता है।

शरद देवड़ा का उपन्यास 'टूटती इकाइयां' (१९६४) आधुनिकता के बोध को उजागर करता है। इसके बारे में यह कहा गया है कि यह कथा लेखन की रूढ़ियों के राजपथ पर नहीं चलता। पगडंडियों पर अपनी राह स्वयं बनाता है। इसमें इने गिने पात्र हैं जिनके नाम तक नहीं हैं। इसके तीन अंश हैं—नारी, पुरुष, पत्नी जो तीन स्वतन्त्र कहानियां हैं और इसका अन्त भी अधूरा है। इनके मूल में आधुनिकता का बोध है जो रूढ़ियों को तोड़ता है, पात्रों को अनाम बनाता है और अन्त को खोल देता है। एक नारी की पुकार अगोचर पुरुष और अजन्में शिशु के लिए है। एक पुरुष को नारी एक बुढ़िया लगने लगती है जो हजारों कोस पैदल चलने के बाद थक चुकी है, अपनी मंजिल के आखिरी पड़ाव की ओर लंगड़ाती चलती जा रही है, जिसे वह पहचान नहीं पा रहा है और पत्नी को ऐसा महसूस होने लगता है कि दोनों के बीच केवल देह का संबंध सूत्र था जो इनको जोड़े था। इसके टूट जाने पर दोनों अपने-अपने दायरे में सिमटकर अलग-अलग दिशाओं में चलने लगते हैं। इन तीन धारणाओं को उपन्यास का रूप दिया गया है। यह दूसरा सवाल है कि यह उपन्यास बन गया है या नहीं। इसमें खोखलेपन, रीतेपन का बोध, मौत का भयावह सन्नाटा उपन्यास में उपन्यास-कला पर चिंतन, आधुनिकता के बोध की गवाही देते हैं। इसमें पुरुष पात्र उपन्यासकार है जो दावा करता है कि उसकी रचना में घटनाएं नहीं होंगी, स्थितियां होंगी। पात्रों का

महत्व नहीं, होगा इसका नाम तक नहीं होगा। मैं, तुम, वह के संबोधन होंगे। अंतिम अंश में पति पत्नी में पत्नी के पेट बढ़ने के साथ-साथ दूरी बढ़ती जा रही है, एक दूसरे के लिए बेअजनबी होते जा रहे हैं। मां बनने के बाद पहचान धुंधली पड़कर गायब होती जा रही है। पति अपनी चहेती से घिर जाता है और पत्नी अपनी संतान से। पति अपनी चहेती के साथ सैर पर निकल जाता है और पत्नी घर में रोटियां सेंकती रहती है। इतना कुछ चार सालों में हो जाता है जिसे अब सहा नहीं जा सकता और इसके साथ उपन्यास का अन्त उपन्यास के बाहर हो जाता है।

राजकमल चौधरी की मूल संवेदना में नगर बोध की सीमाओं की खोज है और इसमें आधुनिकता उजागर होने लगती है। 'शहर था शहर नहीं था' (१६६६) उपन्यास के पहले खण्ड का नाम है—नीलापन और एक ही सपना बार-बार। इसमें नागरिक जीवन के दो स्तर उभरते हैं। एक जिजीविषा की अनुभूति और दूसरा यौनाचार की अनुभूति जिस पर राजकमल ने इतना बल दिया है कि इनकी रचनाओं को भोगवदी कहा गया है। यह सतह पर है या गहरे में—यह अलग सवाल है। शहर अजनबी है। जिन्दगी रोजी की राह पर एकरस चलती रहती है। इस अनुभव के बाद लगता है कि सुबह होगी और यह नगर अपना दोस्त हो जाएगा। इससे अधिक क्या हो सकता है कि शहर के खोखलेपन में कहीं बिजली नहीं गिरी या बम नहीं गिरा। आत्मीयता की बेकार तलाश थोड़े इन्तजार के सहारे जिजीविषा को कायम रखती है। इस नजरबंद जिन्दगी से छुटकारा पाने के लिए अवसर पाकर भी कामना भरी रहती है। इस तरह शहर के भीतर की विवशता के जाल में यौनाचार की अनुभूति का स्वर उभरता है। सामूहिक यौनाचार नगर बोध का पूरक पहलू है। इसके तर्क के वैध भी हैं और अवैध भी। नगर का आंतरिक परिवेश बोरियत से खोखला है। राजकमल की धारणा शायद यह है कि सोसायटी की लड़कियां भीतर से बर्फ या ठंडी होती हैं। इनमें आदमी के दैनिक तनाव को ढोला करने की क्षमता है, लेकिन स्वकीया या परकीया यांत्रिक भोग की चीजें नहीं हैं। वे तनाव को बढ़ाती हैं। इस तरह एक ही नाटक बार-बार खेला जाता है। इस उपन्यास में और अन्य रचनाओं में राजकमल विघटन, विसंगति, संत्रास, यांत्रिक तटस्थता, अजनबीपन के एकांत को उजागर करते हैं। इसकी चरम परिणति को इसकी कविता 'मुक्ति प्रसंग' में आंका जा सकता है जिसमें मौत नगर वधू है नील कन्या मौत की उपलब्धि है। इसलिए नीलापन उनकी रचनाओं में बार-बार आता है। इस उपन्यास का पहला खंड भी नीलेपन से जुड़ा हुआ है। आधुनिकता का बोध कहीं-कहीं गहरे स्तर पर नगर बोध से जुड़ जाने की गवाही देता है।

आदमी के उखड़ने और उद्देश्यहीन होने का बोध, उसके सार के खो जाने का एहसास अजातीयता और अजनबीपन के मूल में है।

महेन्द्र भल्ला के 'एक पति के नोट्स' (१९६९) मे नोट्स लिखने का उद्देश्य अनुभव के छोटे-छोटे टुकड़ों को यथावत् अंकित करना है और इन टुकड़ों को एक फ्रेम में रखकर इन्हें मानी देना है। क्या इसमें मानी देने की कोशिश है इसी इन टुकड़ों से गुजरकर आंका जा सकता है। इस उपन्यास में बेमानीपन का तीखा बोध उजागर होता है और इसे तोड़ने की कोशिश भी उजागर होती है। 'मैं' की कोशिश इससे छुटकारा पाने की है जो आरोपित नहीं जान पड़ती। यह बोरियत केवल लेखक की नहीं, रोज के दायरे में चक्कर काटते जीवन की भी है। इस उपन्यास के बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि इसका मूल स्वर संभोग का है। समकालीन उपन्यास में संभोग की बात बार-बार कही गई है वह चाहे निर्मल वर्मा का 'वे दिन' हो या मोहन राकेश का 'अंधेरे बन्द कमरे'। महेन्द्र भल्ला का 'एक पति के नोट्स' हो या श्रीकान्त का 'दूसरी बार' (१९६८), गिरिराज किशोर का 'यात्राएँ' (१९७१) हो या ममता कालिया का 'बेघर' (१९७१), मणि मधुकर का 'सफेद मेमने' (१९७१) हो या कृष्णा सोबती का 'सूरजमुखी अंधेरे के' (१९७२)। सेक्स की अनुभूति गोदान में मेहता मालती के चुम्बन आलिंगन तक सीमित थी, बन्द थी। लेकिन बाद में यह खुलने की गवाही देने लगती है। इसके मूल में आधुनिकता का बोध है जो पुराने संबंधों को तोड़ रहा है। इनके टूटने में कभी-कभी आदमी भी टूट रहा है। 'एक पति के नोट्स' में 'मैं' टूटता है। वह पत्नी (सीता) की एकरसता से बोर होकर अपने पड़ोसी की पत्नी (संध्या) में उलझकर, उसे घर बुलाकर उससे संभोग करता है। लेकिन इससे कुछ हाथ नहीं लगता। "अभी जो कुछ हुआ वह वही था जो सीता के साथ होता रहा है। इतना ही नहीं यह सीता के साथ ही हुआ है, संध्या के साथ नहीं।"[७] इस तरह निरर्थकता मैं को जकड़ लेती है, वह अपनी पत्नी की ओर जब लौटता है तो बदले में क्रूरता उमरने लगती है। वह यह कहने से बाज नहीं आता कि सीताकी टाँगें मोटी लगती लग रही हैं और उसे खूबसूरत टाँगें भाती हैं। सीता का चेहरा सफेद पड़ जाता है और वह इतना कहकर रह जाती है कि उसे खुबसूरत टाँगोंवाली के साथ भागना था। इस विडम्बना की स्थिति में, मैं अपने को विवश पाता है, पूरे ढाँचे में अपने को अजनबी पाता है।

इस तरह उपन्यास में आधुनिकता का बोध उजागर होता है और वह नगर बोध से जुड़ा हुआ है। यह सही है कि इस उपन्यास में शहरी जिन्दगी की भाग दौड़ नहीं है, लेकिन खाली दुपहरी और सूनी रातों का बोध अवश्य है जो नगर बोधों के गहरे में है। यदि इस उपन्यास में 'मैं' को ही अधिक विस्तार मिला है, और

'मैं' के बाहर का वास्तव अधकहा रह गया तो यह 'मैं' की अपने साथ व्यस्तता का परिणाम है। उपन्यास का अन्त इस बात से हो जाता है कि यह सब कुछ स्वभाव है। अन्तर कहाँ पड़ता है? ऐसे ही जीते रहना है। अपनी बुनियादी असमता को स्वीकारना है। यह बुनियादी है या नहीं, समकालीन अवश्य है। इस तरह उपन्यास का अन्त खुल जाता है, स्वस्थ होकर मैं सड़क पर चलने लगता है।

'एकोगी नहीं राधिका' (१९६७) में एक भारतीय नारी की दुविधा को आधार बनाया गया है जो अपनी दिशा तय नहीं कर पा रही है। वह भारत से अमरीका जाती है और उसे एक सांस्कृतिक झटका लगता है। वह विदेशी की जिन्दगी की आदी होकर अपने देश लौटती है तो उसे दूसरा झटका लगता है। वह अपने को तनाव की स्थिति मे पाती है। उपन्यास में राधिका विदेश चली जाती है। वहाँ आकर उसे जड़ता का बोध जकड़ लेता है। कुछ न बदलने का एहसास उसे घेर लेता है। राधिका ने बचपन से माँ के चल बसने के बाद से, अठारह साल अकेलेपन को जाना है कि यह कितना भयावह होता है, तटस्थता और सूक्ष्मता से इसे उपन्यास में उजागर किया गया है। एक तरफ पिता-पुत्री के अनुराग का तनाव और दूसरी तरफ मनीश-प्रसंग के बीच डोलने की स्थिति अनिश्चितता और सारहीनता का बोध कराती है। वह अपने को परिवेश से कटा हुआ पाती है। आखिर वह मनीष के बारे में तय कर लेती है, लेकिन असली तनाव पिता-पुत्री के सम्बन्ध में है जिसे उपन्यास के अन्त में उजागर किया गया है—"मैंने अपने बारे में कुछ सोचा नहीं है। चाहता हूँ तुम यहीं रहो, राधिका पहले की तरह।" कुछ देर के बाद अंधेरे में उसका जवाब—"नहीं पापा, मैं जाना चाहती हूँ...मनीष...मेरे एक बन्धु।"[४] इस तरह उपन्यास का अन्त खुल जाता है। इसमें आजातीयता, अकेलेपन और अन्त के खुल जाने के बाद बोध में आधुनिकता की प्रक्रिया है। 'न आने वाला कल' (१९६८) में भी यही दौर है। इस उपन्यास का परिचय इन शब्दों में दिया गया है—"एक पहाड़ी स्कूल में कितने लोग थे जो एक ही जिन्दगी के सहभागी होकर जी रहे थे, परन्तु साथ-साथ जीते हुए भी वे सब इतने अकेले थे कि सिवा अपने और किसी के अकेलेपन को महसूस तक नहीं कर पाते थे।"[५] अपने-अपने दायरों में बन्द होकर अपनी-अपनी जगह एक ही बोध को खोज रहे थे अपने न आने वाले कल को। इस न आनेवाले कल में आधुनिकता का बोध उजागर होने लगता है। इस तरह लगता है कि इस पहाड़ी मिशन स्कूल में नगर बोध में धँस गया है जो एक को दूसरे से, सबको परिवेश से काट देता है। मैंने स्कूल की मास्टरी से त्यागपत्र दे दिया है, और यह अनेक अफवाहों को जन्म देता है। उसका त्यागपत्र सबको अपने आनेवाले कल के बारे में संशय से भर देता है, अरक्षित होने के बोध को गहरा देता है। मैं की अकुलाहट और छटपटाहट

को इस ढंग से कहा गया है कि वह उपन्यास के अन्त को इसके बाहर ले जाता है, अनुभूति की धारा से आधुनिकता की प्रक्रिया बन्द होने नहीं देता। मैं के लिए पहाड़ से नीचे पहुँचकर रात की गाड़ी मिलने की सम्भावना नहीं रही थी। "बस का इंजन घ.घरा रहा था आम होकर आगे बढ़ने की कोशिश जवाब दे चुका था।" इस स्थिति में "मैं" एक फल वाले को रोक कर दो बासी सेब खरीद देता है और सत्रह सौ इक्कावन की गाड़ी के टिकिट को एक हाथ से मसलकर कचर-कचर सेब खाने लगता है।" इस निश्चित स्थिति में उपन्यास का अंत खुलने की गवाही देने लगता है। श्रीकांत वर्मा के "दूसरी बार" (१९६८) उपन्यास में सेक्स को या संभोग को लेकर जब आधुनिकता के बोध का मजाक उड़ाया जाता है तो यह एक आरोपित दृष्टिकोण का परिणाम ही कहा जा सकता है। आधुनिकता के बोध के अनेक पहलु हैं और इनमें एक यह भी है। इसे चाहे हिन्दी उपन्यास यात्रा को अंधेरे कमरे से संभोग रूम तक का नाम दिया जाये। एक आलोचक के अनुसार 'वे दिन' में एक देह है और अंधेरा कमरा है। इसमें भी संवेदनाओं का सस्ता संस्करण पेश किया गया है। इसे रचनाकार का निजी दस्तावेज तो कहा जा सकता है, लेकिन आलोचक इसे आधुनिकता से वंचित नहीं कर सकते। 'मैं' खुद को संकोच में छिपाने के हक में नहीं है। दूसरी बार का नायक दब्बू, असहाय और निस्संग है, दुखी और फटेहाल है, जबकि नायिका खुशहाल युवती है। पहली बार वह संभोग में स्खलित हो जाता है और हीनता का बोध उसे घेर लेता है। वह साहस बटोरता है ताकि दूसरी बार वह विजय हासिल कर सके। नर और नारी के एक दूसरे पर विजय पाने की होड़ में डी० एच० लारेंस की दृष्टि झलकने लगती है। इस उपन्यास में लगता है कि यह होड़ कभी बैटिंग का रूप धारण कर रही है तो कभी हाकी के मैच का जिसमें गोल के दायरे में पहुँच कर गोल नहीं हो रहा है। इस तरह तनाव की स्थिति उपन्यास में जारी रहती है। मैं की हीनता की गांठ इतनी जटिल है कि वह बार-बार तुनकने लगता है अपमानित महसूस करने लगता है। यह उसके तनाव के मूल में है। उसका मोह भंग सतह पर है और उसकी विवशता गहरे में है। उपन्यास का अंत अनुभूति की धारा का समापन नहीं करता, इसे समेटने के बजाय इसे खुला छोड़ देता है। नायक शहर छोड़ने की बात सोचता है लेकिन छोड़ नहीं सकता। बिन्दो उसके लिए अभिशाप है और वह उससे छुटकारा पाना चाहता है। नायक दूसरी बार भी पति नहीं बन पाता और नायिका पत्नी जैसा साधारण जीवन जीना स्वीकार नहीं करती। अन्तिम तान नायक के खोकने या के करने में टूटती है वह चलकर एक पत्थर पर बैठ जाता है। बिन्दो उसे अमरबेल की तरह जकड़ लेती है। 'मैं' अंधेरे में दूसरी ओर मुँह फेरे बाएं हाथ से अपना सीना पकड़ खोकने लगता है। इस तरह दोनों में यांत्रिक सम्बन्ध टूटने की गवाही देता है। इस अस्वी-

कार में आधुनिकता का बोध उजागर होने लगता है जो नगर बोध से जुड़ा हुआ है जहाँ कोई नहीं पहचान सकता। कोई नाम लेकर पुकार नहीं सकता है। मैं घास पर पड़े लोगों में से एक है। वह घास पर पड़े रहना चाहता है। यह जगह मेरी है पर झूठ है, दिल्ली झूठ है। जो भी जाना है, पहचाना है, झूठ है।[10]

गिरिधर गोपाल के 'कन्दील और कुहासे' (१६६६) का कथ्य संभोग केन्द्रित उपन्यासों से हटकर है, लेकिन यह भी महानगर के परिवेश में नगर बोध से जुड़ा हुआ है। इस उपन्यास में कथाकार स्वतंत्रता के पिछले बाईस सालों में उस पीढ़ी की बात करता है जो कुंठित और दिशाहीन हो चुकी है। इसका अनागत अंधेरे में घिर गया है और इसका आगत बेठौर है। इन दोनों के बीच यह पीढ़ी अपनी राह खोज रही है। इसमें सारी कहानी एक शाम की है। यह उसी तरह जिस तरह 'चांदनी के खंडहर' में सारी बात चौबीस घन्टों में सिमट जाती है। 'कन्दील और कुहासे' का कथ्य विशु का होकर, उसके परिवेश और परिवार के माध्यम से एक पूरी पीढ़ी का बन जाता है। अगर उसे नौकरी मिलती भी है तो वह बाद में छंटनी का शिकार हो जाता है। इसमें सुरेन्द्र एक पात्र है जो भयावह अंधेरे, एक अनिश्चित जिन्दगी, एक भूल-भुलैये से भटकाव एक आत्मघाती कुंठा के तीखे बोध को पाकर अगर यह कहने पर विवश हो जाता है तो यह आधुनिकता के दूसरे पहलू को उजागर करता है—"गाली गलौज ! यह तो छोटी चीज है जूतों से बात की जानी चाहिए इन बदनामों से इन गद्दारों से।'[11] इस बोध का अगला दौर शायद गाली न होकर गोली हो रहा है। इस उपन्यास के सब पात्र टूटते तो रहते हैं, लेकिन झुकने से इन्कार करते हैं। सुरेन्द्र एक अपवाद है जो टूटने की स्थिति में व्यवस्था का पुरजा बन जाता है, और यह आज के यथार्थ का एक पहलू है। अंत में लेखक मंच पर इसलिए आ जाता है कि विशु की मौत के बाद उस जैसे हजारों युवकों को बचाया जा सके। इसी तरह विशु और मीरा के आपसी संबन्ध को इसलिए रखा गया है कि वह रातरानी की तरह गर्म और झुलसा देने वाले वातावरण में महकता रहे। मीरा भी विशु के लगाये इस पौधे की तरह अभिशप्त है। वह भी आज के दिशाहीन परिवेश में भटकने का करुण संकेत देती है, इसमें भी आधुनिकता के बोध को आंका जा सकता है। गोविन्द मिश्र के 'अपना चेहरा' (१६७०) का 'वह' कटा हुआ है और चेहरे की तलाश के पहले में को एक मुखोटा चढ़ाना पड़ता है। लेखक के अनुसार इंसान कुछ भी नहीं रहा, केवल स्थितियां हैं जो खास कोण, खास रंग, खास क्षण में इसे ढलका जाती है। इस उपन्यास में स्थितियाँ दफ्तरी माहौल की है। मिसेज आजवानी अफसरों को हर तरह से खुश रखती हैं। आज के परिवेश की उलझी को उभारने में आधुनिकता के बोध उजागर होने लगता है। एक बड़े शहर

में "मैं" कितना छोटा था, एक भनुगा भी "मैं" को बड़ा लगता था "मैं" एक गलत जगह पर था। इस तरह एहसास के मूल में नगर बोध है जो आधुनिकता के बोध से जुड़ जाता है। "मैं" को कभी आधेपन का बोध कचोटता है तो कभी अजनबीपन का जिसे 'जिहाद' नामक कहानी में आंका जा सकता है, और यह कहानी इस उपन्यास की कड़ी है—इसकी मानसिकता और संवेदना से जुड़ी हुई है। अगला उपन्यास जिसमें आधुनिकता का बोध गहरे में उजागर होता है वह प्रमोद सिन्हा का 'उसका शहर' (१९७०) है जो नाम और रूप दोनों स्तरों पर नगर बोध से पूरी तरह जुड़ गया है। इस उपन्यास में पात्र जिस यथार्थ को झेलते हैं वह बाहरी कम और भीतरी अधिक है। इसमें उपन्यास के पुराने ढांचे को भी तोड़ना पड़ा है ताकि कथानक और चरित्र-चित्रण के बजाय स्थितियों को उजागर किया जा सके। आज इन्सान के लिए बीतते जाने की संभावना, संवेदना उसे सताती और कचोटती है, और कबीर के हीरा जनम की बात से भिन्न स्तर पर है। लुपिका सोचती है—"यह बीतना अपने आप में कितना भयानक है कहीं भी कुछ भी वापस नहीं आता। बीतते जाने का एहसास उस आत्म-हत्या की तरह है जिसमें आदमी यह अच्छी तरह जानता है कि यदि उसने ऐसा कुछ भी किया, तो उसका अस्तित्व खतरे में पड़ जाएगा और यह खतरा अन्य खतरों की तरह टाला नहीं जा सकता बल्कि इससे उसके अस्तित्व के ही टल जाने की गुंजाइश रहेगी।"[१२] इस तरह की दृष्टि उपन्यास में आंकने को मिलती है। कभी आमूल को बारिश में बोरियत का बोध घेर लेता है तो कभी अपनी पूरी जिंदगी की निरर्थकता का बोध। अमूल को सारी शिकायत अपने भीतर के खालीपन से होती थी। एक महानगर का चित्र बनाने में नगर बोध और आधुनिकता का बोध एक दूसरे में गुंथ जाते हैं। यह चित्र एक बीमार शहर का है। इस तरह की भाषा इस बोध को उजागर करने के काम आती है। इसी तरह प्रोफेसर दशानन भी रीतेपन के बोध से घिरा हुआ है। और इसे भरने के लिए वह छात्राओं को खाने पर बुलाकर फिर रीत जाता है। बोरियत का बोध सब पात्रों में समाया हुआ है। लुपिका के लिए श्री का अकेलापन एक चिन्ता विषय है जिसे झेलना है—"हर चीज का एक निश्चित भुगतान तय है और किसी न किसी तरह, उसकी कीमत चुकानी पड़ती है। न इससे सीधे टकराहट से बचा जा सकता है और न ही इससे किनारा ही काटा जा सकता है।"[१३] आमूल सारी बातों को टुकड़ों में देखता है और आपसी सम्बन्धों में उसे कोई संबद्धता नजर नहीं आती। वह अन्तिम बात कहते-कहते नई बात शुरू कर देता है। इस तरह इति का अथ में बदल जाना आधुनिकता की प्रक्रिया को सूचित करता है। श्री के साथ एग्नी जब बाजार करने बाहर चली जाती है तो श्री पहली बार अपने घर में बेघर महसूस करने लगता है। मित्र की स्थिति भी उस व्यक्ति की है जिसके सामने नाटक होता

चला जा रहा है। लोग अपने-अपने संवाद बोलकर चले जाते हैं और वह तटस्थ है। पत्नी, श्री की तरफ झुक रही है और एक पति के नाते उसमें सब कुछ देखकर चुप रहने की मजबूरी है। वह हल खोज रहा है लेकिन उसे रास्ता नहीं मिल रहा है। इस तरह की स्थितियां उपन्यास में तटस्थता, एकाकीपन, अजनबीयता के बोध को उजागर करती है। सुपिका भी इस तरह की स्थितियों से घिर जाती है। वह आमूल को अपनी आदत का शिकार समझती है। वह नहीं समझ सकी कि मां के रहते आमूल बदल-बदलकर औरतों के हम बिस्तर क्यों चाहता रहा। वह मोथे सम्बन्धों को अस्वीकारती है। वह बंध जाने के बजाय यात्रा करते जीने को बेहतर समझती है। वह विवाह जैसे बन्धनों को आवश्यक नहीं मानती। उसका अस्तित्व टुकड़ों में बंट जाता है और एक दूसरे के बीच उसे कोई नाता दिख नहीं पाता। इस तरह आमूल और सुपिका के सम्बन्धों में केवल सुविधा है। मित्र और पत्नी के सम्बन्धों में बेगानेपन का बोध है। सुपिका और दशानन मे इतनी भिन्नता है कि वे जुड़ नहीं पाते। सुपिका अपनी अस्मिता खोना नहीं चाहती। उपन्यास का अन्त दशानन की अनिश्चित स्थिति में होता है इसलिए यह खुला हुआ है — वह बन्द फाटक पर अपनी हथेलियों को रखकर सामने फैली हुई सड़क की ओर थोड़ा झुक कर कभी इधर और कभी उधर देख रहा था, कभी अपने विगत को तो कभी अपने आगत को। (आगत उसका नहीं है) फाटक बन्द है लेकिन सड़क खुली है जिसके साथ अन्त खुल जाता है। इस तरह प्रमोद सिन्हा के 'उसका शहर' में आधुनिकता का बोध उभरता रहता है। यह जीवन यथार्थ के उस अंश को उजागर करता है जिसका सामना आज के इन्सान को करना पड़ रहा है। यह उपन्यास किसी बड़ी मानवीय स्थिति से जुड़ सका है या नहीं, इसमें आधुनिकता धारणा के स्तर पर है या संवेदना के—इस तरह सवालों को इसकी कृति के बारे में उठाना अधिक संगत जान पड़ता है।

गिरिराज किशोर के 'यात्राएं' (१९७१) उपन्यास में "एक नव विवाहित जोड़े की एक दूसरे को समझने की कोशिश और कश्मकश में बीते कुछ दिनों की नाजुक कहानी है।"[१४] कहानी नहीं स्थितियां हैं। मसूरी की यात्रा बाहर की है। मसूरी में यात्रा भीतर की है जहां समझने की कामना जारी है। इस उपन्यास में संभोग चित्रण की प्रधानता है, लेकिन संभोग सम्पन्न नहीं हो पाता और इस स्थिति में अनेक आंतरिक यात्राएं जारी हो जाती हैं। पत्नी सुबह ताजा लगती है, दिन में उसे खटास लग जाती है और रात होते-होते यह बासी हो जाती है। पत्नी की यह स्थिति पति में शिथिलता पैदा कर देती है। मारक शिथिलता में यह बोध जगाती है कि वन्या कुछ दिनों साथ रहने पर भी उससे उतनी ही अपरिचित है जितनी रात अंधेरे में पसरा यह पहाड़ी नगर। इस तरह नगर बोध जो पहाड़ पर बसा गया है आधुनिक के बोध से जुड़ जाता है। अंदर और बाहर की यात्राएं अपरिचय से शुरू

होकर अपरिचय के साथ बन्द हो जाती है। वह जानती है कि पति की इस हालत के लिए वह खुद जिम्मेवार है और मैं उसे समझने की कोशिश में यह कहता है कि वह हमेशा ऐसा नहीं रहेगा। इस स्थिति में कभी अजनबीपन से छुटकारा पाने की बात है तो कभी बोरियत से, लेकिन दोनों से घिरे रहना इनकी नियति है जो अभिशप्त है। इस उपन्यास में पति-पत्नी संभोग के बिना उसी तरह अपरिचित बने रहते हैं जिस तरह अन्य उपन्यासों में पति-पत्नी या आदमी-औरत संभोग के बाद और अधिक अपरिचित हो जाते हैं या अकेले पड़ जाते हैं। मसूरी में बारिश की वजह से सब कुछ भीग जाता है सिवा इन दोनों के। इस तरह की काव्यात्मक भाषा महीन परतों के खेलने के काम आती है और व्यंग्य का झीना पुट स्थिति का सामना करने के लिए काम आता है। इन दिनों यह शहर खाली है, इसकी सड़कें खाली हैं, इन पर सैर करने वाले खाली हैं। आपस में वे 'आप' से 'तुम' नहीं हो पाते। उपन्यास के अन्त में 'मैं' का वन्या को किसी और को सौंपने की बात सोचना और 'मैं' में नीती की याद का ताजा होना मसूरी से लौटने पर बाधित करता है। कहाँ लौटना है यह अनिश्चित है और इसमें अन्य खुल कर आधुनिकता के बोध को उजागर करता है। 'मैं' के लिए पूरा नगर एक अपरिचित मेहमाननवाजी बन जाता है जो उसके बराबर बैठा उसे ताक रहा है।

'बेघर' (१९७१) ममता कालिया का उपन्यास है जिसमें संभोग संदेह में बदल जाता है। इस तरह समकालीन उपन्यास संदर्भों का न होकर संबंधों और स्थितियों का होता जा रहा है। इससे यह आशय नहीं है कि आधुनिकता की प्रक्रिया संदर्भों को उजागर नहीं करती, संबंधों और स्थितियों को ही उजागर करती है। इस उपन्यास की आधारशिला आधुनिकता और संस्कारबद्धता के बीच तनाव को लेकर रखी गई है। इसमें एक लड़की के कुँवारेपन को पुरानी कसौटी पर परखा गया है। संजीवनी से संभोग के बाद परमजीत को यह एहसास कचोटने लगता है कि वह पहला नहीं है। परमजीत को पहला न होने की यातना उसे आधुनिक युग का पुरातन पुरुष बना देती है। संजीवनी संभोग के समय न चीखी, न पुकारी, न ही उसे खून आया। इसलिए परमजीत पर पहला न होने का दुख इतना हावी हो जाता है कि वह दोनों के संबंधों को तोड़ देता है। ममता कालिया ने इस रूढ़ि पर चोट करना चाहा है। संजीवनी अपने अंग के जरा से फैलाव के बाद कुँवारी है। चरित्रहीन नहीं है। इसमें परमजीत का जीवन टूटन और ठहराव से घिर जाता है। वह रमा जैसी कंजूस, फूहड़, दकियानूस और स्वार्थी लड़की से शादी करने के बाद निरन्तर अजनबीपन और खालीपन के बोध से अधिक टूटता चला जाता है। इस टूटते हुए अन्दाज में संजी का ख्याल आना इस बात को स्वीकारता है कि यह उसकी अपनी नियति है। रमा की ज्यादतियों ने परमजीत को एक पुरजा बना डाला है।

उपन्यास का अन्त लाजिमी नहीं है। परमजीत का अन्त करने के लिए शायद यह अन्त लाजिमी है। इस उपन्यास की संरचना में आधुनिकता की प्रक्रिया धीरे-धीरे उभरती है। परमजीत पहले अकेला है, संजीवनी का आसपास भी अकेला है। लेकिन उससे जुड़कर वह अकेला नहीं है। शहर भी अजनबी नहीं है। परमजीत के मन में कुँवारेपन की धारणा उसकी जीवन दिशा ही बदल देती है। वह संजीवनी से टूटकर या कटकर अपनी निजता खो देता है। वह औसत पति और औसत बाप तो बन जाता है लेकिन अपनी पहचान खो बैठता है। इसमें यहाँ तक तो आधुनिकता की प्रक्रिया जारी है, लेकिन उपन्यास का अन्त जिसे परमजीत के अन्त मे दिखाया गया है, इस प्रक्रिया को ठप कर देता है। इस उपन्यास में संजीवनी और परमजीत दोनों बेघर हैं संजीवनी ज्यादा ही।

मणि मधुकर का उपन्यास 'सफेद मेमने' (१९७१) का परिवेश इन उपन्यासों से हटकर है। यह महानगर न होकर रेगिस्तान है। इस उपन्यास में अकेलापन, अजनबीपन, बेगानापन है, एकांत है जो महानगर के एकांत से भी भीषण है। वैसे एकांत, एकांत है चाहे हजारों लाखों मनुष्यों, शोर-शराबे के बीच हो या सुनसान, सांय-सांय करने वाला एकांत हो। इस उपन्यास के कुछ पात्र या मेमने, जो सफेद हैं, वो मगर बोध को लिए हुए हैं। राजस्थान के एक छोटे से गाँव नेगिया में रहते हैं, जिसका खालीपन पराया-पराया लगता है। मणि मधुकर का कवि इसके खालीपन को पकड़ने के लिए भाषा को नया मोड़ देता है। इसकी परतों को उघाड़ने के लिए, इसकी तरलता को हथियाने के लिए कभी संज्ञा को क्रिया में तो कभी क्रिया को संज्ञा में ढालता है। इस बियाबान के साथ साथ में दमघोंट एकाकीपन गहराने लगता है। रामोतार पोस्ट मास्टर, जानवरों का डाक्टर बग्गा, जस्सू आदि में आधुनिकता का बोध कभी बेगानेपन मे उजागर होता है तो कभी अकेलेपन में। कभी जिंदगी और मौत के चिंतन में तो कभी व्यर्थता के बोध में। नेगिया गाँव मनहूस है, जीवन का परिवेश मनहूस है, जिसमें इन्सान को सांस लेनी पड़ रही है। इसमें संभोग और बलात्कार के प्रसंग भी हैं। इस उपन्यास में संभोग कभी खुले टीले पर है तो कभी कोठरी में है। बग्गा की दृष्टि में आधुनिकता झलकती है। रामोतार पोस्ट मास्टर की पत्नी रेगिस्तान के एकांत में अकेली है। जानवरों के डाक्टर का भैंस से संभोग रेगिस्तान के एकांत का परिणाम है जो उसके ताप को ठंडा करता है। इस गाँव का डाकिया इसे नगर से जोड़ने वाली कड़ी है। बग्गा के व्यक्तित्व में आधुनिकता का बोध बार-बार उभरने लगता है। वह रामोतार की जिन्दगी से जितना प्यार करता है उतना ही उसकी मौत से। दोनों के बीच विभाजन रेखा खींच देना उसके बस की बात नहीं है। उसे अम्मल लेने की या अफीम खाने की

लत शायद इसलिए पड़ चुकी थी कि बोरियत से अस्थायी छुटकारा पा सके। इसी तरह ठहराव की स्थिति को इस मनहूस गांव में आंका गया है जहाँ तीन या तीस सालों में अंतर नहीं पड़ता। यहाँ का हाल बदलने वाला नहीं है। कभी-कभी व्यंग्य के छींटे इस ठहराव को तोड़ने के काम आते हैं। रामऔतार अपनी बोरियत काटने के लिए कभी गिलहरियों को दाना चुगाते हैं तो कभी हिरणों का शिकार खेलने चले जाते हैं। रब्बे डाकिया को यह लगता है कि रेत के इन ढहों में रहने वाले सभी लोगों का जीवन शीशे की पेटी मछलियों की तरह है—लगता है कि सब मनोरंजन दुआ दे रहे हैं। क्या जस्सू, क्या डाक्टर, क्या पोस्ट मास्टर, क्या बन्ना और क्या वह खुद। सब मनोरंजन है, एक दूसरे को बजा रहे हैं। जो जितना हलाल होता है वह उतना ही तेज बजता है।'[१५] इस तरह की संवेदना में भीगा यह उपन्यास काव्यात्मक स्तर पर उठने लगता है। अंत में डाकखाने के टूट जाने के साथ बन्ना और रामऔतार के सम्बन्ध भी टूट जाते हैं। उपन्यास का अंत आधुनिकता का बोध लिए हुए है। ये लोग अपने अस्तित्व को रेत के रेतीलेपन में डुबो देना चाहते थे। जितनी हड़बड़ी और विवशता में वे आये थे-उतनी ही उतावली और उदासी के साथ वापस चले गए, बिखर गये। पीछे रह गई बही धूल, वह किरकिराहट जो दांतों से अधिक धमनियों के खून में बजती है। नेगिया खाली हो चुका है। एक-एक करके सबको याद किया जा रहा है। उपन्यासकार मंच पर आकर अपना संवाद बोलकर चला जाता है कि रेवड़ की तमाम भेड़ों को पीछे छोड़कर अचानक कुछ सफेद मेमने निकल गए हैं। वह खुद भी एक सफेद मेमना है।

मन्नू भंडारी के उपन्यास 'आपका बंटी' (१९७१) में आधुनिकता की पहचान करना संगत भी है या नहीं; यह दुविधा बनी रहती है। एक तरफ यह उपन्यास आंसुओं से गीला लगता, भावुकता में भीगा लगता है और दूसरी तरफ बंटी मां और बाप दोनों से कटकर मिसफिट होने का बोध कराता है। क्या इस उपन्यास में नई कहानी की आधुनिकता का आंकना सही है? बंटी के मां-बाप में तलाक हो जाता है। बंटी मां के पास है। मां की दोबारा शादी हो जाती है। बंटी के लिए नये पिता के घर रहना कठिन होता है। वह बाप के यहाँ जाता है। उनका भी दूसरा विवाह हो गया है। वहाँ नयी मां के पास रहना कठिन होता है इसलिए उसका हास्टल में रहना लाजिमी हो जाता है। वहाँ जाने से पहले वह जिन स्थितियों से गुजरता है उसका चित्रण उपन्यासकार ने कुशलता से किया है। लेकिन इस कुशलता में कहाँ आधुनिकता उजागर होती है? क्या इसकी रचना इस अंत को दृष्टि में रखकर की गई है? क्या इसका उद्देश्य बंटी के मिसफिट हो जाने में लक्षित होता है? बंटी की समस्या मानवीय है। लेकिन इस समस्या को निभाने

में या उपन्यास का रूप देने में मन्नू भंडारी और माँ इतने घुल मिल जाते हैं कि लेखिका की दृष्टियाँ ममता से गीली होकर धुँधली पड़ जाती है, तटस्थ नहीं रहती। भावुकता की धारा बार-बार छूटने लगती है। कहीं-कहीं आधुनिकता के संकेत भी मिल जाते हैं जो इस धारा में बह जाते हैं। "शकुन के लिए साथ रहने की यन्त्रणा भी बड़ी विकट थी और अलगाव का त्रास भी। इस साल का विवाहित जीवन—एक अंधेरी सुरंग में चलते चले जाने की अनुभूति से भिन्न नहीं था। आज जैसे एकाएक वह उसके अंतिम छोर पर आ गई है।—पर कैसा यह छोर। न प्रकाश, न वह खुलापन। न मुक्ति का अहसास। लगता है जैसे इस सुरंग ने इसे दूसरी सुरंग के मुहाने पर छोड़ दिया है—फिर एक और यात्रा। वैसा ही अंधकार वैसा ही अकेलापन।"[१६] इसमें आधुनिकता का बोध झलक दे जाता है। लेकिन बंटी को लेकर बार-बार भावुकता की धारा बहने लगती है जो आधुनिकता को बहाकर ले जाती है। यह कभी शिकंजी की बात को लेकर है तो कभी आम के पौधे को लेकर, कभी मम्मी को लेकर है तो कभी पापा को लेकर, और फिर पापा को लेकर है। यह संदेह होने लगता है कि मन्नू भंडारी की लेखिका लिख रही है या इनसे माँ लिखवा रही है। बंटी का रोना पहले बाहर है और फिर भीतर चला जाता है, मौन धारण कर लेता है। बंटी फूफी के चले जाने पर निपट अकेला हो जाता है और यहीं से उपन्यास की रचना व्यंग्य के स्तर पर उठने लगती है। कभी व्यंग्य मम्मी का दूसरी शादी के बाद नये नाम को लेकर है तो कभी बंटी के नये नाम को लेकर—बंटी जोशी, अरूप जोशी। बंटी के बारे में जब यह कहा गया है कि वह फालतू है, अकेला है, मिसफिट है, तो इसमें आधुनिकता के बोध को आंका जा सकता है। लेकिन जब उपन्यास में भावुकता की धारा, आँसुओं की धारा थमने में नहीं आती तो यह आधुनिकता को बहाकर ले जाती है। बंटी के लिए एक घर में उसके पापा हैं मम्मी नहीं है। दूसरे घर में मम्मी हैं तो पापा नहीं हैं। इसलिए उसकी नियति वहाँ रहने में है जहाँ दोनों नहीं हैं, जहाँ शायद वह [illegible] है।

काफ्का के उपन्यास 'अभियोग' में नायक केवल "क" बनकर रह जाता है। इसमें आधुनिकता का बोध उजागर होने लगता है। डा० हरदयाल ने एक चूहेमार को नायक कहा है और दूसरे को उपनायक। उपनायक "ग" है जो चित्रकार भी है। दोनों बड़े सरकारी दफ्तर में तीसरे दर्जे के चूहेमार हैं। यानि छोटे चूहेमार हैं यह दफ्तर जिसमें उपन्यास के परिवेश को समेटा गया है। एक बड़े तंत्र का संकेत देता है, जिसमें इन्सान की हस्ती या हैसियत एक चूहेमार से अधिक नहीं है जिसका काम चूहे मारने के सिवा कुछ नहीं है जहाँ चूहे मरते और पैदा होते जाते हैं। इस तरह यह तंत्र बेमानी है, बेकार है, लेकिन इसके बिना हस्ती खतरे में पड़ सकती है। यह बोध अस्तित्ववादी दृष्टि को उजागर करने लगता है। जिसके मूल में आधुनिकता की प्रक्रिया है। यह बोध नगरीकरण की प्रक्रिया से भी जुड़ा हुआ है। एक महानगर में इन्सान या चूहेमार की संवेदना को लिए हुए है। उपन्यास की शुरुआत होती है—"वह छोटा चूहामार था—तीसरे दर्जे का।" वह रोटी कमाने के लिए चूहेखाने में या केन्द्रीय सचिवालय में चूहामार का काम करता है। यानी चूहे मारता है, यानी फाइलों को निपटाता है। "ग" भी "वह" के साथ इसी चूहेखाने में चूहे मारता है। इस काम से "ग" को नफरत है, लेकिन अपना और अपनी माँ का पेट भरने के लिए यह काम उसे करना पड़ता है। उसकी माँ जब मर जाती है तो वह यह काम छोड़ देता है और चित्र बनाने का काम करने लगता है। उसके चित्र से न तो रोटी कमाते हैं और न ही नाम कमाते हैं। इस दशा में वह एक गंदी बस्ती में रहने वाली सोनिया का आश्रय पाता है लेकिन एक सफल चूहामार है साधारण चित्रकार है। "ग" में इतनी जलन पैदा कर देता है कि वह आत्मघात कर लेता है। यह उपनायक चूहेमार की मौत की कथा है जिसे कहने का अंदाज उपन्यास में त्रासदीय व्यंग्य को लिए हुए है। नायक चूहेमार की कहानी थोड़ी लंबी है। "ग" की खुदकुशी का इतना गहरा असर इस पर पड़ता है कि वह चूहे म.रने के काबिल नहीं रहता। उसकी बदली चूहेखाने से मुहाफिज खाने में की जाती है जहाँ मारे गये चूहों को सुरक्षित रखा जाता है। बदीउज्जमां चूहेखाने और मुहाफिजखाने के एक-एक नियम एक-एक तरीके को इस तरह बयान करते हैं कि समूचा यथार्थ पकड़ में आने की गवाही देने लगता है। व्यंग्य बात-बात में इस तरह उभरता है जिस तरह केले के पात से पात निकलता है। इस व्यंग्य में आधुनिकता का बोध गहराने लगता है। चूहामार नायक खुद चूहा बन जाता है। छोटे चूहेमार को जो अब चूहा बन गया है मुहाफिज खाने में घुसने नहीं दिया जाता। जब वह सदर दरवाजे से या सीधे दरवाजे से घुस नहीं पाता तो वह एक गंदी नाली से घुसने की कोशिश करता है जो असफल साबित होती है। नाली के मुहाने पर जाली लगी हुई है जिसे

वह काट नहो पाता। वह पाइप का सहारा लेकर इसकी छत पर पहुँच जाता है जहाँ से उसे बाहर कर दिया जाता है। वह मुहाफिजखाने के बड़े चूहेमार को उसके घर पर मिलता है, लेकिन वह उसकी सहायता नहीं कर सकता। नियम इस तरह के हैं। इन नियमों पर लेखक की गहरी पकड़ उसी तरह है जिस तरह छोटे-बड़े और बीच के चूहेमारों के जीवन पर या रंग-बिरंगे चूहों पर है। इस छोटे चूहेमार का संघार जारी है। उसे सरकारी मकान से निकाल दिया जाता है, उसकी बहिन कहीं चली जाती है और वह पागलों की तरह उसकी खोज में निकल जाता है। इतने में वह एक जगमगाते भवन में चित्रकला की नुमाइश का विज्ञापन देखता है। और यह जानकर चकित हो जाता है कि "ग" के चित्रों को "प" अपने नाम से दिखा रहा है। वह जब असाधारण स्थिति में चीखने लगता है कि चित्र "प" के नहीं "ग" के हैं तो "प" उसे धधकती आग में फेंक देता है। इस तरह दूसरे छोटे चूहेमार का अन्त होता है जो चूहा बन चुका है। यह अन्त उपन्यास के बाहर होकर आधुनिकता की प्रक्रिया को सूचित करता है। इस यंत्रणा में उसे महसूस होता है कि सदियों से जमीं मैल उसके मन और शरीर से उतरती जा रही है। उसे लगता है कि केवल "ग" रह गया है जो मरकर भी अमर है। आधुनिकता का बोध उपन्यास की रगों में समाया हुआ है, इसलिए यह धारणा के स्तर पर न होकर संवेदना के स्तर पर है। जिसका मतलब यह हुआ कि नगर बोध गहरे में धस गया है। डियोनीसस देवता जो नगर में घुस गया था, अब वह इसमें धंस गया है। इस उपन्यास का उद्देश्य केवल सचिवालय की व्यवस्था या सरकारी व्यवस्था पर चोट करना नहीं बल्कि पूरे तंत्र पर चोट करना है। इसलिए "ग" अपने पत्र में यह लिख गया है चूहेखाना सिर्फ वह नहीं है जहाँ तुम काम करते हो या जहाँ मैं काम करता था। "सारी दुनिया ही एक बड़ा चूहाखाना है जहाँ चूहामार बनकर ही जिन्दगी बसर की जा सकती है। जो चूहे नहीं मारता उसके लिए इस दुनिया में कोई जगह नहीं है।"[१७] "प" महान् चित्रकार नहीं है एक सफल चूहामार ही है वह चित्र नहीं बनाता चूहे मारता है। इस तरह का करारा व्यंग्य उपन्यास के धरातल को ऊँचा उठा देता है। क, ख, ग नामों से न केवल आज के युग में नामहीनता को उजागर किया गया है, तटस्थता को भी सूचित किया गया है। इस उपन्यास में फैंटेसी का झीना परदा है। जिसके भीतर से यथार्थ झांक उठता है। आज के महानगर में इन्सान किस तरह अपनी अस्मिता को खो रहा है, चूहों की संगत में किस तरह चूहेमार से चूहा बन रहा है, इसका अंदाज और बयान इस उपन्यास को रेखांकनीय है।

कृष्णा सोबती का 'सूरजमुखी अंधेरे के' (१९७२) में आधुनिकता के धरातल पर मनोविज्ञान की गूढ़ पहेलियों को बड़ी सादगी से आंका गया है और इसके साथ ही शिल्प के पुराने साँचे को तोड़ा गया है। शुरू में ही यह संकेत किया

गया है कि रत्ती वह सड़क है जिसका किनारा नहीं है। वह आप ही अपनी सड़क का आखिरी छोर है। क्या रत्ती या रिक्तिका 'मित्रो मरजानी' का आधुनिक रूप है जो चलते-चलते सड़क के आखिरी छोर पर पहुँच गया है? क्या वह सचमुच गीली लकड़ी है जो जब भी जलेगी धुआँ देगी? क्या वह वास्तव में बुरी लड़की है जिसने बुरा काम किया है और खून निकला है? इसके लिए उसे कितनी यातना सहनी है? क्या वह इतनी ठंडी और मनहूस है कि उसके बारे में यह कहा जाय कि उसके पास पहने कपड़ों के सिवाय गरमाहट नहीं है? भानुराम, सुमेर, सुब्रामनियम, राजन, श्रीपत उसकी राह से गुजर जाते हैं। वह भानुराव से समय की भाषा में कह रही है—"जब-जब कोई नंबर मिलाया है कभी सही जगह, घंटी नहीं बजी।"[१८] वह सुब्रामनियम से कहती है—"जिसने गरीबी को ओढ़ लेने के लिए कीमती कपड़े पहने हों—जिसके सम्बन्धों की कोई रियासत न हो—दिखाने के नाम पर एक तेवर तक नहीं—"[१९] इस तरह जयनाथ से कहती है कि बेटे बनाने की कला इस औरत के पास नहीं है। इस तरह की भाषा में आधुनिकता का स्वीकार है—हर मोड़ एक नया मोड़ भविष्य नहीं।—कुछ तो होगा जिसका मुझे इन्तजार है। कोई तो होगा जिसे मेरा इन्तजार है। पर नहीं, रत्ती को सिर्फ रत्ती का इन्तजार है।"[२०] वह आइने में देखती है कि उसकी पुरानी देह में ताप नहीं है। वह पथरीली अहल्या है जो न पिघलती है, न टूटती है, न छोटी होती है, और न ही बड़ी। राजन भी इसी परिणाम पर पहुँचता है कि यह शायद औरत भी है या नहीं - इतनी ठंडी है। अब विवाहित श्रीपत की बारी है—उसके साथ भी कुछ नहीं हो पाता। लेकिन कुछ होने का सिलसिला जारी रखा गया है और दिवाकर से सब होकर ही रहता है। इसे इतना विस्तार दिया गया है कि उपन्यास संभोगीय कोटि में आ जाता है और अन्य सब कुछ दब जाता है। अन्तिम तान दिवाकर के इन्तजार में यदि न तोड़ी जाती है तो उपन्यास में आधुनिकता की प्रक्रिया संभोग में अवरुद्ध हो चुकी थी। यह संयोग की बात है या सकारण है कि समकालीन हिन्दी उपन्यास आकार में छोटा होता जा रहा है। क्या विस्तार में यथार्थ को पकड़ना उपन्यास में कठिन हो रहा है? क्या लंबी चौड़ी हांकने का जमाना बीत गया है। मतलब यह है कि आधुनिकता-बोध अभी उथले में है। गहरे में नहीं धँस पाया है।

इस प्रकार समकालीन उपन्यास में आधुनिकता की प्रक्रिया जारी है। यह आधुनिकता-बोध जिन्दगी के व्यापक परिवेश को ▮ नहीं पाया तभी तो विस्तृत फलक के उपन्यास लिखे नहीं गए। लघु उपन्यास जीवन की विविध स्थितियों को उजागर करते हैं। बदलते हुए जीवन में यांत्रिकता का प्रवेश मानव को उसके मानवीय गुणों से परे करता जा रहा है। मानव स्वार्थ की परमावस्था को छूने लगा है।

यांत्रिकता ने शहरीकरण को जन्म दिया है। भीड़ से घिरा आदमी कहीं अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए बेचैन है, तो कहीं अपने परिवेश में मिसफिट है,

तो कहीं अपने स्वार्थ के लिए मुखौटा लगाए है, तो कहीं चैन खोजने के लिए संभोग की जुगाड़ जमाता है, तो कहीं अपनी बोरियत से मुक्त होने के लिए प्रयत्नशील है। इस बीच नारी पुरुष के बदलते रिश्ते समकालीन उपन्यासों में उभरे हैं। पुरुष की दृष्टि पुरातन है। नारी आधुनिकता के परिवेश में फैशनेबल है पर अपनी सुरक्षा के लिए पुरुष का सहारा लेना आवश्यक समझती है। एक तरफ जहाँ राधिका जैसी नारी है जो अपने पिता से झगड़कर विदेश चली जाती है तो वहीं संजीवनी जैसी नारी है जो अपने माता-पिता की खातिर नौकरी करती है। बिन्दो दूसरी बार लौट कर अपने पति के घर आती है। वैसे ही नीलिमा अंत में हरवंश के पास लौट आती है। वस्तुतः आज उपन्यास में मानव की नियति और स्थिति उजागर होती है।

संदर्भ।—

१. विपिन कुमार अग्रवाल — आधुनिकता के पहलू, पृ० १७।
२. आधुनिक बोध और आधुनिकीकरण, पृ० ५६।
३. अपने-अपने अजनबी, पृ० ८८
४. अंधेरे बन्द कमरे में—
५. यह पथ बंधु था।
६. यह बंधु था।
७. एक पति के नोट्स।
८. रुकोगी नहीं राधिका।
९. न आने वाला कल।
१०. दूसरी बार पृ०, १२८।
११. कंदील और कुहासे, पृ० १७७।
१२. उसका शहर, पृ० ६४
१३. उसका शहर, पृ० ६६।
१४. यात्राएँ।
१५. सफेद मेमने, पृ० १२०।
१६. आपका बंटी, पृ० ३६।
१७. एक चूहे की मौत, पृ० ७३।
१८. सूरजमुखी अंधेरे के, पृ० ८१
१९. वही, पृ० ८५।
२०. सूरजमुखी अंधेरे के, पृ० ८६।

प्रेमचंदोत्तर उपन्यास के विकास में समकालीन हिन्दी उपन्यास का योगदान तथा मूल्यों के क्षेत्र में उसका प्रदेय

प्रेमचन्द के बाद हिन्दी उपन्यास की विविध धारायें विकसित होती हैं। एक मनोविश्लेषण की, दूसरी अस्तित्ववादी चिन्तन की, तीसरी समाजवादी विचारधारा की, चौथी सामाजिक विचारधारा की, पाँचवीं ऐतिहासिक विचारधारा की जो इतिहास से कुछ सिखाने की मन्शा लिए हुए है।

मनोविश्लेषणधारा के उपन्यासकारों में जैनेन्द्र प्रमुख हैं। त्यागपत्र (१९३७), कल्याणी (१९३९), सुखदा (१९५२), व्यतीत (१९५३), विवर्त (१९५३), [illegible] (१९५६) और मुक्तिबोध (१९६५) उपन्यास साहित्य की निधि हैं।

त्यागपत्र (१९३७) : जैनेन्द्र कुमार ने 'त्यागपत्र' में नारी की पीड़ा को उजागर किया है। मृणाल जिसका पालन-पोषण अपने भाई-भाभी के यहाँ होता है। विनोद दूसरा पात्र है जो मृणाल की समूची वेदना का द्रष्टा और [illegible] भी है। मृणाल, विनोद की बुआ है जो प्रायः अपने वयः [illegible] की पात्र बन चुकी है। उसका विवाह कुपात्र से कर दिया जाता है। [illegible] त्याग कर वह एक साधारण कोयले के व्यापारी के [illegible], बाद में उत्पन्न बच्ची की मृत्यु और प्रायः [illegible] यथार्थ से मृणाल का संघर्ष उसके जीवन की [illegible] रोमांच और सम्वेदना तक भर जाता है। [illegible] मनो संसार को खोलती है।

और परिवेशगत पीठिकाओं में से होकर गुजरा है वे इस साक्षात्कार की ही पृष्ठभूमि है। शेखर को प्रभावित करने वाले पात्रों में शशि का प्रमुख स्थान है। शशि एक की विवाहिता है दूसरे की प्रेमिका। शशि उसके लिए टूटती है मिटती है। यह समस्या है, प्रेम और नीति की। शशि रमेश की पत्नी है, शेखर की प्रेमिका। दूसरे, शशि शेखर की सगी मौसेरी बहन भी है। आधुनिक युग में नारी अपने पति के लिए तन और प्रेमी के लिए मन की विवशता का शिकार होती है। समाज की नैतिकता के विरुद्ध वे चल नहीं पाते। शशि के परित्यक्ता होने के बाद दोनों अपेक्षित समीपता को प्राप्त नहीं कर पाते। लेखक के आदर्श की गूँज है—"शेखर, मैंने सदा तुम्हें प्यार किया है। पाप मैंने कभी नहीं किया।"[१]

शेखर में बचपन के कटु अनुभव हैं, जिसमें उसने शिक्षण का तिरस्कार और अवज्ञा सीखी। अछूतों के प्रति सम्वेदना का जागना, गांधी के असहयोग आन्दोलन से प्रभावित होकर बालक शेखर का स्वदेशी कपड़े पहनने लगना, विदेशी कपड़ों की होली जलाना, अंग्रेजों से घृणा, अंग्रेजी से घृणा आदि बीज शेखर बालक हृदय में जमते गए। युवावस्था में प्रवेश करते ही नई जागृति के लिए एंटिगोनम क्लब की स्थापना करना। वेश्या समाज की आर्थिक दुरावस्था की अनुभूति, क्रान्तिकारियों के सम्पर्क में आना। रूढ़िवादियों की सभा में भाषण करना आदि से शेखर का व्यक्तित्व निर्मित है। उपन्यास में शेखर का व्यक्तित्व उसके अस्तित्व की रक्षा के लिए प्रयत्नशील भी है।

शेखर हिन्दी उपन्यास शिल्प में एक नई दृष्टि का उन्मेषक है। हिन्दी उपन्यास में नायक के चरित्र विश्लेषण का अंकन इतनी गहराई से पहली बार हुआ है। लेखक स्वानुभूति की सचाई का प्रभावोत्पन्न करने में सफल रहा है। प्रखरता, तीव्रता और गहराई इसके प्रमाण हैं। कुल मिलाकर शेखर की विशेषता फिलिप हैंडसेन के शब्दों में—"Novel itself has come to be regarded as primarily a form of self analysis."[२]

गिरती दीवारें (१९४७) : उपेन्द्रनाथ अश्क के इस उपन्यास में निम्न मध्यवर्गीय जीवन की बहुविधि विकृतियों—जड़ संस्कारों, जर्जर रूढ़ियों, सामाजिक विषमताओं, पूँजीवादी शोषण तथा दुर्बल विद्रोहजन्य घुटन, पीड़न का चित्रण है। कथानक या चेतन के चिन्तन से स्पष्ट होता है कि व्यक्ति और व्यक्ति के बीच जो दूरी की दीवारें हैं वे सामाजिक-आर्थिक विषमता—की दीवारें हैं। चेतन ही नहीं चेतन-परिवार के व्यक्तियों के चित्रण के आधार पर भी ये दीवारें गिराने का प्रयत्न हुआ है। अटूट एवं रूढ़ पतिनिष्ठा के कारण नारी की दुरावस्था तथा पुरुष के नारी पर अन्याय-अत्याचार की क्रूरता चेतन के माँ-बाप के जीवन-चित्रण के माध्यम से प्रस्तुत हुई

है। चेतन की जीवन-गति के स्वाभाविक प्रवाह में आए या लाए गए पात्रों के व्यंग्य-चित्रों द्वारा भी सामाजिक पाखंडों की पोल खोली गई है। दूसरों से अपनी इन्टरव्यू लिखवाकर मात्र हस्ताक्षर से अखबारों में नाम कमाने वाली रायारानी, दूसरों के चुराये शेरों-कविताओं को अपने नाम से सुनाकर रौब जमाने वाले कवि हुनर साहब, औरों के लेखन को खरीदकर अपने नाम से पुस्तकें छपवाने वाले कविराज रामदास आदि अनेक पात्रों का व्यंग्य-चित्रण हुआ है।

चेतन विषमता की दीवारों को गिराने के लिए सोचता है—"सोचते-सोचते क्रोध का एक बवंडर सा चेतन के मन में उठा। उसका जी चाहा कि यदि कहीं उसे अधिकार हो तो वह सारे के सारे मुहल्ले को धराशयी कर दे। उसकी नीवें तक खुदवा डाले जिसमें सदियों से बीमारियों के कीड़े पक रहे हैं। नए सिरे से स्वस्थ लोगों का मुहल्ला बसाये।"[3] वह सोचता है कि "ये दीवारें कभी नहीं गिरेंगी क्या? क्या इनकी चार दीवारी में घुटकर मरने वाले स्वतंत्र होकर कभी सुख की सांस न ले सकेंगे?"[4]

बलचनमा (१९५२) : नागार्जुन के इस उपन्यास में निम्नवर्गीय पात्र खेत मजदूर 'किसान' के जीवन का यथार्थ चित्रण है। यह उपन्यास बलचनमा की आपबीती कथा है। वह कहता है "गालियाँ, पिटाई, तिरस्कार, अपमान, दुतकार और फटकार यही वह रास्ता था जिस पर से मेरा जीवन आगे की ओर खिसक रहा था।" बलचनमा की अपनी तथा वर्ग-संघर्ष की कहानी के साथ अचल की झांकी प्रस्तुत की गई है। उपन्यास के आठ अध्याय मानो बलचनमा के जीवन के ऐसे आठ मोड़ हैं जो उसके एक स्थिति से दूसरी स्थिति में आने से नए-नए अनुभवों को खोलते और इन्हीं अनुभवों के भीतर से उसके जीवन विकास को प्रदर्शित करते हैं। बलचनमा का यह जीवन-विकास ऐसी समाज सापेक्ष व्यक्तिगत परिस्थितियों तथा राजनैतिक आन्दोलनों में ग्रस्त पात्रों के मध्य हुआ है कि भारत के स्वाधीनता-संग्राम की झलक के साथ, निम्न एवं उच्च वर्ग की आपसी विषमता, पूँजीपति जमींदारों की शोषक, अनैतिकता और वर्ग चेतना का विकास भी सिमट आया है। पहले अध्याय में वह निपट अशिक्षित तथा अनुभवहीन ग्रामीण है। जमींदार मालिकों की बहियागिरी तथा चरवाही से उसकी आजीविका का आरम्भ होता है। इस तरह जमींदारों की शोषण प्रवृत्ति, दुर्व्यवहार, अत्याचार तथा अमीराना अहंकार का चित्रण हुआ है। दूसरे अध्याय में उसे नगर में एक मोराजी बाबू का नौकर बनाया गया है। चौथे अध्याय में गांधी आश्रम का प्रमुख कार्यकर्ता बना। बलचनमा की व्यक्तिगत बाध्यतायें ही उसको ऐसी परिस्थिति में ले जाती रही हैं कि उपन्यास के वर्ग-संघर्ष संबंधी राजनैतिक उद्देश्य की सहज सिद्धि हो सके। दूसरे,

लेखक की यह दृष्टि भी रही है कि वह बलचनमा के बेबसी, गरीबी, शोषण तथा जमींदारों के अत्याचारों का वर्ग प्रतिनिधि चित्र प्रस्तुत कर सके।

बलचनमा की आत्मकथा को वास्तविकता देने में वातावरण और भाषा शैली ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। हिन्दी उपन्यास साहित्य में अंचलीय वातावरण विधान में समर्थ अंचलीय भाषा का सर्वाधिक प्रयोग पहले इसी उपन्यास में हुआ है। अंचल-चित्रण में यथार्थवादी कला की आत्मीयता एवं विश्वसनीयता इस उपन्यास में उपलब्ध होती है।

नदी के द्वीप (१९५१) : अज्ञेय कृत 'नदी के द्वीप' को डा० देवराज उपाध्याय ने हिन्दी उपन्यास की श्रेणी में तकनीक की दृष्टि से अद्वितीय कहा है।[*] नदी के द्वीप में यौन तृप्ति, प्रेम, विवाह आदि की समस्याओं के माध्यम से व्यक्तिवादी जीवन दर्शन को प्रस्तुत किया गया है। भुवन और चन्द्रमाधव के दो प्रतिद्वन्दियों में रेखा की *प्रणय प्राप्ति में भुवन ही सफल होता है।* पर आगे चलकर वह गौरा के प्रति भी समर्पित होता है। इन बाहरी प्रतिक्रियाओं के अंतराल में जो अवधि है उसको कल्पना के अणुवेक्षण से विस्तृत रूप से देखा गया है। टेकनीक में अज्ञेय की कला चलचित्र प्रमाण की उस पद्धति से मेल खाती है जिसे क्लोजअप और स्लोमप कहते हैं। इन दोनों पद्धतियों के संयोग से एक विचित्र सुन्दरता आ गई है जो अन्य औपन्यासिकों की रचना में दुर्लभ है।

मैला आंचल (१९५४) : फणीश्वरनाथ रेणु के 'मैला आंचल' तथा 'परती परिकथा' शब्द के वास्तविक अर्थ में आंचलिक उपन्यास है। यद्यपि नागार्जुन का 'बलचनमा', 'मैला आंचल' से दो वर्ष पहले प्रकाशित हुआ और वह हिन्दी का पहला आंचलिक उपन्यास है। किन्तु 'मैला आंचल' के प्रकाशन के बाद ही उसे आंचलिक कहा गया। 'मैला आंचल' में परती धरती का उल्लेख है, मुख्य समस्या वह 'परती परिकथा' की ही है। जितेन्द्र को उन सभी ग्रामीणों से संघर्ष करना पड़ा है जो धरती को न जोतने देने की धार्मिक रूढ़ि, पुराने हलों के स्थान पर नये वैज्ञानिक साधनों के उपयोग में आशंका, अज्ञानता तथा कोशी मैया पर बाँध बाँधने की अंधविश्वासी कल्पना में ग्रस्त रहे हैं। ग्रामीणों की इस प्रतिगामिता का विश्लेषण भी हुआ है। भारतीय ग्राम-संसार में होने वाले प्रकृति परिवर्तनों से परिचित हैं। "यह बात नहीं कि पहले कोई परिवर्तन नहीं हुआ समाज में। परिवर्तन होते रहे हैं। बात है परिवर्तन की गति की, बैलगाड़ी और जेट प्लेन की गति।"[*] भारतीय ग्रामों की गति बैलगाड़ी की ही रही। यही विडम्बना है परानपुर की भी, परती भूमि का प्रश्न मुख्य रूप से परिकथा तथा मैला आंचल में उठाया गया है। डा० प्रशान्त यही अनुभव करता है कि खेतों में फैली हुई काली मिट्टी की संजीवनी इन्हें जिलाये रखती है। ऐसी अवस्था

में जमींदार की क्रूरता के कारण अपनी जमीन से बेदखल हो जाने वाला किसान कैसे न छटपटाये। रेणु ने इस संघर्ष के यथार्थ चित्रण के लिये जहाँ किसानों का भूमि से सहज भावात्मक सम्बन्ध चित्रित किया है वहाँ उनके आर्थिक, धार्मिक और राजनैतिक प्रभावों पर भी दृष्टिपात किया है। डा० प्रशान्त अनुभव करता है कि भूख से तिल-तिल कर मरने वाले के लिये जिलाना बहुत बड़ी क्रूरता है। डा० प्रशान्त कहते हैं "यहाँ इंसान हैं कहाँ ? अभी पहला काम है जानवर को इंसान बनाना।"[५] 'मैला आंचल' में गांव के शोषण के साथ शाश्वत सांस्कृतिक प्रश्न को संयुक्त किया गया है।

बूँद और समुद्र (१९५७) : यह अमृत लाल नागर का वृहदाकार उपन्यास है। डा० रामविलास शर्मा ने इसके व्यापक सामाजिक चित्रण की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। 'बूँद और समुद्र' पुरानी समाज व्यवस्था के बनते बिगड़ते और बदलते हुये भारतीय परिवार का महाकाव्य है तथा "जितना सामाजिक अनुभव संचित है यह उसे अपने ढंग का विश्वकोश बना देता है।" डा० शिवनारायण श्रीवास्तव इसे "गोदान की परम्परा में सामाजिक यथार्थ के चित्रण का एक उत्कृष्ट साहित्यिक आयोजन मानते हैं।"[६] यह उपन्यास प्रतीकात्मक है। यहाँ बूँद व्यष्टि का प्रतीक है और समुद्र समष्टि का और इन दोनों के समन्वय की चिरन्तन समस्या ही इस उपन्यास का विधेय है। इसमें मुख्य दो कथायें हैं, पहली लखनऊ के मुहल्ला चौक की कथा जिससे उपन्यास आरम्भ हुआ है और दूसरी चौकेतर कथा जिससे उपन्यास का अंत हुआ। पहली कथा का केन्द्र है—ताई और उसके चारों ओर का समाज, दूसरी ओर का केन्द्र है सज्जन और उसके मित्र—विशेष रूप से महिपाल। पहली कथा परम्परागत समाज-व्यवस्था की रूढ़ियों और परिवर्तनों के साथ भारतीय जीवन के गुण-दोषमय विचित्र विरोधाभास तथा नगर की हलचल को प्रस्तुत करती है। कथा बड़ी मंथर गति से, रोचकता बनाये रखते हुए चलती है। पात्रों में संघर्षजन्य उत्थान-पतन का व्यापक वर्णन है। यह संघर्ष पहले वनकन्या को लेकर सज्जन और उसके मित्रों, तथा वनकन्या के घरवालों से मिले हुए कुछ कांग्रेसी नेताओं सालिगराम, जानकी सरन और अन्ततः राजा साहब से होता है। यह संघर्ष राजनैतिक है। महिपाल का संघर्ष आर्थिक है।

'बूँद और समुद्र' में अनेक पात्र आये हैं जिनमें चारित्रिक विभिन्नतायें हैं। पात्रों के चेतन ही नहीं अचेतन को भी अमृत लाल नागर ने अनावृत किया है। बूँद और समुद्र में काल की दृष्टि से प्रथम आम चुनाव के पहले की कुछ स्थितियाँ हैं। कथा क्षेत्र लखनऊ और उसमें भी खास तौर पर चौक को लिया गया है। 'बूँद और समुद्र' में हिन्दी की उपन्यासिक परम्परा की एकान्विता का परिहार और परिस्कार

हुआ है। 'बूंद और समुद्र' में अंतर और बाह्य तत्वों का पर्याप्त संतुलन समन्वय हुआ है।

उसका बचपन : हिन्दी कथा साहित्य की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है। इसने अपने समय के कथालेखन को कई कोणों से अतिक्रमित किया है। अपने पूर्व के औपन्यासिक ढांचे को इसने कई स्तरों पर तोड़ा है। कथा के सौष्ठव, संतुलन और व्यापकता के स्तर पर एक ओर यह 'गोदान' की गरिमा लिए हुए है तो दूसरी ओर प्रयोगिकता और शिल्प की नवीनता में साठोत्तरी उपन्यास में 'अपना मोर्चा' और 'प्रतिबद्ध' की तुलना में रखा जा सकता है। 'उसका बचपन' हिन्दी का पहला कथ्यहीन उपन्यास है जिसमें एक निम्न- मध्यवर्गीय परिवार की बेहद तल्ख और दम तोड़ती जिन्दगी को विषाक्त वातावरण पूरे उपन्यास में चित्रित है। दरअसल इसमें कथानक या क्रमबद्ध कथा तथा नाटकीय मोड़ एकदम नहीं है। न तो इसमें पुराने उपन्यासों की तरह नायक-नायिका तथा दूसरे महत्वपूर्ण चरित्र ही हैं। इसमें वातावरण ही प्रधान है। उपन्यासकार का पूरा फोकस उस जिन्दगी पर है जो विभिन्न पात्रों तथा वातावरण के विभिन्न उपादानों के माध्यम से व्यक्त हो रही है। इसमें बीरू, जिसके मनोजगत में कथ्य विस्तार पाता है उतना ही महत्वपूर्ण है जितना पूरे उपन्यास में व्याप्त युआ। बीरू की माँ और दादी लड़ती रहती है। उसका बाप शराब पीता और जुआ खेलता है और घर आकर पत्नी को पीटता है। बीरू की बड़ी बहन देवी जो उसके चाचा के पास गई थी वापस आती है तो रघुपत बूढ़ी दादी को अपने साथ ले जाता है। इस बीच बीरू का एक भाई पैदा होता है। देवी घर से ऊबकर अपनी हम उम्र सहेलियों के बीच घूमती रहती है जो उसकी माँ को बुरा लगता है। दादी के देहांत का तार पाते ही पति-पत्नी नवजात शिशु को लेकर शहर चले जाते हैं। घर में देवी और बीरू रह जाते हैं। देवी का नरेश से परिचय होता है और दोनों विवाह करने का निश्चय करते हैं। बीरू की माँ अकेली लौटती है, पति भाग जाता है, शिशु मर जाता है। नरेश की माँ बीरू की माँ से देवी के साथ नरेश के विवाह का प्रस्ताव रखती है, किंतु बीरू की माँ को मंजूर नहीं होता। कुछ दिनों बाद बाप वापस आता है, लड़ाई होती है। इन परिस्थितियों में बीरू का बाल मन विद्रोही हो उठता है। वह रसोई में जाकर फांसी लगाने का प्रयास करता है।

'उसका बचपन' की रचना का कोई महत् उद्देश्य नहीं है, आदर्श नहीं है। रचना का उद्देश्य खुद रचना ही है और वह जीवन है जिसके करीब से लेखक गुजरा है।

कब तक पुकारूं (१९५८) : रांगेय राघव को इस देश का सामाजिक परिवेश प्रेत परिवेश जैसा ही लगता है जिसमें गरीब और निरीह प्राणी तरह-तरह के

प्रेतों से परेशान हैं। 'कब तक पुकारूं' में ऐसे प्रेत-पिशाचों की भीड़ है। पुलिस, दरोगा, गाँव का जमींदार, रुस्तम खां सिपाही, बांके जैसे गुन्डे, खड़क सिंह जैसे डाकू ये सब क्या इन्सान हैं ? इनमें इन्सानियत नहीं है। ये पर पीड़क हैं और आत्मग्रस्त हैं। ये सिर्फ दूसरों का खून पीते हैं। इनके खिलाफ कितना लिखा गया है, कितना कहा गया है पर हमारे देश में वे बराबर हैं। इनके अत्याचार से दुःखी और विवश लेखक केवल पुकार सकता है सो पुकार रहा है। मगर प्रश्न है कब तक पुकारे ? तब तक भोले और भले लोगों के व्यक्तित्वों और भावनाओं का अपमान बर्दाश्त करता रहे। 'कब तक पुकारूं' उपन्यास का सारा विवरण-विश्लेषण, अंत में एक दर्दनाक पुकार या ध्वनि में बदलता है और जिस कृति में विवरण किसी ध्वनि में बदल जाये और वह ध्वनि व्यापक और गहरी हो तो वह कृति स्थाई महत्व की कृति बन जाती है। 'कब तक पुकारूं' में सुखराम के अंतर्दाह और लेखक के आत्म संताप में कोई अंतर नहीं है। रांगेय राघव में द्वन्द्व की पहचान और पकड़ गजब की थी। इसके विश्लेषण के समय वह केवल वर्ग को ही सबका मूल मानकर मनुष्य की इच्छाओं के घात-प्रतिघातों को भी गौर से देखते थे। मनुष्य के अस्तित्व की जड़ में केवल समाज नहीं है, प्रकृति भी है। यह प्रकृति, अस्तित्व को प्रवृत्तियों और इच्छाओं के तंतुओं से रचती है। रांगेय राघव ने चोट उन संकीर्णतावादियों पर भी की है जो मार्क्सवाद को सतही नारेबाजी का पर्याय बनाना चाहते हैं।

'कब तक पुकारूं' को एक आंचलिक उपन्यास के रूप में पहचाना गया है जो नटों के विशिष्ट जीवन की जटिलताओं को दृष्टि में रखकर लिखा गया है। रामदरश मिश्र ने इस उपन्यास को आंचलिक उपन्यासों की विधा के अन्तर्गत रखते हुए इसमें व्याप्त दृष्टि को यथार्थवादी माना है।[१] 'कब तक पुकारूं' एक विशिष्ट जाति के जीवन की जटिलताओं का उपन्यास है और इसकी उपलब्धि भी इन जटिलताओं की विवेचना, व्याख्या और निरूपण में ही है।

झूठा सच (१९५८-१९६०) : यशपाल का 'झूठा सच' आजादी के बाद लिखे गये सबसे लोकप्रिय उपन्यासों में एक है। एक तरफ लोगों ने ऐतिहासिक-सामाजिक कथ्य की सराहना की है तो दूसरी तरफ युग-जीवन के प्रेम-प्रसंगों के आत्मीय चित्रण को पसंद किया। उपन्यास का पहला खंड अधिकांश लोगों की दिमागी जड़ता की ओर बार-बार ध्यान आकर्षित कराता है। लाहौर के विशाल निम्न मध्यवर्ग की मानसिकता का खाका खींचने का यह काम लेखक ने एक मुहल्ले के दैनिक कार्य-कलाप पर दृष्टि केन्द्रित करके किया है। सामान्य रूप से तो यह जड़ता पूरे निम्न मध्यवर्ग की सोच में मौजूद है। भोला पांधे की गली में रहने वाले परिवारों के रोजमर्रा के जीवन में पुरुष हर सुबह नौकरी या छोटे-मोटे व्यवसाय की खातिर निकल आते हैं और स्त्रियां घर को संभालने, बच्चों को पालने के लिए रह

जाती हैं। औरतों को सिर्फ घर की चारदीवारी में समय काटना पड़ता है। जिन्दगी की यांत्रिकता, निरुद्देश्यता और खालीपन पूरे व्यवहार को नितांत विवेकहीन, अस्वस्थ और अमानवीय बना डालते हैं। इस माहौल में स्त्री-पुरुष के बीच स्वस्थ प्रेम की संभावनायें कम ही हैं। एकांत का अभाव और पूरे परिवार के साथ रहते पुरुष-स्त्री संबंध आँख की ओट लेकर लगभग पाशविक स्तर पर चलते रहते हैं जिनकी चर्चा परिवार और मुहल्ले की युवा लड़कियों में आम होती है। ऐसे वातावरण में कितने अजीब किस्म के सेक्स संबंध जन्म ले सकते हैं इसकी कल्पना आसान नहीं है।

'झूठा सच' का राजनैतिक वातावरण कम महत्वपूर्ण नहीं है। एक तरफ कांग्रेस के नेतृत्व में राष्ट्रीय आंदोलन तेजी पकड़ चुका है और दूसरी ओर द्वितीय विश्व युद्ध के बाद ब्रिटेन की शक्ति कम हो गयी है। ब्रिटिश साम्राज्यवाद का हित इसी में है कि जनता अपने सही राजनैतिक प्रतिनिधियों के बारे में न जानकर पुरानी चेतना के अधीन धर्म, सम्प्रदाय, जाति और रूढ़ियों, पुरातन पंथी विचार-धारा आदि के प्रवाह में बनी रहे। और ब्रिटेन इसी बीच शासन की बागडोर यहां के पूँजीपतियों को सौंपकर और अपने आर्थिक हितों की सुरक्षा पर किसी समझौते तक पहुँचकर देश छोड़ दे। लेखक अपने वर्णनों में बेहद प्रामाणिक है कि लोगों को सही वर्गीय चेतना से बचाने का और अपने आर्थिक हितों की सुरक्षा का एक ही उपाय है और वह है सम्प्रदायवाद के आधार पर देश का विभाजन। साम्प्रदायिक दंगों ने जनता को सक्रिय कर दिया। हिन्दुओं को एक झंडे के तले और मुसलमान को एक झंडे के तले खड़े करके भाई-भाई के नारे भी लगवा दिए, किन्तु अपने सम्प्रदाय और धर्म के बीच भी पहले जितने ही बर्बर और स्वार्थी बने रहे।

प्रेमचंद के बाद का उपन्यास साहित्य नई परिस्थितियों से प्रभावित होकर नई सृजनात्मता लेकर प्रस्तुत होता है। कहीं उपन्यास से अभिप्राय समाजधारा और विचारधारा के आधार में तारतम्य माना गया[10] तो कहीं अपने उपन्यासों में स्वयं की उपस्थिति मानकर उनके विश्लेषण में अपने ही व्यक्ति के विकास का सिंहावलोकन बताया गया।[11] यशपाल व्यक्ति की विचारधारा को उसके जीवन की परिस्थितियों का परिणाम मानते हैं उनकी दृष्टि मार्क्सवादी है। अज्ञेय का केन्द्र समाज नहीं व्यक्ति है तथा वे भौतिकवादी धारणा से नहीं मनोवैज्ञानिक नियतिवाद से व्यक्ति का विश्लेषण करते हैं। प्रेमचंद के बाद उपन्यास मूलतः इन्हीं दो दृष्टियों से प्रभावित हुआ है। पहला मार्क्सवाद या समाजवादी यथार्थवाद, दूसरी फ्रायड-वादी या मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद। पहली दृष्टि बहिर्मुखी है दूसरी अन्तर्मुखी। समाजवादी दृष्टि मार्क्स के पहले भी थी चाहे वह मानवतावादी दृष्टि के रूप

में ही किन्तु मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद एकदम नयी दृष्टि थी। अतएव इसने बेहद प्रभावित किया। व्यक्ति की महत्ता, व्यक्ति स्वातन्त्र्य की भावना तथा व्यक्तियों की परस्पर विच्छन्नता, परम्परित रूढ़ियों के प्रति विद्रोह व्यक्ति की नई परिस्थितियों से जन्मी समस्यायें हैं, जिनकी मनोवैज्ञानिक यथार्थवादी दृष्टि ने अभिव्यक्ति की।

प्रेमचंदोत्तर काल में व्यक्ति चित्रण और समाज चित्रण दोनों में वैज्ञानिकता, बौद्धिकता तथा सिद्धांतवादिता का समावेश हुआ। सिद्धान्त प्रेरित कृतित्व से कलात्मकहीनता आ जाने का खतरा हो सकता था। अतएव इस युग के लेखक ने अपने लिये कलात्मक तटस्थता की सिद्धि आवश्यक मानी। उसने ऐसे कौशलों का आश्रय लिये जिसमें पाठक का उपन्यास के पात्रों तथा विषयादि से सीधा सम्बन्ध हो सके और सृष्टिकर्ता की तरह लेखक अपनी सृष्टि में विद्यमान रहता हुआ भी अविद्यमानता की प्रतीति करा सके। दूसरे शब्दों में उसने अपनी वैयक्तिकता के निर्वैयक्तिकरण की कला सिद्धि की। इसके अतिरिक्त इस अणु-युग की वैज्ञानिक दृष्टि ने उपन्यासकार को व्यापकता से गहराई और स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर उन्मुख किया। गहराई में जाने के लिए उपन्यासकार ने भी विशेषज्ञ के दृष्टिकोण को अपना लिया जिससे प्रत्येक क्षेत्र में प्रायः सर्वाङ्गीणता की बजाय एकांगिता आ गई। विषय, स्थान, काल, सबमें संकोचन की प्रवृत्ति को प्रश्रय मिला। वस्तुतः इस संकोचन तथा पूर्व चर्चित तटस्थता की प्रवृत्ति ने उपन्यास-कला को नाट्य-कला से प्रभाव ग्रहण करने के लिये प्रेरित किया। प्रेमचन्द युग मे नाटक का प्रभाव सुगठित कथानकों तक सीमित था, किन्तु इस युग में स्वाभाविकता तथा विश्लेषण की बहु-प्रवृत्ति के कारण नाटक के इस स्थूल प्रभाव का भी ह्रास हुआ, किन्तु उसमें सूक्ष्म प्रभावों का विशेष विकास हुआ। नाटकीय तटस्थता, नाटकीय मितव्ययिता, विभेदित मूर्त दृश्य योजना, दृश्यात्मक कथा-विन्यास, स्थान, समय, कार्य का एकलन, नाटकीय वर्तमानता, वार्तालाप बहुलता आदि उपन्यासों के नाटकीय कला से प्रभाव ग्रहण कि लक्षण हैं।

आज की संघर्ष जटिलता ने भी उपन्यासों को प्रभावित किया है। संघर्ष-ग्रस्त निरवकाशमना मानव के लिये सभी साहित्य रूपों में लघुता-प्रलघुता की प्रवृत्ति बढ़ी है अतएव उपन्यासों में भी लघु उपन्यासों का विशेष प्रचलन हुआ है। उपन्यासों की लघुता-प्रवृत्ति का एक कारण यह भी है कि पूर्ववर्ती उपन्यासों ने रचना के बहु परिणाम से जो प्राप्त करना चाहा वह नये उपन्यासकारों ने प्रकाशन ध्येय की तीव्रता से सिद्ध किया।

सारांश में, आधुनिक युग की वैज्ञानिकता, बौद्धिकता, विशिष्टता, तटस्थता, वैयक्तिकता, द्रुत परिवर्तनशीलता तथा संघर्षमयता ने समवेत रूप से उपन्यास की

तकनीक को प्रभावित किया है। प्रेमचन्द ने समस्याओं को उनके वृहद परिप्रेक्ष में देखा था। उनके बाद के उपन्यासकारों ने वृहद परिप्रेक्ष की अपेक्षा सूक्ष्मता की ओर ध्यान दिया। वर्णनात्मकता के स्थान पर विश्लेषणात्मकता की प्रवृत्ति बढ़ी। प्रेमचन्द युग विश्वासों का युग था। प्रेमचन्द के बाद प्रश्नीकरण की प्रवृत्ति प्रधान हो गई। प्रेमचन्द के बाद कथा का ह्रास हुआ। प्रेमचन्द के बाद का उपन्यासकार मूल्य देना चाहता है कथा का रस नहीं। ये मूल्य समस्त साहित्य के केन्द्र में मानव के लिए होते हैं और मानवीय समस्याओं के निरीक्षण, परीक्षण तथा व्याख्या विश्लेषण से ही प्राप्त किये जा सकते हैं। अतएव उसकी दृष्टि चरित्र पर जाती है, कथा पर नहीं। चरित्र के विश्लेषण करने से उसमें वैज्ञानिकता तो आती है पर भावात्मक लगाव गायब हो जाता है जो प्रेमचन्द की एक महत्वपूर्ण विशेषता है।

प्रेमचन्द का रचना काल भारतीय इतिहास का वह महत्वपूर्ण काल था, जब भारत में सामंतवाद का स्थान पूंजीवाद ले रहा था। महाजनी सभ्यता का उदय हो चुका था। भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन चरम उत्कर्ष पर था और साम्राज्यवाद की शक्ति क्षीण होने लगी थी। विश्व की प्रथम समाजवादी क्रांति का प्रभाव राजनीति पर ही नहीं, साहित्य एवं संस्कृति पर भी व्यापक रूप से पड़ रहा था। प्रेमचन्द ने आदर्शोन्मुखी यथार्थवाद से अपनी यात्रा प्रारम्भ कर समाजवादी यथार्थवाद तक पहुँच चुके थे। प्रेमचन्द युग में भारतीय जनता में जागृति की एक अभूतपूर्व लहर दौड़ गयी थी। भारत की समूची जनता स्वाधीनता के लिए समर यात्रा पर निकल पड़ी थी। उसमें बड़े-बड़े नेता ही नहीं, भारतीय ग्रामीण के मैकू और गंगा जैसे युवक, सेवाराम, भजनसिंह, घूरे तथा काले खां जैसे अधेड़ और बुढ़िया नोहरी तथा बूढ़े कोदई जैसे लोग भी थे। आजादी के वास्ते कौमी तराना गाते गाँव-गाँव घूमते थे। यद्यपि इनके सिरों पर धूल जमी हुई थी, होंठ सूखे हुए, चेहरे सावले थे पर उनकी आँखों में आजादी की जीत चमक रही थी। जनता अन्याय और उत्पीड़न के विरुद्ध सचेत हो रही थी। प्रेमचन्द की रचनाओं में उनका युग प्रतिबिम्बित होता है। उन्होंने युग की राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक संक्रमण को प्रस्तुत किया है।

प्रेमचन्द ने भारतीय समाज की उन आधारभूत समस्याओं को साहित्य में स्थान दिया जो उनसे पहले साहित्य का विषय नहीं बनी थी। और जो उनके बाद भी समाज में अपना समाधान मांगती हुई खड़ी है। सच तो यह है कि जो समस्यायें प्रेमचन्द के समय में जिस रूप में थीं उसी रूप में आज नहीं हैं और आज उनके समाधान भी वे नहीं हो सकते जो प्रेमचन्द के समय में हो सकते थे। किन्तु, उन समस्याओं के रूप बदल जाने पर वे उपेक्षणीय नहीं हैं। समकालीन उपन्यास केवल उन समस्याओं को उद्घाटित करता है। समाधान के

नाम पर उनके पास कुछ भी नहीं है क्योंकि उनका कोई समाधान नहीं है केवल समस्यायें हैं, स्थितियाँ हैं और नियति है जिसे केवल भोगना है। प्रेमचन्द के कथा साहित्य में जिन समस्याओं को स्थान मिला है उनके मूल में अर्थ की प्रधानता है। वर्तमान की मूल समस्या शोषण और स्वार्थ की है जिसके केन्द्र में धन है। आज धन ने जीवन मूल्यों को बेहद प्रभावित किया है। प्राचीन काल में मानवीय जीवनमूल्यों का प्रमुख निर्माता धन है इसके बाद काम अर्थात् प्रेम-सेक्स। आर्थिक सम्बन्ध ही हमारे समाज में तरह-तरह के निर्णय कर रहे हैं और इन सम्बन्धों के आधार पर ही हमारी सभ्यता-संस्कृति विकसित हो रही है। धर्म का अंकुश हटकर अर्थ का अंकुश प्रधान हो गया है।

आज के भौतिक युग में मानव-मूल्य तीव्र गति से परिवर्तनशील हैं। समाज के सभी आयामों में मूल्य-क्रांति मची हुई है। प्राचीनता के प्रति विद्रोह और नवीनता की ओर आकर्षण बढ़ रहा है। प्रेमचन्द और उनके समकालीन उपन्यासों में रूढ़िगत मान्यताओं के प्रति विद्रोह था। किन्तु, प्रेमचन्द के उपन्यास ने व्यक्ति के व्यक्तिगत हितों को ध्यान में रखते हुए नैतिक अनैतिकता से नाता तोड़ दिया था। वह अपने अस्तित्व को समाज के सामने तिरोहित नहीं कर सकता। यौन (सेक्स) को स्थान मिलता गया क्योंकि उपन्यासकार व्यक्तिगत जीवन क्षेत्र को उसकी सम्पूर्णता के साथ उजागर करता रहा है। साठ के बाद के उपन्यासों में जो मानव मूल्यों में विघटन दिखाई देता है वह अनायास नहीं हुआ वरन् एक प्रक्रिया का परिणाम है। जिन्दगी तरह-तरह उलझती गई और मनुष्य समय के साथ दौड़ते-दौड़ते हाँफने लगा।

समकालीन उपन्यासों में मूल्य-विघटन का चित्रण है। सवाल है, कि यह मूल्य-विघटन क्या है? मूल्य विघटन को समझने के लिए हम मूल्य के बारे में संक्षिप्त चर्चा करना अभीष्ट समझते हैं। मूल्य शब्द मूल+यत्[१२] से बना है जिसका अर्थ है किसी वस्तु के विनिमय में दिया जाने वाला धन, दाम इत्यादि मूल मानदण्ड के अर्थ को अभिव्यक्ति भी देता है। "चिन्तन से विचार बनते हैं। विचारों से धारणा का जन्म होता है, तथा धारणा मूल्यों का निर्माण। प्रत्येक समाज में जीवन और पारस्परिक व्यवहार के सम्बन्ध में कतिपय धारणाएँ होती हैं। यही धारणाएँ स्थिर होकर मूल्य-पद पर प्रतिष्ठित होती हैं। किसी वस्तु या विचार के प्रति अनुकूल धारणा तद्विषयक मूल्यों को जन्म देती है।"[१३] मूल्य समाज को आधार मिला होती हैं। समाज के मूल्य स्थिर नहीं होते। वे बराबर बनते-मिटते रहते हैं। युग की मांगों के अनुरूप उनका स्वरूप बनता है। इस स्वरूप का निर्धारण मानव-विवेक करता है। "हम मानते हैं कि सब प्रतिमानों का सब मूल्यों का स्रोत मानव का विवेक है।"[१४] मानव मूल्यों का निर्धारण देशकाल पर भी निर्भर है। जो मूल्य भारतवर्ष में स्वीकृत हैं वे अमेरिका या लंदन में स्वीकृत नहीं हो सकते। जैसे भारत में विवाह-

तिच्छेद एवं विधवा विवाह निर्दलीय है अमेरिका में नहीं। राजस्थान और मालवा में पर्दा प्रथा का प्रचलन समाज में स्वीकृत है, वही बंगाल में इसे अशुभ माना जाता है। हर युग के अपने स्वीकृत मूल्य होते हैं जो पुराने मूल्यों के स्थान पर स्थानापन्न होते रहते हैं। "हर नए युग में जीवन मूल्य अपना नया संस्कार करते हैं—यही कल्प है। अपने इस नये संस्कार में उनका पुराना रूप नया बनता है। इस रूप में मानव-संस्कार पुराने के प्रभाव क्रम का ही अगला विकास होते हैं। जीवन मूल्यों के इस नये संस्कार और कल्प की गति को साहित्यकार उस समय तक अपने साहित्य में मूर्तिमत्ता नहीं दे सकता जब तक कि उसे युग की विचार-धाराओं, जीवन दर्शन और जीवन के विकास के सत्य और उसकी गति की ज्ञान न हो।"[१५] साहित्य में समाज के निर्धारित मूल्यों का चित्रण होता है। आज के वैज्ञानिक युग में प्रत्येक वस्तु का विज्ञान की कसौटी पर परीक्षण किया जाता है। "मूल्य पूर्णरूप से मानवीय भावनाओं एवं इच्छाओं पर निर्भर होते हैं। अन्तिम रूप से यह मानव विश्वास से सम्बन्धित होते हैं जो कि विज्ञान के क्षेत्र से परे होता है।"[१६] अतएव आज के युग में मूल्यों के क्षेत्र में मूल्यहीनता की स्थिति व्याप्त है।

मैथ्यू आर्नाल्ड ने लिखा है एक युग मर रहा है पर दूसरा जन्म लेने में असमर्थ है। मूल्य शीघ्रता से टूट तो रहे हैं किन्तु, उनका स्थान नये मूल्य नहीं ले पा रहे हैं। जीवन में यांत्रिक जड़ता आ रही है। मानव का स्थान यांत्रिक मानव ले रहा है। सामाजिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्र में परम्परायें टूट रही हैं। समाज में, परिवार में, विशृङ्खलता की स्थिति उत्पन्न हो गई है। धर्म अंकुश भोथरा पड़ रहा है। नियति की सत्ता के समक्ष मानव बौना हो गया है। आज भारत में व्यक्ति और समाज का जीवन एक भयंकर संक्रान्ति से गुजर रहा है। "यह समय देश के आर्थिक नव निर्माण के समान ही नये जीवन-निर्माण का भी है।"[१७]

साहित्य में मूल्याभिव्यक्ति की एक सशक्त परम्परा है। प्रेमचन्द के पूर्व शिक्षा प्रदान करने के लिये जो उपन्यास लिखे गये उनमें पुरातन मूल्यों की वकालत की गई। प्रेमचन्द ने तत्कालीन युग के मूल्यों को प्रगतिवादी दृष्टि से देखा। प्रेमचन्द ने मानवता के लिये सारे मूल्यों का केन्द्रीय बिन्दु निर्धारित किया। प्रेमचन्द ने संक्रान्तिकालीन मूल्यों के संघर्ष को पहचाना ही नहीं, बल्कि विघटित होते हुये तत्कालीन जर्जर मूल्यों को ठोकर मारी और विस्थापित होते हुये भौतिकवादी मूल्यों के खोखलेपन को भी उजागर किया।

प्रेमचन्द के बाद उपन्यास की विकास यात्रा में समाज के स्थान पर मनुष्य की प्रतिष्ठा, मनुष्य के अस्तित्व, उसका विद्रोह, समाज सुख-भोग की लालसा से मनुष्य का नये सृजन की ओर आकर्षण बढ़ा। इन भावनाओं और विचारों को जैनेन्द्र कुमार, अज्ञेय और यशपाल जैसे उपन्यासकारों ने अभिव्यक्ति दी। मनोविश्ले-

णवादी उपन्यासों में मानव के अवचेतन मन की अबूझ परतों को उजागर किया गया है। समाज जिस अंकुश से नैतिकता का रथ हांकता है और व्यवस्थित चलने के लिये मजबूर करता है उस मजबूरी के प्रति विद्रोह और उस मानसिक बेड़ी से मुक्त होकर स्वछंद विचरण करने की मानसिकता को इन उपन्यासकारों ने उजागर किया है। अज्ञेय ने मनुष्य के अस्तित्व, अहंवादी, अराजकतावादी सामाजिक और नैतिक बोध से व्यक्त रिक्त, आत्मरत और आत्मकेन्द्रित मनुष्य का चित्रण किया है। उनका शेखर घोर नियतिवादी है। उसका विद्रोह नपुंसक और निष्क्रिय है। उसकी विचारधारा लक्ष्यहीन व शक्तिहीन है। नारी पर अधिकार की लालसा में वह अपने आदम स्वभाव पर गया है।

यशपाल, प्रेमचन्द के बाद के महत्वपूर्ण उपन्यासकारों में हैं। उनकी मार्क्सवादी विचारधारा उनके उपन्यासों पर हावी रही है। प्रेमचन्द के बाद के उपन्यासकारों में उनकी अस्तित्ववादी, मनोवादी एवं मार्क्सवादी विचारधारायें प्रमुख रही हैं। १९६० के बाद के हिन्दी उपन्यासों में विचारधारा के रूप में जिसे अभिव्यक्ति दी गई वह आधुनिकता है। "आज आधुनिकता कृति को वजनदार तो बना सकती है लेकिन उसे कृति नहीं बना सकती।"[१५] कृति बनाने के लिए उपन्यासकार को ईमानदारी से सृजनशील होना चाहिए। सृजन के प्रति ईमानदारी सृजनकर्त्ता की संवेदना, अनुभव और व्यापक दृष्टि का परिचायक है। आज के जीवन की जटिलता को उजागर करने के लिए उपन्यास का प्रयोगशील होना लाज़िमी है। आज के परिवेश में बिखराव की स्थिति है। आज चरित्रों का चयन मूल्यों के निरूपण के लिए किया जाता है। आज मूल्यहीनता के युग में चारित्रिक ह्रास को उजागर किया जाता है। यही कारण है, साहित्य आज समाज को कोई दिशा नहीं दे पा रहा है। क्योंकि उसका काम स्थिति को मात्र उजागर करना रह गया है। आज के उपन्यास में आन्तरिकता की अभिव्यक्ति 'सफेद मेमने' में और बाल्यता 'मुरदा घर' में उजागर होती है।

पहले साहित्य किसी न किसी छोटे या बड़े, उथले या गहरे जीवन मूल्यों से बंधा रहता था। रामचन्द्र शुक्ल के लोकमंगल और हजारी प्रसाद द्विवेदी की प्रयोजनशीलता द्वारा जीवन मूल्यों का ही बोध होता है। नन्ददुलारे बाजपेयी ने उच्चतर नैतिक मूल्यों को स्पष्टतः स्वीकृति दी है। मैथ्यू अर्नाल्ड, इलियट, लेविस आदि साहित्य को नैतिक मूल्यों से अनिवार्यतः सम्बद्ध मानते हैं, किन्तु आज का समाज अमूल्यधर्मी समाज है। जब मूल्यों का कोई केन्द्रवर्ती बिंदु नहीं रह गया तो व्यक्ति और समाज में साझेदारी होती कहां से। तकनीकी सभ्यता ने मनुष्य को अमनुष्य बना दिया तो मनुष्य ने साहित्य को असाहित्य बना दिया और वह अकविता, अकहानी, अउपन्यास में प्रतिफलित हुई। आज एक ऐसी स्थिति निर्मित हो गई है जब मूल्यहीनता का बोलबाला है। निरर्थक विद्रोह की आवाजें बुलन्द हुई हैं।

परम्परागत एक-एक मूल्य को काटा गया। उसका निषेध किया गया। सारी वस्तुएं केवल वस्तु रह गईं। जब धर्म, ईश्वर आदि सामूहिक विश्वास को रूप देने वाला कोई न रहा और विज्ञान ने हमारे अन्तर्मन को खोखला बना दिया तो साहित्यकार ने नव-यथार्थ या अतियथार्थ को पेश किया। विद्रोह की आवाज बंद होते ही एक अजीब तरह की असहाय विवशता और नैराश्य का एहसास हुआ। इसकी चरम परिणति हुई अलगाव में। अलगाव का मतलब है समाज से ही नहीं, अपने से भी अलग या बेगाना होने की अनुभूति। कृष्ण बलदेव वैद के 'उसका बचपन' का समन्वित प्रभाव एक तीखी ट्रैजडी उभारता है—अकेलेपन, व्यर्थता और अजनबियत की ट्रजडी। इसमें पूरी जिन्दगी धीरे-धीरे विघटित होती है। बीरू का विघटन उसके परिवेश का भी विघटन है। 'यह पथ बंधु था' में श्रीधर मूल्यहीनता, व्यर्थता और अकेलेपन का साक्षात्कार करने के बाद मनुष्यता का इतिहास लिखने का संकल्प करता है। 'आधागांव' में जिस तनहाई को चित्रित किया गया है वह अपने किस्म की अलग चीज है। शिया मुसलमानों की जिन्दगी पर लिखा गया यह पहला उपन्यास है। यहां तनहाई, टूटन एक विशेष ऐतिहासिक संदर्भ में है। यह आधुनिक जीवन बोध से संबंध नहीं रखती। यहां राष्ट्रीय आकांक्षाओं के संदर्भ में एक यह तीखा दर्द उभरता है। शिवप्रसाद सिंह का उपन्यास 'अलग-अलग वैतरणी' आधुनिक भावबोध का प्रमाणिक रूप प्रस्तुत करता है। इसमें नये-पुराने मूल्यों, नयी-पुरानी पीढ़ी, भिन्न-भिन्न वर्गों, जातियों की टकराहट में सारे मूल्य समाप्त हो जाते हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी वैतरणी में घिर जाता है। यह अलगाव और टूटन कई स्तरों पर घटित होती है वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक समूचे गांव के स्तर पर।

नरेश मेहता और शिवप्रसाद सिंह दोनों ही अपनी मूल्यगत विरासत को छोड़ नहीं सके हैं। नरेश ने अपने उपन्यास को उसकी ट्रेजडी में एक सार्वजनीन मूल्य की ओर मोड़ा है। शिवप्रसाद ने तो संघर्षों से जूझता हुआ एक व्यक्तित्व ही निर्मित किया है। जो टूट कर भी नहीं टूटता, अकेला होने पर भी अकेला नहीं होता। यदि मूल्यों के प्रति यह आग्रह न होता तो ये उपन्यास आधुनिकता के तनाव को और भी प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत करते। मूल्यों के प्रति जो आसक्ति होगी वह चरित्र निर्माण करेगी। लेकिन आज चरित्र कहां हैं। व्यक्तित्व और चरित्र की कुछ निर्धारित विशेषताएं होती हैं। आज चारित्रिक विशेषताओं का लोप हो गया है। जिन लोगों में चारित्रिक गरिमा दिखाई देती है, वे कितनी बुरी तरह से टूट रहे हैं या यों कहिए तोड़े जा रहे हैं।

आज हिन्दी उपन्यास में सम्भोग का चित्रण बार-बार होता है। चाहे निर्मल वर्मा का 'वे दिन' हो या मोहन राकेश का 'अंधेरे बंद कमरे', महेन्द्र भल्ला का 'एक

पति के नोट्स' हो या श्रीकांत का 'दूसरी बार', गिरिराज किशोर का 'यात्राएं' हो या ममता कालिया का 'बेघर', मणिमधुकर का 'सफेद मेमने' हो या कृष्णा सोबती का 'सूरजमुखी अंधेरे के' यहाँ तक कि 'मुरदाघर' में संभोग की बात है। सेक्स की अनुभूति खुलती गई और संभोग आम बात हो गया। प्रेमचंद, मेहता-मालती के आलिंगन चुम्बन तक सीमित है तो आज के उपन्यासकार औरतों की जांघों के जंगल में विचरण करना अपना अभीष्ट माने हुए हैं। यह संभोग कहीं बोरियत दूर करने को, कहीं जायका बदलने को, कहीं एक दूसरे को पहचानने के लिए, कहीं एक दूसरे के बारे में राय कायम करने के लिए, कहीं मन की कोई कुण्ठा तोड़ने के लिए, कहीं स्त्री पर हावी होने के लिए या अपनी पराजय को जय में बदलने के लिए है।

आधुनिक हिन्दी उपन्यास में परम्परागत उपन्यासों की अपेक्षा नैतिक दृष्टि-कोण बदला हुआ है। हिन्दी के परम्परागत उपन्यासों में नैतिक और आत्मिक प्रश्नों को गहरे स्तरों पर नहीं उठाया गया और न ही उसकी गहरी छानबीन की गई। इसमें ऐसे प्रश्नों को चुनौती के रूप में नहीं एक सीमित नैतिक बोध के रूप में इस तरह उठाया गया जिससे लेखक की किसी नैतिक मान्यता, सिद्धान्त या आदर्श की पुष्टि या सिद्धि हो। समकालीन (साठोत्तरी) उपन्यासों ने इस सीमा को तोड़ा—एक सुनिश्चित नैतिक ढांचे में अनुभव को ढालने की बजाय उसे चरित्र चित्रण, मूल्य संक्रमण और मानव स्थिति के प्रश्नों से जोड़ा। संघर्ष या द्वन्द्व की स्थितियां आधुनिक उपन्यासों में ही नहीं है परम्परागत उपन्यासों में भी रहती हैं। परंपरागत नायक संघर्ष को झेलता है निराश और हताश भी होता है पर एक सुखद अंत ओढ़ लेता है। या किन्हीं नैतिक मूल्यों में विश्वास के कारण संघर्ष को शांत कर लेता है। आज न विश्वास है न मूल्य है इसलिए संघर्ष बढ़ता चला जाता है।

"नवलेखन (साठोत्तरी) में युवा विद्रोह छटपटाहट और कशमकश तो है, किन्तु प्रौढ़ चिन्तन का अभाव है।"[१९] साहित्य मनुष्य में युगानुकूल चिन्तन की अभिव्यक्ति करता है। प्रौढ़ चिन्तन जीवन को गति देता है। गतिहीन नहीं बनाता। आज उपन्यास के नायक गतिहीन हैं; एक यांत्रिक वेदना भोग रहे हैं और इससे मुक्ति चाहते हैं। स्त्री-पुरुष स्वच्छन्दता का आवाहन तो करते हैं किन्तु उनके परिणामों को भोगते हैं तो अकेले रह जाते हैं, बोर होते हैं और कुण्ठा का शिकार होते हैं। नैतिक ह्रास की स्थिति पैदा करने में आधुनिक औद्योगीकरण का प्रमुख हाथ है। जिसका संकेत १९२५ में प्रेमचंद 'रंगभूमि' उपन्यास में सूरदास से कराते हैं।

मूल्यहीनता की यह स्थिति शहरों में ही नहीं गांवों में भी व्याप्त है। यह संक्रान्त स्थिति है। इस संक्रान्ति को कह पाना शायद शहरों में आसान है गांवों के स्तर पर कठिन। संक्रान्ति अर्थात् आधुनिकता। रेणु (मैलाआंचल) इस संक्रान्ति को अपनी आंचलिकता के अतिरिक्त मोह में बांध लेते हैं, और विश्वम्भर नाथ

उपाध्याय (रीछ) साम्यवादी समाज की वास्तविकता को आज की स्थितियों पर आरोपित करके आज की वास्तविक स्थितियों की कहानी को अपेक्षित तीव्रता नहीं दे पाते। राही (आधा गांव) संक्रांति की स्थिति को बाबू की तरह पेश करते हैं। 'अलग-अलग वैतरणी' का लेखक भी समग्र आंचलिकता की, बहुविध स्थितियों की संक्रान्ति के सूक्ष्म स्पंदनों को पकड़ता, पकड़ने में ही सिरजता और सिरजने में ही अपनी बात कहता चलता है। "चाहे लोग कितने भी आधुनिक बन जाए धरती से संबंध नहीं तोड़ा जा सकता और टूटेगा तो सारी मुसीबतें आएंगी और झख मारकर उधर लौटना होगा।"[२०]

इस तरह शहरों, महानगरों और ग्रामों में नैतिक ह्रास और मूल्य हीनता की स्थिति को उजागर करने में उपन्यास महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है। आज व्यक्ति अहम् की भावना ने व्यक्ति लक्ष्य और समाज को निमित्त रूप में स्वीकारा है।

व्यक्ति स्वातंत्र्य की चेतना का विकास स्त्री-पुरुष दोनों में हुआ। आधुनिक परिवेश में नारी का मूल्यांकन केवल नारी के रूप में होने लगा है। अब उसकी सत्ता पुरुष सापेक्ष नहीं है। सामाजिक क्षेत्र में स्त्री स्वातंत्र्य और नारी प्रतिष्ठा की भावना ने परम्परागत मूल्यों को परिवर्तित किया है। पारिवारिक क्षेत्र में संयुक्त परिवार विघटन के कगार पर खड़ा है। आणुविक परिवार की स्थापना हो रही है। किन्तु, व्यक्ति अहम् की भावना उसे भी तोड़ रही है (अंधेरे बंद कमरे, न आने वाला कल दूसरी बार) वैवाहिक जीवन की रूढ़ मान्यतायें बदल चुकी हैं। विवाह के परंपरागत बंधन ढीले पड़ रहे हैं। प्रेम विवाह, अन्तर्जातीय विवाह, विधवा विवाह आदि को मान्यता मिलने लगी है। बिना विवाह किए भी जीवन की स्वच्छंदताओं को भोगा जा सकता है। अतः प्रेम और विवाह की आवश्यकता पर प्रश्न उठाए गए हैं (बैसाखियों वाली इमारत)। आधुनिक युग में अर्थ-शक्ति के महत्व को अस्वीकारा नहीं जा सकता। प्रेमचंद के कथा साहित्य में यह अंतः सलिला थी, किन्तु अब जीवनाधार है। अर्थ युग में वर्णों और वर्गों का उदय हुआ है—पूंजीपति, बुद्धिजीवी, श्रमजीवी आदि जिनमें निरन्तर संघर्ष चला करते हैं।

यह मूल्यों का संक्रमण काल है। इस संक्रान्तिकाल में अस्पष्टता या दिशाहीनता की स्थिति स्वाभाविक ही है। इस स्थिति में बहुत कुछ टूट रहा है परम्परा बिखराव की स्थिति में है। आधुनातन का आकर्षण अपनी चरम सीमा पर है। ऐसी स्थिति में अपेक्षित नवीनता स्वीकार्य होना चाहिए।

पालन उसे करना पड़ता है। प्रत्येक समाज में कुछ ऐसे नियम, प्रथाएं और रूढ़ियां होती हैं जो जीवन-साथी के निर्वाचन क्षेत्र की सीमाओं का निर्धारण करती है। इन नियमों, प्रथाओं और रूढ़ियों को सामाजिक नियंत्रण कहते हैं। ये नियंत्रण दो प्रकार के होते हैं—प्रथम है विधात्मक और दूसरा है निषेधात्मक। विधात्मक अनुमति से तात्पर्य समाज द्वारा ऐसे एकांतिक नियंत्रण से है, जिसके कारण अमुक स्त्री या पुरुष अपना साथी अमुक समूह से ही चुन सकता है। विधात्मक अनुमति तीन प्रकार की होती है—१. अन्तर्विवाह २. अनुलोम ३. विधिनियम संसर्ग।

अन्तर्विवाह के अन्तर्गत अपने समूह में ही विवाह करना आवश्यक माना गया है, जैसे भारत की वर्ण-व्यवस्था के कारण चार वैदिक हिन्दू जातियाँ यथा—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र; ये चारों अपनी-अपनी जाति के अन्दर ही विवाह कर सकते हैं। परन्तु अपने गोत्र के बाहर और जाति के भीतर विवाह करना आवश्यक होता है। जाति अन्तर्विवाह के अतिरिक्त वर्ग-अन्तर्विवाह, विजातीय अन्तर्विवाह, धर्म अन्तर्विवाह, राष्ट्रीय अन्तर्विवाह का भी ध्यान रखना आवश्यक होता है। आजकल वर्ग अन्तर्विवाह की प्रथा भी प्रचलित है। वर्ग का आधार आर्थिक स्थिति, धंधा, शिक्षा आदि है। इनके आधार पर उच्च वर्ग, मध्य वर्ग, निम्न वर्ग, किसान वर्ग, मजदूर वर्ग आदि विभाजन होता है। इन सभी वर्गों की साधारणतः यही विचारधारा होती है कि ये अपने समकक्ष वर्ग में ही अपने जीवन-साथी का चुनाव करें। धनवान लड़का गरीब किसान की लड़की से विवाह करना पसंद नहीं करेगा और न ही अमीर लड़की गरीब लड़के से विवाह करना पसन्द करती है। भगवती चरण वर्मा के उपन्यास 'तीन वर्ष' में गाँव के सीधे-साधे निर्धन युवक रमेश का उच्चवर्गीय छात्रा प्रभा से प्रेम हो जाता है, परन्तु वह उसके साथ वैवाहिक बंधन में बँधना नहीं चाहती। वह कहती है—"यदि हमारी नित्य की आवश्यकता नहीं पूरी होती, यदि भूखों मरते हैं तो प्रेम अकेले ही हमें जीवित नहीं रख सकता।"[३] आर्थिक असमानता के कारण प्रभा रमेश से विवाह नहीं करना चाहती, क्योंकि रमेश उसे उच्चवर्गीय सुविधायें नहीं प्रदान कर सकता। वर्ग अन्तर्विवाह सभी समाजों में प्रचलित है। धर्म अन्तर्विवाह में भी दो विभिन्न धर्म वाले स्त्री-पुरुष विवाह नहीं कर सकते। माता-पिता चाहे कितने ही उदार हों, अपने परिवार में विरोधी धर्मों को मानने वालों को स्थान नहीं दे पाते। अमृतलाल नगर के उपन्यास 'अमृत और विष' में लेखक (पात्र) के अनुसार—"लड़की ने प्रेम किया, इसे स्वीकार करने को मैं तैयार था, उसने मुसलमान से प्रेम किया, इसे स्वीकार करने में झिझक थी। वह बिना ब्याहे माँ बन रही है—इसे स्वीकार करना तो असम्भव ही था। यह क्या किया मन्नो ने।"[४]

अध्याय छः

नैतिकता के नये मानदंड और दृष्टिकोण

अरस्तु ने कहा है कि मनुष्य के सभी कार्य देश, काल और पात्र के अनुसार अच्छे या बुरे माने जाते हैं। किसी कवि के अनुसार मानव के कृतित्व की परिस्थितियाँ अच्छाई तथा बुराई का जामा पहनाती हैं। भगवतीचरण वर्मा ने अपने उपन्यास 'चित्रलेखा' में पाप-पुण्य की स्थिति को व्यक्ति सापेक्ष माना है। जो एक के लिए पाप है, वह दूसरे की स्थिति में हो सकता है पाप न हो। व्यक्तित्व-निर्धारण के लिए परिस्थितियों का महत्वपूर्ण स्थान होता है। सैकड़ों वर्षों से चली आ रही विवाह की संस्था में जो विविधता पायी जाती है वह भी परिस्थितिजन्य है। जैसे बहु-पति विवाह प्रथा जो भारत में टोड, नागा, बेगा, गोंड तथा पूर्वी अफ्रीका की बेगन्डा जाति में सबसे अधिक प्रचलित है। इस प्रथा का प्रमुख कारण है, स्त्री तथा पुरुषों की संख्या का असमान होना। विकट भौगोलिक परिस्थितियों में जहाँ जीवन-यापन कठिन होता है और स्त्रियों की संख्या कम हो, तो वहाँ बहु-पति विवाह की प्रथा पायी जाती है। भारत में जौनसर और बावर में यह प्रथा पायी जाती है। भारत में १९५५ के विवाह अधिनियम के पूर्व तक भारत में बहु-पत्नी विवाह की प्रथा प्रचलित थी। अधिकांश राजाओं और बादशाहों की अनेक रानियाँ और बेगमें हुआ करती थीं। श्री कपाड़िया के अनुसार, "भारत में यह प्रतिमान वैदिक युग से वर्तमान समय तक प्रचलित रहा है।"[1] उत्सवों के समय हिन्दू शास्त्रों में चार स्त्रियाँ स्वीकार की गईं;"[2] इस्लाम के अनुसार भी प्रत्येक मुसलमान चार स्त्रियाँ रख सकता है। बहु-विवाह सामाजिक तथा व्यक्तिगत दृष्टि से अव्यावहारिक है, इसलिए सभी देशों में इसे हेय माना जाता है तथा कानूनीतौर पर इसे समाप्त करने का प्रयास किया गया है।

विवाह का अर्थ है—जीवन-साथी का चुनाव। परन्तु इस चुनाव के लिए भी व्यक्ति स्वतंत्र नहीं है, क्योंकि समाज के कुछ आधारभूत प्रतिमान होते हैं, जिनका

पालन उसे करना पड़ता है। प्रत्येक समाज में कुछ ऐसे नियम, प्रथाएँ और रूढ़ियाँ होती हैं जो जीवन-साथी के निर्वाचन क्षेत्र की सीमाओं का निर्धारण करती है। इन नियमों, प्रथाओं और रूढ़ियों को सामाजिक नियंत्रण कहते हैं। ये नियंत्रण दो प्रकार के होते हैं—प्रथम है विधात्मक और दूसरा है निषेधात्मक। विधात्मक अनुमति से तात्पर्य समाज द्वारा ऐसे एकांतिक नियंत्रण से है, जिसके कारण अमुक स्त्री या पुरुष अपना साथी अमुक समूह से ही चुन सकता है। विधात्मक अनुमति तीन प्रकार की होती है—१. अन्तर्विवाह २. अनुलोम ३. विधिनियम संसर्ग।

अन्तर्विवाह के अन्तर्गत अपने समूह में ही विवाह करना आवश्यक माना गया है, जैसे भारत की वर्ण-व्यवस्था के कारण चार वैदिक हिन्दू जातियाँ यथा—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र; ये चारों अपनी-अपनी जाति के अन्दर ही विवाह कर सकते हैं। परन्तु अपने गोत्र के बाहर और जाति के भीतर विवाह करना आवश्यक होता है। जाति अन्तर्विवाह के अतिरिक्त वर्ग-अन्तर्विवाह, विजातीय अन्तर्विवाह, धर्म अन्तर्विवाह, राष्ट्रीय अन्तर्विवाह का भी ध्यान रखना आवश्यक होता है। आजकल वर्ग अन्तर्विवाह की प्रथा भी प्रचलित है। वर्ग का आधार आर्थिक स्थिति, धंधा, शिक्षा आदि है। इनके आधार पर उच्च वर्ग, मध्य वर्ग, निम्न वर्ग, किसान वर्ग, मजदूर वर्ग आदि विभाजन होता है। इन सभी वर्गों को साधारणतः यही विचारधारा होती है कि वे अपने समकक्ष वर्ग में ही अपने जीवन-साथी का चुनाव करें। धनवान लड़का गरीब किसान की लड़की से विवाह करना पसंद नहीं करेगा और न ही अमीर लड़की गरीब लड़के से विवाह करना पसन्द करती है। भगवती चरण वर्मा के उपन्यास 'तीन वर्ष' में गाँव के सीधे-साधे निर्धन युवक रमेश का उच्चवर्गीय छात्रा प्रभा से प्रेम हो जाता है, परन्तु वह उसके साथ वैवाहिक बंधन में बँधना नहीं चाहती। वह कहती है—"यदि हमारी नित्य की आवश्यकता नहीं पूरी होती, यदि भूखों मरते हैं तो प्रेम अकेले हो हमें जीवित नहीं रख सकता।"[3] आर्थिक असमानता के कारण प्रभा रमेश से विवाह नहीं करना चाहती, क्योंकि रमेश उसे उच्चवर्गीय सुविधायें नहीं प्रदान कर सकता। वर्ग अन्तर्विवाह सभी समाजों में प्रचलित है। धर्म अन्तर्विवाह में भी दो विभिन्न धर्म वाले स्त्री-पुरुष विवाह नहीं कर सकते। माता-पिता चाहे कितने ही उदार हों, अपने परिवार में विरोधी धर्मों को मानने वालों को स्थान नहीं दे पाते। अमृतलाल नगर के उपन्यास 'अमृत और विष' में लेखक (पात्र) के अनुसार—"लड़की ने प्रेम किया, इसे स्वीकार करने को मैं तैयार था, उसने मुसलमान से प्रेम किया, इसे स्वीकार करने में झिझक थी। वह बिना ब्याहे माँ बन रही है—इसे स्वीकार करना तो असम्भव ही था। यह क्या किया नन्हीं ने।"[4]

इससे स्पष्ट है कि धर्म जीवन-साथी के चुनाव में कितना महत्वपूर्ण है। लड़की के पिता को प्रेम-विवाह करने में आपत्ति नहीं वरन् धर्म अन्तर्विवाह में है। इसी प्रकार राष्ट्रीयता तथा प्रजातीयता के कारण भी दूसरे राष्ट्र वालों और दूसरी प्रजाति (रेस) जैसे गोरे-काले के रंग-भेद के कारण भी प्रतिबन्ध है। यह गोरे-काले की रंग-भेद की नीति मानवता तथा विश्व-बन्धुत्व के मध्य लम्बी दरार है। अनुलोम की प्रथा के द्वारा उच्च वर्ग की लड़की निम्न वर्ग के लड़के से विवाह नहीं कर सकती, क्योंकि उसे अपना पूर्व स्तर खो देना पड़ता है और निम्न स्तर के साथ आत्मसात करना कठिन होता है, जिससे वैवाहिक जीवन दुष्कर हो जाता है।

विधि-नियम संवर्ग (प्रिफ़ेंशियल मेटिंग) से तात्पर्य प्राथमिकता से है। कुछ समाजों में विवाह में संबंधियों को प्राथमिकता दी जाती है, जैसे पीरू, प्राचीन मिस्र के शाही परिवारों में तथा बर्मा और श्रीलंका की कुछ जातियों में यह प्रथा प्रचलित थी और निकट सम्बन्धी भाई-बहनों में शादी होती थी। मडागास्कर में इवाहना के राजा अक्सर अपनी बहनों से शादी करते थे। फारस में भी यही प्रथा थी। अरब के रेगिस्तानों में जन-समूहों के आधार पर रक्त-सम्बन्ध थे। इनमें यह कठोर नियम था कि लड़का अपने चाचा की लड़की से विवाह करे। मुसलमानों में अभी भी चाचा, मामा, मौसी के लड़के-लड़कियाँ आपस में विवाह करते हैं। उपर्युक्त नियंत्रणों के अतिरिक्त जीवन-साथी प्राप्त करने की कुछ और पद्धतियाँ हैं। प्राचीन-काल में साथी प्राप्त करने में अधिकतर निम्न तरीके काम में लाये जाते हैं—अपहरण, पत्नीक्रय, परीक्षा-यज्ञों में जीतकर आदि तरीकों से पत्नियाँ प्राप्त की जाती थीं। भारत की आदिम जातियों में विवाह के लिए संघर्ष होते रहे हैं। प्राचीन काल से अपहरण विवाह की मान्य प्रथा रही है। पृथ्वीराज-संयोगिता तथा कृष्ण-रुक्मिणी का विवाह अपहरण द्वारा हुआ था। राक्षस विवाह इसी प्रथा का एक रूप है, जिसमें स्त्री को युद्ध का पुरस्कार माना जाता है। विवाह एक महत्वपूर्ण सामाजिक मूल्य है। नैतिकता, समाज द्वारा स्थापित समाज के विकास में सहायक मूल्य होते हैं। मूल्य अनायास जन्म नहीं लेते। चिंतन से विचार बनते हैं, विचारों से धारणाएँ और धारणाओं से मूल्यों का निर्माण होता है। समय के साथ बढ़ते हुए मूल्यों में पर्याप्त विकास और नष्ट होने का सिद्धान्त लगता है। इसकी तुलना उस वट वृक्ष से की जा सकती है जिसकी एक से अनेक जड़ें फैलती हैं। पुरानी जड़ें नष्ट होती हैं और नई आगे विकसित होती रहती हैं। नये मूल्यों का विकास पुराने मूल्यों की आधार-शिला होता है। आज युग में घटित परिवर्तनों के साथ हमारी धारणाएँ-आस्थाएँ बदल रही हैं। अतः बदलती आस्थाओं के साथ मूल्यों में इसी गति से परिवर्तन आना स्वाभाविक है। जब इन आस्थाओं, विचारों एवं मूल्यों के

परिवर्तन की प्रक्रिया में तारतम्य नहीं रहता तो समाज में विघटन की स्थिति उत्पन्न होती है। "एक युग मर रहा है पर दूसरा जन्म लेने में असमर्थ है।"[५] जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में उतार-चढ़ाव आ रहा है। आर्थिक क्षेत्र में विज्ञान के प्रभाव के कारण क्रांति हो रही है। आज के इस यंत्र-युग के कारण मनुष्य की स्थिति गौण हो गई है। मानव का स्थान यांत्रिक मानव ले रहा है। सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में परम्पराएं टूट रही हैं। अंधविश्वासों का अंत हो रहा है। विरोधी विचार-धाराएं आधुनिक मूल्य-संकट का निमित्त बन गई हैं। एक ओर टायनवी, नेलुर, मनहेम, ईलियट आदि विचारक विज्ञान से उत्पन्न उदारतावादी दृष्टिकोण के विपरीत पूर्वकालीन धार्मिक दृष्टिकोण और तज्जन्य मूल्यों की प्रतिष्ठा करना चाहते हैं। दूसरी ओर रसेल, हक्सले, सार्त्र आदि निवारण ईश्वर के अस्तित्व को नकारते हैं और समाज की नवीन व्यवस्था की संभावना को लेकर अविवेकी और तुच्छ मनुष्य को विवेकी, स्वतंत्र और महान् बनाना चाहते हैं। लारेन्स, हेमिंग्वे, कामू आदि अपेक्षाकृत अधिक निराश और क्रुद्ध हैं। इस प्रकार पहले वर्ग विज्ञान को अस्वीकार कर धर्म अथवा प्रत्ययवादी दर्शन को प्रतिष्ठा करना चाहता है, दूसरा धर्म को अस्वीकार कर वैज्ञानिक चेतना से ही मानव-मूल्यों को प्राणवान् बनाने को उत्सुक है। मूलतः वह मानवतावादी है। तीसरा मत एक प्रकार से वस्तुस्थिति को भावात्मक रूप में स्वीकार कर आदिम अर्थात् प्राकृतिक जीवन का पक्षपाती है।"[६]

भारतीय समाज एक परिवर्तन की प्रक्रिया की अंतरिम ओर से गुजर रहा है। इस प्रक्रिया में हमें बहुत से काल सापेक्ष जीवन-मूल्यों को छोड़ना होगा, उन जीवन-मूल्यों को छोड़ना होगा जो पुरानी समाज-व्यवस्था की उपज है, और इस परिवर्तन के साथ ही अपनी महत्ता को खो बैठे हैं। लेकिन वे जीवन-मूल्यों का आधार बनेंगे। दया, ममता, प्रेम, करुणा, सहानुभूति ये सब मानव के काल निरपेक्ष मूल्य हैं जो निस्संदेह समाजवादी समाज-व्यवस्था के नये जीवन-मूल्य भी होंगे। नये जीवन को प्रभावित करने वाले तत्वों में पहला स्वतंत्रता के पूर्व मूल्य परिवर्तन का अभाव था। साहित्य में परम्परागत और नवीन दोनों ही मूल्यों की अभिव्यक्ति हो रही थी जो सामाजिक स्थिति का प्रतिरूप थी। स्वतंत्रता के पश्चात् मूल्य-स्थिति कुछ स्थिर प्रतीत होती है। स्वतंत्रता के पहले युद्ध विश्वयुद्ध ने काफी दूर तक भारतीय जन-मानस को प्रभावित किया। सामाजिक अराजकता और मर्यादाहीनता की भीषण परिणति होती है विश्वयुद्धों में और मानव अपने को भयंकर खोखलापन और नैतिक दीवालियापन अनुभव करने लगता है।[७] महायुद्धीय परिणामों ने विघटन को नये आयाम दिये। समाज में अनास्था, कुण्ठा, निराशा पनपने लगी। स्वाधीन भारत के हिन्दी उपन्यासों में सामाजिक अराजकता, नैतिक उच्छृंखलता, खोखलापन, अनास्था, निराशा और कुण्ठाजनित मूल्यों का प

विश्वयुद्ध तथा उसके परिणामों से उत्पन्न विश्व की परिस्थितियों ने भारतीय जनता के हृदय पर प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से प्रभाव डाला। राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक परिवर्तनों ने जनमानस को झकझोर दिया और परम्परागत आदर्शों, मान्यताओं में जीवन-मूल्यों व आस्थाओं का विघटन हुआ।[८] स्वतंत्रता के बाद भारतीय जीवन दृष्टि बदलती है। जीवन के हर क्षेत्र में परम्परागत विचारों को पराधीन जीवन का प्रतीक मानकर त्याज्य समझा गया। नवीन विचारों के ग्रहण का आग्रह दृष्टिगोचर होने लगा। जनतंत्र ने व्यक्ति की महत्ता को प्रतिष्ठित किया। वयस्क मताधिकार से सामान्य व्यक्ति को भी नई प्रतिष्ठा का बोध हुआ। समाज के प्रत्येक व्यक्ति के समान अधिकार की घोषणा ने नागरिकों में स्वाभिमान उत्पन्न किया। वर्ण-व्यवस्था के रूढ़िगत मूल्यों के परिस्थितिजन्य अवमूल्यन की गति को संविधान ने स्वीकृति प्रदान की। संवैधानिक समानता के कारण नारी-पुरुष की स्थिति समान गौरवशाली बन गई। संविधान में भारत को धर्म निरपेक्ष राष्ट्र घोषित किया गया है। अस्पृश्यता को समाप्त करने के लिए कानून बनाये गये। इसी प्रकार एक विवाह को ही वैधानिक मान्यता मिलने से सामंतयुगीन बहुविवाह के मूल्य का अन्त हो गया। विधवा विवाह एवं अन्तर्जातीय विवाह का निषेध भी नहीं रहा। संविधान द्वारा प्रदत्त मौलिक अधिकारों से व्यक्ति के मानसिक जगत में परिवर्तन आया। हालांकि पराधीन भारत में परम्परागत मूल्यों के प्रति विद्रोह चल रहा था और सामाजिक आन्दोलन की प्रगति में बाधक सिद्ध होने वाले मूल्यों को तोड़ने का प्रयास किया गया था। पर संविधान ने इनको वैधानिक रूप से सदा के लिए समाप्त कर दिया और प्रगतिशील मूल्यों को स्थैर्य दिया।

विज्ञान—बीसवीं शताब्दी में घटित परिवर्तनों की प्रेरक शक्तियों में आधुनिक विकसित विज्ञान का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस सदी के आविष्कारों ने मानवता के युगीन बंधनों को तोड़कर, भौगोलिक सीमाओं का अतिक्रमण कर सम्पूर्ण विश्व को एक सूत्र में पिरोते हुए नूतन सम्भावनाओं के नवीन युग के द्वार खोल दिये हैं। आधुनिक संस्कृति पर विज्ञान हावी है। अब महानगर संस्कृति के केन्द्र बन गये हैं। भौतिक उपलब्धियाँ और मशीन मनुष्य पर हावी हो गई हैं। पाश्चात्य सम्पर्क से पूर्व भारतीय चिंतन की दिशा धर्म से निर्धारित होती थी। अब धर्म के साथ विज्ञान को भी अपनाया गया। स्वतंत्रता के बाद भारतवर्ष ने एक निश्चित दृष्टिकोण बना लिया कि वैज्ञानिक प्रगति के बिना राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का हल कठिन है। परम्परागत मूल्यों में वैज्ञानिक सत्य को ढूंढने के प्रयास होने लगे। अतएव अवैज्ञानिक रूढ़ियों के अंधविश्वासों से मुक्त होने की कोशिश होने लगी। परम्परागत चिन्तन में इससे पर्याप्त अन्तर आया। भावुकता के स्थान पर तर्क का

प्रकाश हुआ। बौद्धिकता का विस्तार हुआ। मानव को जीवन में समय का अभाव लगने लगा। मानव ने अन्तर्राष्ट्रीय सीमाओं एवं जर्जर परम्पराओं को तोड़ने का प्रयास किया, किन्तु स्वयं स्वार्थ के वशीभूत होकर छोटे-छोटे दायरों में बंधता गया। त्रास और अस्तित्व संकट में उलझने लगा। मनुष्य को अब अपने परिजन की जलती लाश के निकट खड़े होकर सायंकाल हो जाने वाली काकटेल पार्टी का मीनू तैयार करने में कोई संकोच नहीं लगता। वर्तमान समय में विज्ञान के प्रभाव के फलस्वरूप मानव की जीवन-पद्धति में द्रुतगति से परिवर्तन आया, पर मानसिक संस्थान में परिवर्तन की गति सक्षम है। मानव के खानपान, रहन-सहन, विचार चिंतन में तो आधुनिकता आई पर उसकी जीवन दृष्टि वही परम्परावादी है, फलतः अन्तर्विरोध और तनाव की स्थिति उत्पन्न हुई। वैज्ञानिक जीवन दृष्टि के कारण धार्मिक और सामाजिक बंधन ढीले होते गये।

नवीनीकरण—भारत में नवीनीकरण पाश्चात्यीकरण, शहरीकरण, औद्योगीकरण, यन्त्रीकरण की देन है। आंग्ल सभ्यता और विज्ञान के प्रभाव ने भारत के पुरातन रूप को नये आयाम दिए। भारत में स्वाधीनता के पश्चात् हुए औद्योगीकरण एवं शहरीकरण ने सांस्कृतिक गतिरोध उत्पन्न किया। शहरीकरण से भारतीय संस्कृति की परम्परागत इकाई गाँव का विखण्डन प्रारम्भ हो गया। औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप विविध धर्म, जाति और सम्प्रदायों के सम्मिश्रित रूप में शहरों का निर्माण हुआ। भारतीय समाज के परम्परागत ढाँचे को आधुनिक योजना एवं विकास के अनुकूल नहीं समझा गया। भारतीय समाज में आर्थिक क्रान्ति के असफल होने का भी यही कारण था। समाजवाद के स्थान पर पूंजीवाद को प्रश्रय मिला। भारत में मिश्रित अर्थ-व्यवस्था के विकास हेतु योजनाओं का सूत्रपात किया गया। इसका उद्देश्य निजी क्षेत्रों में विकास के अवसर देते हुए उन पर सरकारी क्षेत्र का नियंत्रण रखना था पर कुर्सी की राजनीति की दौड़ में सब गड़बड़ा गया। योजनाएँ, निर्धारित लक्ष्य, क्रमिक विकास की दरें। परिणामतः बेकारी गरीबी, बढ़ी और हम आर्थिक क्षेत्र में पराधीन होते गए। भारत समाजवादी समाज का नारा देकर समाजवादी आर्थिक नीति को अपना नहीं सका। आत्मनिर्भरता का नारा लगाकर भी विदेशी ऋण के बोझ से भारत दबता चला गया। समाज की इस आर्थिक और सामाजिक असमानता ने मूल्यों को प्रभावित किया। भारत विभाजन के फलस्वरूप भारत में आये हुए शरणार्थियों के कारण परम्परागत जाति विषयक मान्यताओं में शैथिल्य आया। विभाजन के बाद अपनी सारी सम्पत्ति छोड़कर आने वाले शरणार्थी विस्थापनजन्य परिस्थितियों में जाति, उपजाति, धन-सम्पदा आदि का भेदभाव भूल गये और एक नई समाज-व्यवस्था का विकास हुआ। एक बात साफ है कि परिवार,

गोत्र और नैतिकता के नियंत्रण क्षीण होते जा रहे हैं (तथापि टूटे नहीं हैं)। नियंत्रणों के ह्रास के कई कारण हैं। एक तो हमारे संगठनों में विशेषीकरण की कोटि बढ़ रही है, दूसरे सामाजिक संबंधों में देने वाले केन्द्र बदल रहे हैं, तीसरे पारिवारिक ढांचे बदल रहे हैं, चौथे साक्षरता में परिवर्तन हो रहा है, और तर्क बुद्धि विकसित हो रही है। पांचवें जनसंख्या सम्बन्धी स्थितियाँ बदल रही हैं, छठे विनिमय के माध्यमों के सर्व साधारणीकरण में वृद्धि हो रही है तथा अन्ततः परम्परागत संगठन-कुशलता का क्षय हो रहा है।[९] स्वतंत्र्योत्तर समाज की यही स्थिति है। यह सभी स्थितियाँ यहाँ भी कार्य कर रही है। अतः मूल्यों में बदलाव आना निश्चित है। भारतीय समाज में आर्थिक असमानता, वर्ग संघर्ष, मध्यवर्गीय जीवन का शिथिलीकरण, वैयक्तिक तनाव, नये-पुराने आदर्शों और सिद्धान्तों का द्वन्द्व, समाज और शक्ति का आपसी वैमनस्य, शैक्षणिक प्रणाली के प्रयोग एवं उससे उत्पन्न कठिनाइयाँ, शिक्षित नारी का नवीन विकास तथा संयुक्त परिवार का विघटन आदि तत्व क्रियाशील हैं। ऐसी स्थिति में मूल्य विघटन और मूल्य निर्माण स्वाभाविक है।

राजनीतिक चेतना—राजनीतिक दृष्टि से आधुनिक भारत की अपनी पाँच आधुनिक विशिष्टताएँ हैं—(१) अनेक राज्यों वाले संघ देश की, (२) सोलह प्रधान भाषाओं और संघ भाषा विहीन राष्ट्र की, (३) अनेक कालों, पौराणिक, मध्यकालीन, सामन्तकालीन, जमींदारीयुगीन इत्यादि वाले सामाजिक संस्कारों की, (४) अनेक राजनैतिक दलों से युक्त प्रजातंत्र और (५) बढ़ती हुई विराट जनसंख्या की। ये पाँच खूबियाँ एक साथ किसी भी देश में नहीं हैं।[१०] इन विशेषताओं ने या कहें कि परस्पर अन्तर्विरोधी बातों ने नवीन परिणामों को जन्म दिया है। प्रान्तीयतावाद, जातिवाद, आंचलिकतावाद, गुटवाद, भाषायी संघर्ष, साम्प्रदायिकता जैसे तत्व पनपे हैं। परिणामस्वरूप आज सारा देश टूटा हुआ है। देश की आत्मा टूट गई है—इतिहास में और भी कोई ऐसा देश है जो इतना टूटा हुआ है, जितना हिन्दुस्तान।[११] सरकार प्रजातंत्र और कम्युनिस्ट के बारे में हवाई विचार रखने के कारण जनता पर न तो सामाजिक अनुशासन ही लागू कर सकी है और न ही उनमें कर्त्तव्य भावना भर सकी है। इस वजह से भी अकुशलता, भ्रष्टाचार, असमानता और कट्टरता बढ़ी है। अतएव न्याय और शोषण, स्वतंत्रता और उत्पीड़न, सच और झूठ, गरीबी और भुखमरी, बलिदान और आतंक परस्पर टक्कर ले रहे हैं। स्वाधीनता के समय धर्म निरपेक्ष राज्य, प्रजातंत्रवादी व्यवस्था, अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग तथा समाजवादी समाज की रचना एवं औद्योगीकरण को जिस स्वप्निल ढंग से प्रस्तुत किया उनके स्थान पर अवसाद, कुण्ठा, भुखमरी, बेकारी, गरीबी और वर्ग-संघर्ष से सामना हुआ।

सांस्कृतिक गतिरोध—हम असल में दो संस्कृतियों की संधि में फंसे हैं—एक मरती हुई इंद्रियपरक संस्कृति जो अभी तक की सुन्दरतम उपलब्धि मानी जाती थी, तथा दुसरी आने वाले कल की विचारात्मक संस्कृति जो अभी पकड़ में नहीं आ रही है।[12] भारतीय संस्कृति भी आधुनिकता के रंग में रंगती जा रही है। भारतीय संस्कृति में बौद्धिकता का समावेश इस युग की महत्वपूर्ण विशेषता है। विगत संस्कृति का भी नवीन बौद्धिक विश्लेषण किया जा रहा है। वर्तमान समय में जिस गति से भौतिक जगत में परिवर्तन आ रहा है उस गति से सांस्कृतिक जगत में नहीं। वस्तुतः यह असंतुलन की स्थिति है। हमारी संस्कृति परम्पराओं पर अधिक निर्भर रही है और आज के इस विज्ञान के युग में परम्पराएँ द्रुतगति से टूट रही हैं। आज के इस यांत्रिक युग में मानव के पास इतना समय नहीं और सुविधा भी नहीं कि वह रीति-रिवाज, संस्कार और परम्परागत मान्यताओं का पालन कर सके। आणविक परिवार की बढ़ती हुई प्रवृत्ति के कारण संयुक्त परिवारों का विघटन हो रहा है और हमारे आपसी सम्बन्धों में शिथिलता आती जा रही है।

नैतिकता : नये युग के नये संदर्भ में—प्रत्येक समाज में नैतिक मूल्यों की विशिष्ट परम्परा रहती है। उच्चता, श्लील-अश्लील, पाप-पुण्य आदि के मापदण्ड होते हैं। समाज की उच्छृंखलता पर नैतिक मूल्यों का नियंत्रण रहता है। आज समाज की उच्छृंखलता पर नैतिक मूल्यों का नियंत्रण समाप्त होता जा रहा है क्योंकि नैतिक मान्यताओं को अस्वीकार कर दिया गया है; फलतः आदमी अपने को असुरक्षित महसूस कर रहा है। बढ़ती हुई जनसंख्या के प्रवाह पर नियंत्रण करने के लिए बंध्याकरण, गर्भ निरोधक साधन, गर्भपात और देर से ब्याह की सलाह दी जाती है। गुप्तांग और प्रजनन के चित्रों द्वारा जानकारी को अनैतिक नहीं माना जाता। फिल्म उद्योग तो सेक्स के बदरंग रूप को प्रस्तुत करता है। सड़कों पर सेक्स उभर रहा है। अर्धनग्न पोशाकें अपनायी जा रही हैं। इस युग में क्षुधा और काम जैसे विषय मुख्य बन गये हैं। नये शिशु का आगमन भारस्वरूप प्रतीत होता है। आचरण की पवित्रता के स्थान पर दैहिक सौन्दर्य को महत्व मिल रहा है। वैवाहिक जीवन में तलाक को स्वीकृति मिल चुकी है। वर्तमान भारतीय व्यक्ति आर्थिक दबावों से घिर कर स्वकेन्द्रित हो गया है। परिणामतः प्रेम, स्नेह, दया, सेवा जैसे भावात्मक मूल्यों में दिखावा आ गया है। कथनी और करनी में अंतर आ गया है। हर व्यक्ति जैसे असंख्य अनजाने मुखौटों में अपनी वास्तविकता को छिपाये है। दाम्पत्य जीवन सम्बन्धी परम्परागत नैतिक मान्यताएँ शिथिल हो रही हैं। एकनिष्ठता की माँग अब अनुचित प्रतीत होती है। यानी हर मामले में भारतीय परम्परा के विरोध को स्वीकृति दी गई है। इसका परिणाम यह हुआ है कि भारतीय

गौन और नैतिकता के नियंत्रण क्षीण होते जा रहे हैं (यद्यपि टूटे नहीं हैं)। नियंत्रणों के ह्रास के कई कारण हैं। एक तो हमारे संगठनों में विशेषीकरण की कोटि बढ़ रही है, दूसरे सामाजिक संबंधों में देरे वाले केन्द्र बदल रहे हैं, तीसरे पारिवारिक ढाँचे बदल रहे हैं, चौथे साक्षरता में परिवर्तन हो रहा है, और तर्क बुद्धि विकसित हो रही है। पाँचवें जनसंख्या सम्बन्धी स्थितियाँ बदल रही हैं, छठे विनिमय के माध्यमों के सर्व साधारणीकरण में वृद्धि हो रही है तथा अन्ततः परम्परागत संगठन कुशलता का क्षय हो रहा है।[९] स्वतंत्र्योत्तर समाज की यही स्थिति है। यह सभी स्थितियाँ यहाँ भी कार्य कर रही है। अतः मूल्यों में बदलाव आना निश्चित है। भारतीय समाज में आर्थिक असमानता, वर्ग संघर्ष, मध्यवर्गीय जीवन का शिथिलीकरण, वैयक्तिक तनाव, नये-पुराने आदर्शों और सिद्धान्तों का द्वन्द्व, समाज और शक्ति का आपसी वैमनस्य, यांत्रिक प्रणाली के प्रयोग एवं उससे उत्पन्न कठिनाइयाँ, शिक्षित नारी का नवीन विकास तथा संयुक्त परिवार का विघटन आदि तत्त्व क्रियाशील हैं। ऐसी स्थिति में मूल्य विघटन और मूल्य निर्माण स्वाभाविक है।

राजनीतिक चेतना—राजनीतिक दृष्टि से आधुनिक भारत की अपनी पाँच आधुनिक विशिष्टताएँ हैं—(१) अनेक राज्यों वाले संघ देश की, (२) सोलह प्रधान भाषाओं और संघ भाषा विहीन राष्ट्र की, (३) अनेक कालों, पौराणिक, मध्यकालीन, सामन्तकालीन, जमींदारीयुगीन इत्यादि वाले सामाजिक संस्कारों की, (४) अनेक राजनैतिक दलों से युक्त प्रजातंत्र और (५) बढ़ती हुई विराट जनसंख्या की। ये पाँच खूबियाँ एक साथ किसी भी देश में नहीं हैं।[१०] इन विशेषताओं ने या कहें कि परस्पर अन्तर्विरोधी बातों ने नवीन परिणामों को जन्म दिया है। प्रान्तीयतावाद, जातिवाद, आंचलिकतावाद, गुटवाद, भाषायी संघर्ष, साम्प्रदायिकता जैसे तत्त्व पनपे हैं। परिणामस्वरूप आज सारा देश टूटा हुआ है। देश की आत्मा टूट गई है— इतिहास में और भी कोई ऐसा देश है जो इतना टूटा हुआ है, जितना हिन्दुस्तान।[११] सरकार प्रजातंत्र और कम्युनिस्ट के बारे में हवाई विचार रखने के कारण जनता पर न तो सामाजिक अनुशासन ही लागू कर सकी है और न ही उनमें कर्त्तव्य भावना भर सकी है। इस वजह से भी अकुशलता, भ्रष्टाचार, असमानता और कट्टरता बढ़ी है। अतएव न्याय और शोषण, स्वतंत्रता और उत्पीड़न, सच और झूठ, गरीबी और भुखमरी, बलिदान और आतंक परस्पर टक्कर ले रहे हैं। स्वाधीनता के समय धर्म निरपेक्ष राज्य, प्रजातंत्रवादी व्यवस्था, अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग तथा समाजवादी समाज की रचना एवं औद्योगीकरण को जिस स्वप्निल ढंग से प्रस्तुत किया उनके स्थान पर अवसाद, कुण्ठा, भुखमरी, बेकारी, गरीबी और वर्ग-संघर्ष से सामना हुआ।

सांस्कृतिक गतिरोध—हम असल में दो संस्कृतियों की संधि में फंसे हैं—एक मरती हुई इंद्रियपरक संस्कृति जो अभी तक की सुन्दरतम उपलब्धि मानी जाती थी, तथा दूसरी आने वाले कल की विचारात्मक संस्कृति जो अभी पकड़ में नहीं आ रही है।[१२] भारतीय संस्कृति भी आधुनिकता के रंग में रंगती जा रही है। भारतीय संस्कृति में बौद्धिकता का समावेश इस युग की महत्वपूर्ण विशेषता है। विगत संस्कृति का भी नवीन बौद्धिक विश्लेषण किया जा रहा है। वर्तमान समय में जिस गति से भौतिक जगत में परिवर्तन आ रहा है उस गति से सांस्कृतिक जगत में नहीं। वस्तुतः यह असंतुलन की स्थिति है। हमारी संस्कृति परम्पराओं पर अधिक निर्भर रही है और आज के इस विज्ञान के युग में परम्पराएँ द्रुतगति से टूट रही हैं। आज के इस यांत्रिक युग में मानव के पास इतना समय नहीं और सुविधा भी नहीं कि वह रीति-रिवाज, संस्कार और परम्परागत मान्यताओं का पालन कर सके। आणविक परिवार की बढ़ती हुई प्रवृत्ति के कारण संयुक्त परिवारों का विघटन हो रहा है और हमारे आपसी सम्बन्धों में शिथिलता आती जा रही है।

नैतिकता : नये युग के नये संदर्भ में—प्रत्येक समाज में नैतिक मूल्यों की विशिष्ट परम्परा रहती है। उच्चता, श्लील-अश्लील, पाप-पुण्य आदि के मापदण्ड होते हैं। समाज की उच्छृङ्खलता पर नैतिक मूल्यों का नियंत्रण रहता है। आज समाज की उच्छृङ्खलता पर नैतिक मूल्यों का नियंत्रण समाप्त होता जा रहा है क्योंकि नैतिक मान्यताओं को अस्वीकार कर दिया गया है; फलतः आदमी अपने को असुरक्षित महसूस कर रहा है। बढ़ती हुई जनसंख्या के प्रवाह पर नियंत्रण करने के लिए बंध्याकरण, गर्भ निरोधक साधन, गर्भपात और देर से ब्याह की सलाह दी जाती है। गुप्तांग और प्रजनन के चित्रों द्वारा जानकारी को अनैतिक नहीं माना जाता। फिल्म उद्योग तो सेक्स के बदरंग रूप को प्रस्तुत करता है। सबकी पर सेक्स उभर रहा है। अर्धनग्न पोशाकें अपनायी जा रही हैं। इस युग में सुरा और काम जैसे विषय मुख्य बन गये हैं। नये शिशु का आगमन भारस्वरूप प्रतीत होता है। आचरण की पवित्रता के स्थान पर दैहिक सौन्दर्य को महत्व मिल रहा है। वैवाहिक जीवन में तलाक को स्वीकृति मिल चुकी है। वर्तमान भारतीय व्यक्ति-वादिक दबावों से घिर कर स्वकेन्द्रित हो गया है। परिणामतः प्रेम, स्नेह, दया, सेवा जैसे भावात्मक मूल्यों में दिखावा आ गया है। कथनी और करनी में अंतर आ गया है। हर व्यक्ति जैसे बरबस अनजाने मुखौटों में अपनी वास्तविकता को छिपाये है। दाम्पत्य जीवन सम्बन्धी परम्परागत नैतिक मान्यताएँ शिथिल हो रही हैं। एकनिष्ठता की मांग अब अनुचित प्रतीत होती है। यानी हर मामले में भारतीय परम्परा के विरोध को स्वीकृति दी गई है। इसका परिणाम यह हुआ है कि भारतीय

जीवन द्वन्द्व में है। जहाँ वह शारीरिक दरिद्रता आवश्यक नहीं मानता वहीं आवश्यक भी मानता है (वेवर)। जहाँ दाम्पत्य जीवन में पति-पत्नी एक-दूसरे के आचरण के बारे में मौन रहते हैं वहाँ एकनिष्ठता आवश्यक भी मानते हैं। (एक इंच मुस्कान) अर्थात् जहाँ एक नग्न पीढ़ी जन्मी है, जहाँ मनुष्य आदिम स्थिति का पुनः उपभोग करना चाहता है और प्रेम और सेक्स के स्वेच्छाचार को प्रश्रय देना चाहता है। पत्नीव्रत या पतिव्रत जहाँ खोखला माना जाता है वहीं मानवता और मानव का तकाजा देता है।

युवा मानस—आधुनिक युग में युवा मानस के रूप में एक नई पीढ़ी उभर रही है जिसमें असंतोष का स्वर प्रमुख है। उसमें पुरानी पीढ़ी के दकियानूसी विचारों के प्रति असन्तोष, शिक्षा के प्रति असन्तोष, समाज के प्रति असन्तोष, सामाजिक मान्यताओं और परम्पराओं के प्रति असन्तोष है। शासन इस असंतोष को मिटाने में असमर्थ सिद्ध हुआ है। अतः अनुशासनहीनता पनप रही है। इस कारण राष्ट्र में बड़े-बड़े उपद्रव, उच्छृङ्खलताओं और जनजीवन को अस्त-व्यस्त कर देने वाली स्थिति पैदा हो रही है। वर्तमान शिक्षा-पद्धति से शिक्षित बेरोजगारों की संख्या बढ़ रही है। निराशा और विद्रोह की भावना तोड़-फोड़ और अव्यवस्था को बढ़ावा दे रही है। १९७४ के छात्र-आन्दोलन ने देश की गति ही बदल दी है।'

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि स्वाधीनता के बाद व्यक्ति और राष्ट्रजीवन की जो परिस्थितियाँ हैं, विचारों का संघर्ष और उलझनें हैं, जीवन-मूल्यों के अवमूल्यन और पुनर्मूल्यन की समस्या है और जिस प्रकार इस संकुल जटिल स्थिति के बीच से व्यक्ति और राष्ट्र प्रगति की नई दिशा खोज रहा है, इस प्रकार देश की नवीन परिस्थितियों और संघर्षों के सन्दर्भ में साहित्य और साहित्यकार के सामने भी नये प्रश्न हैं, नई समस्याएँ हैं साहित्यकार के दायित्व, साहित्यिक धारणाओं, प्रवृत्तियों एवं विचार का संघर्ष है। इस संघर्ष में ही स्वाधीन भारत का साहित्य अपनी नयी दिशा खोज रहा है।[13]

प्रेम की अवधारणा—उपन्यासों के माध्यम से प्रेम धारणा की विकास यात्रा अभी समाप्त नहीं हुई है और बीसवीं शताब्दी भी अभी शेष हैं लेकिन प्रेम को लेकर जितने परिवर्तन विश्व के औपन्यासिक क्षेत्र में हुए हिन्दी उपन्यास उसका एक अंश ही ग्रहण कर सका। क्योंकि इस परिवर्तन का प्रभाव भारतीय जीवन पर पड़ने और वहाँ से साहित्य तक जाने में जिस क्रम का निर्वाह होना चाहिए था वह नहीं हुआ। हिन्दी उपन्यास के एक हिस्से ने तो इस परिवर्तन को स्वीकार करने से ही इनकार किया और दूसरे ने उसे सीधे साहित्य से साहित्य में ग्रहण किया और जीवन को माध्यम बनाने की आवश्यकता नहीं समझी। फलतः प्रेम को लेकर

उपन्यासों में परम्परा और आधुनिकता की खाई सबसे अधिक चौड़ी दिखाई पड़ती है। एक सीमा तक मनोविज्ञान ने यह खाई पाटने की चेष्टा की, लेकिन उपन्यासकारों के एक वर्ग ने मनोविज्ञान को भी अपनी रूढ़िवादी व्याख्याओं में समेट लिया और दूसरे वर्ग ने उसे प्रयोगशाला के फार्मूलों तक सीमित रखा। मनोविज्ञान के बाद यह काम मार्क्सवाद कर सकता था लेकिन उपन्यासकार आरम्भ से ही जिस न्यूरोसिस तथा विरोधाभासों के शिकार होते गये उसमें उलझकर मनोविज्ञान तथा मार्क्सवाद दोनों का रोमांटिक रूप ही अधिक सामने आया। प्रेम के क्षेत्र में मनोवैज्ञानिक रोमांस तथा मार्क्सवादी रोमांस की परम्परा ही चलती रही। इलाचन्द्र जोशी और यशपाल के (प्रारम्भिक) उपन्यास इसका सर्वोत्तम उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। हालांकि केवल यशपाल का 'झूठा सच' ही इसका अपवाद भी प्रस्तुत करता है।

लगभग यही स्थिति प्रेम के उन व्याख्याकारों की रही जो परम्परा की भूमि पर अपने को सुरक्षित तथा सुदृढ़ अनुभव करते थे। हिन्दी उपन्यासकारों की परम्परा सम्बन्धी सारी धारणाएं पुनर्जागरण की व्याख्याओं के द्वारा निर्मित हुई थी और पुनर्जागरण काल के जिन अन्तर्विरोधों की चर्चा हम विस्तार से कर आये हैं, उन्हें उपन्यासकारों ने उत्तराधिकार के रूप में यथावत ग्रहण किया। स्त्री, देवी रही है या दासी प्रेम तथा भोग के बीच ही भटकती रही।

वस्तुतः हिन्दी के अधिसंख्यक उपन्यास रोमांटिक संवेदना की उपज हैं। रोमांटिक संवेदना से सीधे प्रभावित या उसके हेंगओवर से ग्रस्त या उसकी प्रतिक्रिया की सिनिसिज्म के शिकार हैं।

एक सुचिंतित तथा संतुलित बुद्धिवादी दृष्टि उपन्यासों के भीतर शायद ही कभी विकसित हुई हो। उसकी एक झलक या तो प्रेमचन्द के गोदान में दिखाई पड़ी या यशपाल के 'झूठा सच' में। लेकिन प्रेम को लेकर प्रेमचन्द अन्त तक मध्ययुगीन बने रहे और यशपाल ने 'झूठा सच' में प्रेम के मिथक तो तोड़े लेकिन प्रेम की मानसिकता का पूरी तरह साक्षात्कार करने में वे असमर्थ रहे। प्रेम की मानसिकता का सर्वाधिक सघन साक्षात्कार जैनेन्द्र और अज्ञेय ने किया—लेकिन प्रेम के सबसे अधिक मिथक भी इन्हीं उपन्यासकारों ने गढ़े। इस विडम्बनात्मक स्थिति से हिन्दी उपन्यासों का प्रेम अन्त तक नहीं उबर सका। वह या तो मानसिक प्रक्षेपण का दिवा-स्वप्न बना रहा या भोगवादी शारीरिकता का शोषण-अस्त्र। समकालीन उपन्यासों के अपेक्षाकृत छोटे प्रयासों में प्रेम का यह मानसिक अतिवाद और शोषण वाला रूप तो समाप्त हो गया। लेकिन यन्त्रयुग के चरम निर्वासन ने उन्हें इस योग्य ही नहीं रहने दिया कि वे प्रेम की किसी सार्थक शक्ति के रूप में ग्रहण या

अभिव्यक्त कर सकें। प्रेम तथा मानवीय सम्बन्धों की निरर्थकता को इन उपन्यासों में चरम सीमा पर पहुँचा दिया गया। यदि रचना में केवल निषेधात्मक प्रवृत्तियों का कोई महत्व होता हो तो समकालीन उपन्यासों में तीव्रतम रूप प्राप्त होता है। समकालीन उपन्यासों के इस प्रेम का नायक, जिसे नायक की परम्परागत धारणा के अन्तर्गत प्रतिनायक कहा गया, सिनिक बना जो प्रवृत्तियों के अनुरूप आनन्द के लिए अपना सारा व्यवहार निर्धारित करता है। प्रेम में यहाँ हिडोनिज्म या भोगवाद ही प्रधान हो गया; जिसकी विडम्बना यह है कि इस भोग का आनन्द लेने में यह प्रतिनायक असमर्थ है। वह केवल उसकी निरर्थकता को ही परत-दर-परत खोलता चला जाता है। पिछले अध्याय में श्रीकांत वर्मा तथा महेन्द्र भल्ला के उपन्यासों के संदर्भ में प्रेम की इस भोगवादी निरर्थकता का विश्लेषण किया जा चुका है।

दूसरी ओर आधुनिकता तथा परम्परा के मिश्रण से प्रेम के जो मिथक निर्मित किये गये उसमें प्रेम का पीड़ावादी रूप ही प्रधान बना रहा अर्थात् जो आनन्ददायक है वह प्रेम नहीं है—आत्मनिषेध तथा आत्मोत्सर्ग ही प्रेम की श्रेष्ठता के सही मानदंड हैं। हिन्दी उपन्यासकारों का एक विशिष्ट वर्ग इसी प्रेम-धारणा का प्रचारक दिखाई पड़ता है। यह प्रेम-धारणा रोमांटिक संवेदना तथा गांधीवादी विचारधारा के मिश्रण से निर्मित हुई थी। पहले ही देखा जा चुका है कि पुनर्जागरणकालीन व्यापक अन्तर्विरोधों के कारण हिन्दी उपन्यासकारों ने मनोविज्ञान, मार्क्सवाद तथा गाँधीवाद सभी विचारधाराओं का एक विचित्र मिश्रण तैयार किया जो किसी मौलिक जीवन दृष्टि के अभाव में व्यक्तिगत पूर्वाग्रहों से आगे नहीं बढ़ पाया।

प्रेम के पीड़ावाद के मूल में पुनर्जागरणकालीन विशुद्धतावाद भी था, जो प्रेम की अतृप्ति से पैदा होता है। इस विशुद्धतावाद का प्रभाव हो था कि जीवन और साहित्य दोनों में एक ओर शक्ति की तलाश करने वाले पद लोलुप, अधिकार-लोलुप तथा प्रतिष्ठा लोलुप चरित्रों की बाढ़ आ गई और दूसरी ओर यही संक्रमित विशुद्धतावाद असमय वयस्क तथा शेखर जैसे अतिरिक्त गम्भीर पात्रों को जन्म देने लगा। प्रत्येक विशुद्धतावाद प्रेम विरोधी तथा समाज-विरोधी होता है जो निर्वेद को साथ लेकर केवल आत्महनन में लीन हो जाता है। हिन्दी उपन्यास का यह दुर्भाग्य ही कहा जायगा कि सामाजिक, वैयक्तिक, ऐतिहासिक तथा आंचलिक क्षेत्रों में प्रवृत्त उसके अधिकांश प्रतिभाशाली उपन्यासकार अन्त तक इस पीड़ावादी प्रेम के व्याख्याता ही बने रहे।

रोमांटिक युग की उपज होने के कारण हिन्दी उपन्यासों में कभी क्लासिकल युग नहीं आया। वह भावुकता तथा रोमांस का आधार ही बना रहा। महाकाव्यों में

जो प्रेम प्रासंगिक था वही उपन्यासों में प्रमुख हो गया। रोमांटिक युग में आकर ही प्रेम कथा-साहित्य का आधार बना। महाकाव्यों में जो स्थान युद्ध का था—उपन्यासों में वही स्थान प्रेम ने लिया। इस तरह युद्ध बाहर से स्थानान्तरित होकर मानसिक जगत के रणक्षेत्र में आ गया।

रोमानी भावुकता से मुक्त उपन्यासों में प्रेम में पराजित व्यक्ति तो समाज से मिथकर 'संन्यासी' हो जाता है या 'गुनाहों का देवता' बन जाता है या आत्म-हत्या के द्वारा अपने पलायन को निषेधात्मक पूर्णता तक पहुँचा देता है। हिन्दी उपन्यासों में यह परम्परा किशोरी लाल गोस्वामी से लेकर 'आधा गाँव' जैसे उपन्यासों तक में देखी जा सकती है। इन उपन्यासों के रचना-संसार में प्रवेश करने पर अकेलापन, आतंक, भय और अस्थिरता का वातावरण दिखाई पड़ता है। वस्तुतः प्रेम के माध्यम से व्यक्तिगत तथा सामाजिक तलाश में ये उपन्यासकार कोई यथार्थ-पूर्ण समन्वय नहीं कर पाये। किशोर व्यक्तियों की एकांत तलाश भय तथा असुरक्षा के बीच से गुजरने के लिए बाध्य होती ही। इसके अलावा प्रत्येक पात्र प्रेम के माध्यम से अपनी स्वतंत्रता की तलाश करता है, और नितांत वैयक्तिक स्वतन्त्रता की तलाश के माध्यम पर्यवसान, कुण्ठा तथा बहशीपन में ही होता है।

उपन्यासों में प्रेम के इस विकास क्रम में ध्यान देने योग्य एक तथ्य यह भी है कि चाहे बंगाल से आने वाली औपन्यासिक परम्परा का प्रभाव हो या पुनर्जागरण के नारी नवोत्थान की प्रेरणा। आधुनिक संवेदना के प्रवेश से पूर्व तक प्रेम का अधिकांश दायित्व स्त्रियाँ ही वहन करती दिखाई पड़ती हैं और उसके परिणामों को भी वे सबसे अधिक भुगतती हैं—पुरुष प्रायः वंचक या निष्क्रिय ही बना रहता है। अज्ञेय का शेखर पुरुष के रूप में दायित्व को पहली बार उठाता है। लेकिन परिणाम शशि ही भुगतती है। गोदान के मेहता तो दायित्व से ही भागते हैं। प्रेम में विवाह के दायित्व से भागना अपने को सामाजिक व्यक्तित्व के रूप में स्थापित करने से ही भागना है।

कुछ उपन्यासों में प्रेम को धर्म का पर्याय बनाकर चित्रित करने का प्रयास किया गया है। यह मध्ययुगीन भक्ति-परम्परा का प्रभाव था और ईसाई धर्म-परम्परा का भी। जैनेन्द्र, अज्ञेय तथा डा० देवराज के 'अजय डायरी' तक में यह परम्परा अनेक रूपों में विकसित होती दिखाई पड़ती है। यह प्रेम का नव-रहस्यवादी रूप था, जिसमें एक प्रकार की आस्था भी शामिल थी। बल्कि यह आस्था ही इस प्रेम का आधार थी। स्त्री तथा पुरुष के बीच आस्था पर आधारित यह प्रेम-धारणा भी पूर्णतः भावुकतावादी धारणा थी—जो नारी को केन्द्र में रख कर उसे प्रतिशोध की जगह क्षमा की मूर्ति बना देती है। इन उपन्यासों में प्रेम की भाषा भी भावकता रस से सराबोर दिखाई पड़ती है। अज्ञेय ने इस भाषा

का बौद्धिककरण करने की कोशिश की, लेकिन प्रेम की तरलता ही इनकी भाषा की आत्मा है। जैनेन्द्र ने स्पष्ट ही लिखा है कि उनके साहित्य का उद्देश्य बुद्धि का विरोध है।

लगभग इसी युग के आस-पास उपन्यास में चरम लक्ष्य के रूप में प्रेम प्रतिष्ठित हुआ, जिसमें आत्मपीड़न के अलावा एक प्रकार का दीवानापन भी शामिल था—जिसे जैनेन्द्र का 'त्यागपत्र,' 'कल्याणी' और अज्ञेय के 'नदी के द्वीप' में स्पष्टतः देखा जा सकता है। यह प्रेम वस्तुतः प्रियपात्र के प्रति नहीं पीड़ा के प्रति होता है जो मनोवैज्ञानिक दृष्टि से एक प्रकार की न्यूरोसिस है।

नारी को केन्द्र में रख कर प्रेम की बजाय श्रद्धा करने में भी आत्मपीड़न या आत्मभर्त्सना का भाव ही संयुक्त रहता है। 'नदी के द्वीप' तथा 'गुनाहों के देवता' जैसे भावुकतावादी उपन्यासों में पुरुष तथा स्त्री दोनों आत्मभर्त्सना तथा आत्मपीड़ा से गुजरते दिखाये जाते हैं जिसके मूल में वह अपराध बोध है जो लेखक की चेतना को आक्रांत किये रहता है। यह अपराध-बोध न तो अपनी प्रवृत्तियों के साथ और न सामाजिक मान्यताओं के साथ न्याय कर पाने के कारण है। जैनेन्द्र की नायिकाएँ अपने तमाम विरोधों के बावजूद प्रचलित सामाजिक मान्यताओं की वकालत करती हैं और अज्ञेय के पात्र क्रमशः समाज की ओट में होते हुए अपने एकांत को सामने ही प्रमाणित या अप्रमाणित करने लगते हैं जहाँ तक कि यशपाल की शैल (दादा कामरेड) तथा डॉ० भगवानदास (देशद्रोही) जैसे विद्रोही पात्र भी इसी अपराध-बोध से ग्रस्त रहते हैं।

उपन्यासों में नारी एक ओर श्रद्धा, पवित्रता और शक्ति का स्रोत मानी गई तो दूसरी ओर उसका उपभोग भी बढ़ा—यह सेडक्शन पुराने अपहरण का नया रूप था—जिसमें यह भावना निहित थी कि नारी मूलतः कमजोर होती है और उसकी कमजोरी का फायदा उठाया जा सकता है। नारी देवी या पतित नहीं है, वह केवल कमजोर है। किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यासों और प्रेमचन्द की प्रतिज्ञा आदि से लेकर समकालीन उपन्यासों तक में (एक पति नोट्स) यह सेडक्शन औपन्यासिक प्रेम का एक प्रमुख अंग बना हुआ है। यंत्र-युग में यह सेडक्शन नारी उपयोग के अन्य व्यावसायिक कौशलों से युक्त हो गया है। सेडक्शन की प्रवृत्ति उसी समाज की कथा-कृतियों में प्रधान होती है जहाँ नैतिकता का यौन शुद्धता पर्याय बने रहते हैं, और भारतीय समाज से बढ़कर उसे उपयुक्त औपन्यासिक क्षेत्र और कहाँ मिल सकता था। एक जमाने में यौन-सम्बन्धों को लेकर युद्ध हुआ करते थे। लेकिन अब यौन-सम्बन्ध ही युद्ध बन गये। इस युद्ध में पुरुष विवाह के बिना यौन तृप्ति चाहता है (उत्तरदायित्वहीन तृप्ति) और स्त्री यौन तृप्ति के भीतर ही विवाह की सुरक्षा

भी चाहती है। आधुनिक उपन्यासों के प्रेम का यह प्रधान चरित्र लक्षण है जो समकालीन उपन्यासों में भी उपस्थित है (एक इंच मुस्कान)।

यह प्रवृत्ति एक प्रकार की वर्ग संघर्ष भावना को भी व्यक्त करती है। प्रायः इस द्वन्द्व को भावुकतापूर्ण समानता के तर्कों के द्वारा शामिल किया जाता है। (इसका सर्वोत्तम उदाहरण गोदान के प्रो० मेहता के भाषण हैं)। उपन्यासों में यह वर्ग-संघर्ष निम्न वर्ग की उस प्रतिक्रिया तथा विद्रोह वृत्ति को भी व्यक्त करता है जो विवाह पूर्व प्रेम को स्वीकृति देता है और उसे भ्रष्टाचार मानने से इन्कार करता है। प्रजातांत्रिक धरातल पर प्रेम भी अन्य मानवीय अधिकारों की तरह एक अधिकार है और सेंसरशिप मानवीय अधिकारों का हनन है।

प्रेम में भावुकतावाद की प्रतिष्ठा के लिए आवश्यक था कि पृष्ठभूमि में आभिजात्य की परम्परा हो, जिसके विरुद्ध उसे प्रतिष्ठित किया जा सके। हिन्दी उपन्यासों का मध्यम वर्ग जो इन उपन्यासों का निर्माता तथा पाठक दोनों है...... इस अभिजात के विरुद्ध कहीं भी खुलकर विद्रोह नहीं करता—प्रेमचन्द यदि एक सीमा तक अभिजात विरोधी हैं भी (यद्यपि अभिजात का मोह 'रंगभूमि' की रानी जाह्नवी तथा 'गोदान' के राय साहब के प्रति बना ही रहता है) तो जैनेन्द्र तथा मुख्य रूप से अज्ञेय अभिजात के प्रति लोलुप हो जाते हैं। हिन्दी उपन्यासों में 'भावुकतावादी' अभिजात प्रेम बंगाल के रास्ते बंकिमचन्द्र, शरत् तथा रवीन्द्र के माध्यम से आया, जिसके केन्द्र में नारी थी। 'भावुकतावाद' ने स्त्री-पुरुष तथा धनी-गरीब अपने मिथक निर्मित किये और उन्हें मानवीय सम्बन्धों में भी प्रतिबिम्बित दिखाया। ये यशपाल, राहुल, रांगेयराघव के समाजवादी भावुकतावाद के रूप में भी दूर तक चलते दिखाई पड़ते हैं—और जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है ये मिथक केवल 'झूठा सच' में आकर टूटे।

ऐतिहासिक तथा आंचलिक उपन्यासों में काल तथा देश का विस्तार ही मिलता है। प्रेम संवेदना पूर्ववत् तथा अपरिवर्तनीय ही रहती है। ऐतिहासिक उपन्यासों ने अतीत में जाकर और आंचलिक उपन्यासों ने ग्राम अंचल में जाकर रोमांटिक प्रेम संवेदना का ही विस्तार किया। (आश्चर्य नहीं कि हिन्दी के प्रथम चर्चित आंचलिक उपन्यास 'मैला आंचल' का नामकरण छायावादी कवि पंत की कविता पंक्ति के आधार पर हुआ)। आंचलिक उपन्यास भी निकटतम अतीत के ऐतिहासिक रोमांस ही हैं। दोनों ने ऐतिहासिक मिथकों के तरह ही अपनी प्रेम धारणा निर्मित की। इतिहास को सामूहिक अनुभव तथा संघर्षपूर्ण विकास प्रक्रिया के रूप में देखने वाले उपन्यासों में केवल 'दिव्या' को छोड़कर किसी ने उसे इतिहास दर्शन की बुद्धिवादी प्रक्रिया के अंतर्गत नहीं देखा और प्रायः भावुकतावादी आरोपण

पद्धति ही अपनायी। इस संदर्भ में फिडलर का यह कथन सत्य ही प्रतीत होता है कि "न तो सामाजिक नैतिकता में बदलाव, न यौन स्वतंत्रता सम्बन्धी साहित्यिक घोषणाओं और सामाजिक व्यवहार में वास्तविक परिवर्तनों का भावुकतावादी मिथकों की जीवन क्षमता पर कोई प्रभाव पड़ता दिखाई पड़ता है।"

हिन्दी उपन्यासों के एक युग से दूसरे युग और एक लेखक से दूसरे लेखक में प्रेम के ये मिथक हस्तान्तरित होते रहे हैं। प्रायः प्रत्यक्ष सामाजिक परिवर्तन तथा सुधारवादी आन्दोलन भी एक मिथक रूप में सामाजिक जीवन में घर की हुई धारणा को नहीं तोड़ पाते। सफलता तथा जीवन व्यवहार में ऊपरी परिवर्तनों के बावजूद वह मिथक मूल जीवन दृष्टि को प्रभावित करता हुआ चलता रहा है। इससे वास्तविक जीवन तथा जीवन-सिद्धान्तों में और भी विरोधाभास पैदा हो जाता है। प्रेम को लेकर इसी विरोधाभास की परिस्थितियों का समकालीन उपन्यास आत्मनिर्वासन तथा अमानवीयकरण की प्रवृत्तियों से भुगतता हुआ दिखाई पड़ता है—जिसे यंत्र-युग की जटिलताओं ने और भी उलझा दिया है। अतः जब तक आधुनिक जीवन अपने लिये कोई स्वस्थ विकल्प नहीं ढूंढ लेता, तब तक उपन्यासों के माध्यम से प्रेम की व्यक्तिगत तलाश की सांत्वना ही बनी रहेगी।

संदर्भ :—

१. K. M. Kapadiya Marriage & Family in India, page 97
२. Same, page 97
३. भगवती चरण वर्मा—तीन वर्ष, (१९४६ प्रकाशन), पृ० १७१।
४. अमृत लाल नागर—अमृत और विष, पृ० ६७२।
5. Mathew Arnold—The one dyings & The other power less to be born.
६. डॉ० महावीर दधीच—आधुनिकता और भारतीय परम्परा, पृ० २१-२४
७. डॉ० ओंकार श्रीवास्तव—हिन्दी साहित्य परिवर्तन के सौ वर्ष
८. कमलापति त्रिपाठी—आधुनिक हिन्दी काव्य प्रवृत्तियाँ ४९८ प्र० स० १९६६, पृ० ८।
९. डॉ० रमेश कुन्तल मेघ : आधुनिकताबोध और आधुनिकीकरण, पृ० ८३-८४।
१०. वही पृ० ७१।
११. डॉ० राममनोहर लोहिया : लोहिया के विचार, सं० ओंकार शरद, पृ० ३९०।
१२. सारोकिन—क्राइसिस आफ अवर, पृ० ११३।
१३. डॉ० नगेन्द्र : पाश्चात्य काव्यशास्त्र : सिद्धान्त और वाद, पृ० ३६४।
१४. फिडलर—लव एण्ड डेथ इन अमेरिकन नावेल।

अध्याय सात

मध्यवर्ग और अभिनव जीवन के नये प्रतिमान

मध्यवर्ग वह वर्ग है जो न तो उत्पादन के साधनों का स्वामी होता है न तो पूँजीपति होता है और न उत्पादन के साधनों की इकाई श्रमिक वर्ग होता है। इस तरह बीच की स्थिति के कारण मध्यम वर्ग स्वभावतः अनेक सामाजिक स्तरों में विभाजित रहता है तथा उसमें एकरूपता नहीं होती। भारत में मध्यवर्ग का जन्म अंग्रेजों के आगमन के बाद हुआ, जब पूँजीपति सभ्यता और पश्चिमीकरण का आगमन हुआ। अंग्रेजों के आगमन के पहले सामन्ती व्यवस्था में भूमि-मालिक और कृषक हुआ करते थे, और सभी अपने-अपने पेशों के अनुसार काम किया करते थे। एक गाँव के सभी लोग अपनी जरूरत के मुताबिक चीजों का उत्पादन कर लिया करते थे। आवागमन के साधन कम थे। लोग अपढ़ थे। धार्मिक अंधविश्वास और रूढ़ियों में बंधे थे। अंग्रेजों के आगमन से भारतीय समाज पश्चिमी सभ्यता आचार-विचार से प्रभावित हुआ। अंग्रेजों ने भारतीय ग्रामीण अर्थव्यवस्था को खोद कर उसके स्थान पर पूँजीवादी सभ्यता का महल तैयार करने की नींव डाली। उन्हें अपना शासनतंत्र चलाने के लिए शिक्षित लोगों की आवश्यकता हुई; फलतः शिक्षा का प्रसार बढ़ा। शिक्षा का प्रसार होने से लोगों की समझ बढ़ी और उन्होंने अपनी स्थिति को पहचाना। शारीरिक श्रम करने के काबिल न होने के कारण पढ़े-लिखे लोगों की नियति नौकरी होती गई।

पूँजीपति और श्रमिक के बीच पढ़ा-लिखा, विचार और चेतना से परिपक्व मध्यवर्ग नये विचार और नयी मान्यताओं को स्थापित करता है। १६वीं शताब्दी के अन्त तक भारत में मध्यवर्ग का अस्तित्व स्थापित हो गया। समाज में अपना अस्तित्व और प्रतिष्ठा बनाने की चाह के कारण वह सामाजिक प्रश्नों के प्रति अधिक जागरूक

हो गया और अन्य वर्गों की अपेक्षा अधिक नैतिकतावादी हुआ। पूँजीवादी व्यवस्था में इसका कोई भी संरक्षित स्थान न होने के कारण आर्थिक संघर्ष की कटुता में जो जीता हुआ पूँजीपति की अट्टालिकाओं और श्रमिक वर्ग का झोपड़ियों के बीच द्वन्द्व में लटकता रहा। आर्थिक रूप से विपन्न वह न तो श्रमिक वर्ग के साथ मिलकर शारीरिक श्रम बेच सकता है और न आर्थिक सम्पन्न होने के नाते पूँजी ही लगा सकता है। इस तरह मध्यवर्ग शिक्षित, नये विचार सम्पन्न, आर्थिक द्वन्द्व से पीड़ित वर्ग है। १९वीं शताब्दी के उत्तरार्ध और बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में मध्य वर्ग युग की शक्ति, प्रगति तथा आशाओं का प्रतीक था।

भारतेन्दु युग, द्विवेदी युग तथा प्रेमचन्द-युगीन उपन्यासों में मध्यवर्ग प्रमुखता के साथ उजागर हुआ है। द्विवेदी युग में परम्पराबद्ध या कल्पित चरित्रों की प्रधानता थी। तत्कालीन पात्रों के व्यक्तित्व में सामाजिक चेतना दिखाई नहीं पड़ती। प्रायः उपन्यास के नायक प्रेमी या ऐयार हैं, किन्तु धीरे-धीरे यथार्थ और आदर्श का बोध होने पर सामाजिक चेतना प्रधान उपन्यासों की सृष्टि भी प्रारम्भ हुई। इस प्रकार के उपन्यासों में अयोध्यासिंह उपाध्याय का 'ठेठ हिन्दी का ठाठ', 'अधखिला फूल', लज्जाराम मेहता का 'हिन्दू गृहस्थ आदर्श दम्पति', 'आदर्श हिन्दू', मन्नन द्विवेदी गजपुरी का 'रामलाल', 'कल्याणी', प्रियम्वदा देवी का 'कलियुगी परिवार का दृश्य', पारसनाथ सिंह का 'मझली बहू' आदि द्विवेदी युग के प्रारम्भिक चरित्र प्रधान उपन्यास हैं। प्रेमचन्द के आगमन से चरित्र प्रधान उपन्यासों की स्वस्थ रचना परम्परा स्थापित हुई। इस युग में 'सेवा-सदन', 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि' आदि श्रेष्ठ चरित्र प्रधान उपन्यास हैं, जिनमें भारतीय समाज के विविध वर्गों और व्यक्तियों का चरित्र व्यक्त हो सका है। इस युग में कुछ ऐसे उपन्यास भी लिखे गये जिनमें वैज्ञानिक सत्य के आग्रह से विषय-वासना का नग्न स्वरूप उद्घाटित हुआ। चन्द्रशेखर पाठक का 'वारांगना रहस्य' ऐसा ही उपन्यास है। भावना प्रधान उपन्यासों में गद्य गीत का कथात्मक विस्तार होता है। इसमें कवित्व प्रधान हो सकता है। द्विवेदी युग में 'सौन्दर्योपासक', 'मनोरमा', 'कुसुम-कुमारी', 'मायापुरी', 'चपला' आदि भावना प्रधान उपन्यास लिखे गये।

इस युग में बंगला, अंग्रेजी, मराठी आदि भाषाओं से अच्छे-अच्छे अनुवादों का प्रारम्भ हो चुका था। बंकिम, रवीन्द्र, चण्डीचरण पंचकोड़ी, नगेन्द्रनाथ गुप्त आदि बंगला उपन्यासकारों के अनेक अनुवाद अयोध्यासिंह उपाध्याय, बालेश्वर प्रसाद, किशोरीलाल गोस्वामी, जनार्दन भट्ट, रूपनारायण नाथूराम प्रेमी आदि ने कृष्णकान्त का दानपत्र 'देवी', 'कपाल कुंडला', 'अमरसिंह', 'इन्दिरा', 'माधवी', 'राजपूत', 'जीवन प्रभात' आदि नामों से किया। बंगला उपन्यासों की प्रवृत्ति से हिन्दी में उपन्यास कला का शिल्पगत परिष्कार हुआ। हिन्दी उपन्यासों में बंगला

के समाज-चेतन साहित्य के ग्रहण करने की प्रवृत्ति से स्वस्थ सामाजिक उपन्यासों की परम्परा चल निकली। इसी समय हिन्दी उपन्यासों का प्रचार करने के लिए अनेक पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित हुई। उनमें 'हिन्दी के मनोरंजक उपन्यास' (सन् १८ १ ई०), 'उपन्यास लहरी' (सन् १९०२ ई०), 'उपन्यास सागर' (सन् १९०३ ई०), 'उपन्यास कुसुमांजलि' (सन् १९०४ ई०), 'उपन्यास बहार' (सन् १९०७ ई०), 'उपन्यास विचार' (सन् १९१२ ई०) आदि कई महत्त्वपूर्ण पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित हुई।

इस काल में उपन्यासों के प्रति आदर्शवादी लोगों की अरुचि रही। प्रेमचन्द के आविर्भाव के पूर्व जो उपन्यास साहित्य मिलता है उसमें चारित्रिक विशेषताओं का अभाव है। उसमें जीवन के आदर्श और यथार्थ का चित्रण नहीं मिलता। जनता में उपन्यास प्रचलित थे। उनमें प्रेम का कुरूप वर्णन मिलता है। अपने मनोरंजन के लिए जनता स्वस्थ सामाजिक चेतना संयुक्त उपन्यास प्राप्त नहीं कर सकती थी। पाठकों की रुचि का परिष्कार नहीं हो सका था। हिन्दी में अश्लील उपन्यासों की बाढ़ थी। पं० विष्णुदत्त शर्मा ने 'उपन्यास से हानि' शीर्षक में लिखा है, "पाठक के लिए उपन्यास मादक पदार्थ जैसे हैं। शृंगार रस के उपन्यास मन में कुवासना उत्पन्न करते हैं। उपन्यास पढ़ने से ऐहिक या पारलौकिक कार्यों में कोई फल नहीं मिलता और व्यर्थ चला जाता है। उपन्यास पढ़ने से बुद्धि सठियाई-सी जाती है। उपन्यास कविता और समालोचना से होने वाली हानियों के कारण सदा के लिए मिटा देना चाहिए।"[1]

तत्कालीन उपन्यास साहित्य की अवस्था अत्यन्त दयनीय थी। उपन्यास के बारे में अनेक गलतफहमियाँ फैली हुई थीं। उपन्यास पढ़ने-लिखने वाले अनादर की दृष्टि से देखे जाते थे। विपिन बिहारी श्रीवास्तव ने हिन्दी में मौलिक नाटकों की आवश्यकता पर प्रकाश डालते हुए इस संदर्भ में लिखा, "एक समय था जब हिन्दी में उपन्यासों की बड़ी धूम मच रही थी। कोई भी कलम चला बैठता और एक मनगढ़न्त उपन्यास तैयार करके अपने को लेखकों के वर्ग में समझने लगता था। *परिणाम यह हुआ कि हिन्दी में अश्लील और निन्दनीय उपन्यासों का* भण्डार बढ़ गया। उपन्यासों की ओर लोगों की बढ़ती हुई अभिरुचि को देखकर कुछ प्रेसों ने तो यहाँ तक किया कि कई मियाँजी और भैयाजी को पाँच रु० वेतन पर, उपन्यास लेखकों के रूप में अपने यहाँ नौकर रख लिया। फिर क्या था! रोज एक नवीन उपन्यास तैयार होकर साहित्य-क्षेत्र में पदार्पण करने लगा। 'किस्सा साढ़े तीन यार', 'नौलखाहार', 'रात को दो-दो बातें' इत्यादि पुस्तकें, जिनका नाम लेने में भी जी हिचकता है, बड़ी सजधज के साथ इन प्रेसों से छपकर निकलने लगी।"[2]
उपन्यास के प्रति जिस युग में ऐसा वातावरण हो उस युग में यदि उपन्यास

कला अधिक अविकसित रह गई तो कोई आश्चर्य नहीं। इस युग के प्रमुख सामाजिक उपन्यासकार किशोरी लाल गोस्वामी, अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध, लज्जाराम मेहता, ईश्वरीप्रसाद, ब्रजनन्दन सहाय और प्रेमचन्द हैं।

किशोरीलाल गोस्वामी के कई सामाजिक उपन्यास महत्वपूर्ण हैं। वे बंगला के उपन्यासों से विशेष प्रभावित हैं। सनातनधर्मी होने के कारण उन्होंने पश्चिमी सभ्यता से अपना वैचारिक साम्य स्थापित किया। उनके उपन्यासों में तत्कालीन यथार्थ जीवन का चित्रण मिलता है। यह चित्रण आदर्शवादी और सुधारवादी दृष्टिकोण लिये हुए है। अपने 'पुनर्जन्म' या 'सौतियाडाह' (सन् १९०७ ई०) नामक उपन्यास में उन्होंने नारी-जीवन का मनोवैज्ञानिक और वेदनापूर्ण चित्रण किया है। गोस्वामी जी ने 'माधवी माधव' या 'मदन-मोहनी' (सन् १९०९ ई०) नामक उपन्यास में लिखा है, "अपने देश के भाइयों से इस बात के लिए सविनय निवेदन करता हूँ कि सबसे पहले वे कन्याओं के सुधार का उद्योग करें। क्योंकि यदि सुकन्या समय पाकर सुगृहिणी होगी तो वही सुमाता होगी और उनका पुत्र सुपुत्र अवश्य होगा।"[३] उन्होंने अंग्रेजों द्वारा स्थापित स्कूलों में प्रचलित नारी-शिक्षा का इस उपन्यास में प्रतिरोध करते हुए कुशल गृहिणी पर ही शिक्षा देने की व्यवस्था की है।

'लीलावती या आदर्श सती' (१९०२) नामक उपन्यास में तत्कालीन समाज का तुलनात्मक निरूपण किया गया है, और असत्य पर सत्य की विजय दिखायी गई है। उन्होंने इस उपन्यास में लिखा है : "अभी कुछ नहीं बिगड़ा है और अभी भी समाज की रक्षा हो सकती है। अगर अंग्रेज जरा बाज आवें और अपने समाज को उसी पुरानी रीति से संस्कृत करें तो वैदिक और वर्तमान काल के उपयुक्त हो।"[४]

गोस्वामी जी का अत्यन्त सफल उपन्यास 'चपला व नव्य समाज' (सन् १९१४ ई०) है। यह रहस्यमय सामाजिक उपन्यास तत्कालीन समाज के अनेक चित्र पाठकों के सामने उपस्थित करता है। इस उपन्यास के निवेदन में उन्होंने लिखा है—"यह उपन्यास किसी देश, जाति, समाज या व्यक्ति विशेष के ऊपर अकारण आक्षेप करने की इच्छा से नहीं लिखा गया।"[५] इस उपन्यास में चपला नामक एक भारतीय परिवार की सुकन्या के कारण रहस्यात्मक जीवन के द्वारा वर्तमान समाज की घृणित अवस्था का ज्वलन्त चित्रण किया गया है। मुस्लिम सभ्यता के पतनोन्मुख दुष्परिणाम से रहस्य की सृष्टि की गई है। गोस्वामी जी के सामाजिक उपन्यास 'पाप और पुण्य' की विवेचना व सांकेतिक चित्र प्रस्तुत करते हैं। उनका कथन है "पाप कभी भी छिपाये नहीं छिपता और वह कभी न कभी संसार में प्रकट हो ही जाता है। पाप को प्रकट कर देना पाप से मुक्त होने का एक प्रायश्चित है।"[६]

यद्यपि गोस्वामी जी ने सामाजिक, ऐतिहासिक, जासूसी, तिलस्मी-अय्यारी सभी प्रकार के पैंसठ उपन्यासों की रचना की; परन्तु युग को देखते हुए कहा जा सकता है कि सामाजिक उपन्यासों में ही उन्हें सफलता मिली है। उनके उपन्यास धर्म की जय और पाप की पराजय की घोषणा करते हैं। वे अंग्रेजों की अपेक्षा मुसलमानों के प्रति अधिक कठोर हैं। कर्मफल में उनका दृढ़ विश्वास है और यह विश्वास उनके उपन्यासों में चरितार्थ हुआ है। आचार्य शुक्ल ने उन्हें द्वितीय उत्थान काल का एकमात्र उपन्यासकार स्वीकार किया; क्योंकि वे उपन्यास को ही अपना क्षेत्र चुनकर उसी में रम गये। इस दृष्टि से हिन्दी-साहित्य के वे पहले उपन्यासकार हैं।

अयोध्यासिंह उपाध्याय का 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' खड़ीबोली भाषा निर्माण की दृष्टि से अति महत्वपूर्ण है। उनके अन्य उपन्यास 'प्रेमकान्ता', 'राधा रानी', 'अधखिला फूल', 'वेनिस का बाँका' आदि हैं। हरिऔध जी ने 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' में केवल हिन्दी शब्दों का प्रयोग किया है। इस उपन्यास का सामाजिक महत्व है। देवबाला इस उपन्यास की नायिका है और देवनन्दन से वह प्रेम करती है। हिन्दू परिवारों की रूढ़ि और सामाजिक विषमता के कारण वह अशिक्षित और लम्पट रामनाथ से विवाह करने को विवश की जाती है। देवनाथ उसे हृदय से प्यार करता है। वह देवबाला में वासना की गंध नहीं पाता। इसलिए विवाह के बाद उसे बहन स्वीकार कर लेता है। देवबाला का पति रमानाथ उसे असहाय अवस्था में छोड़कर दूसरी स्त्री से अपना कामुक सम्पर्क स्थापित कर लेता है। देवबाला का *निधन अत्यन्त पीड़ित अवस्था में हो जाता है। सामाजिक यथार्थ की तीव्रता इस* उपन्यास में व्यक्त हुई है। 'अधखिला फूल' भी प्रेमप्रधान उपन्यास है। इस उपन्यास में नारी-जीवन की विविध समस्याओं की विवेचना की गई है। साधुओं के ढोंग पर व्यंग्य करते हुए हरिऔध जी ने कहा है : "साधु होना टेढ़ी खीर है, हाथ में तूँबा-चिमटा लिए हुए आप कितने को देखते हैं, क्या वे साधु हैं ? नहीं, साधु नहीं हैं।"[७] *यह उपन्यास समाज के विविध पक्षों पर प्रकाश डालता है।*

हरिऔध जी ने *ठेठ खड़ीबोली हिन्दी का आदर्श प्रस्तुत किया।* उन्होंने शिक्षितों की बोली को ठेठ भाषा स्वीकार किया है। उन्होंने दिखाया कि बोलचाल की भाषा में खरे संस्कृत शब्दों अथवा उर्दू-फारसी के वाक्यों का बिना सहारा लिये भी गद्य लिखा जा सकता है।

लज्जाराम मेहता प्रधानतः वेंकटेश्वर समाचार के संपादक थे। आचार्य शुक्ल जी के शब्दों में—"वे उपन्यासकार नहीं अखबार नवीस थे।" उन्होंने कुल तेरह उपन्यास लिखे। सामाजिक परिस्थितियों के चित्रण के लिए उनके 'आदर्श हिन्दू' नामक उपन्यास की विशेष चर्चा हुई है, परन्तु उनके परमक्रोधजनक सामाजिक

उपन्यास 'धूर्त रसिक लाल' में अनेक सामाजिक शिक्षा प्रधान बातों का वर्णन मिलता है। धूर्त रसिक लाल अपने मित्र सोहनलाल को शराब, वेश्या आदि दुर्व्यसनों में फँसाकर उसका नाश कर देता है। धूर्त रसिक लाल उसकी साध्वी पत्नी पर झूठे व्यवसाय का आरोप लगाकर उसे घर से निकलवा देता है। दिनों-दिन अनेक प्रकार के दुर्व्यसनों में आकण्ठ निमग्न रहने के कारण सोहनलाल मरणासन्न होता जाता है और धूर्त रसिक लाल सम्पत्ति के लालच में उसको तत्काल थोड़े से विष देकर उसकी जीवन लीला समाप्त करने का यत्न करता है। वह रंगे हाथ पकड़ लिया जाता है। बाद में पति-पत्नी दोनों मिलते हैं। यह उपन्यास सुखान्त है। 'स्वतन्त्र रम्भा और परतन्त्र लक्ष्मी' नामक उनका उपन्यास भी समाज-सुधार की दृष्टि से लिखा गया है। पाश्चात्य वातावरण और अधुनातन शिक्षा के संस्कार में पली-रमणी रम्भा के हेय और कुत्सित दुराचरण तथा उसकी सगी बहन लक्ष्मी के भारतीय परम्परागत संस्कार सम्य सामाजिक लक्षणों का उपन्यास की कथावस्तु में तुलनात्मक विकास दिखाकर भारतीय जीवन व्यवस्था और चैतन्य संस्कृति को सर्वश्रेष्ठ सिद्ध किया गया है।

ईश्वरी प्रसाद शर्मा ने भी अनेक उपन्यास लिखे। वे उनके 'स्वर्णमयी' या 'जैसी करनी वैसी भरनी' (सन् १९११ ई०) नामक उपन्यास में तत्कालीन उपन्यासों की हीनावस्था पर व्यंग्य करते हुए कहा गया है—"यार क्या ऐसे ही उपन्यास लिखना होता है, जरा चटपटी, चुलबुली नायिका हो, सुन्दर सलोना नायक हो, कुटनियों की कूट, ऐयारों की ऐयारी, माशूक आशिक के चोंचले हो, तिलस्मी की पेंचदार कथा हो, तब उपन्यास की बहार होती है।"[८] उनके इस उपन्यास में उपर्युक्त प्रवृत्तियों से बचकर सामाजिक चेतना का विकास किया गया है।

उपन्यासों के प्रति ब्रजनन्दन सहाय का प्रारंभ से ही आकर्षण था। आचार्य शुक्ल जी ने लिखा है कि "काव्य कोटि में आने वाले भावप्रधान उपन्यास का लक्ष्य प्रधान हो।" बाबू ब्रजनन्दन सहाय बी० ए० ने प्रस्तुत किए 'राधाकान्त' (सन् १९१२) और 'सौन्दर्योपासक' उपन्यासों पर बंगला के उद्भ्रांत प्रेम का स्पष्ट प्रभाव है। कादम्बरी के अलंकृत गद्य की पारुयायिका शैली में जगमोहन सिंह ने 'वेश्या का स्वप्न' नामक उपन्यास की रचना भारतेन्दु युग में की थी। बंगला के भावाकुल ललित गद्य काव्य परम्परा का प्रभाव हिन्दी में भी पड़ा। ब्रजनन्दन सहाय ने 'श्यामा-स्वप्न' और बगला के चन्द्रशेखर के उद्भ्रांत प्रेम की व्यंजना का आधार लेकर स्वच्छन्द मधुर भाषा में 'सौन्दर्योपासक' की रचना की। इस उपन्यास में प्रेम और सौन्दर्य का अद्भुत विश्लेषणात्मक वर्णन किया गया है। इस उपन्यास का नायक विवाह के समय साली के रूप-सौन्दर्य पर मुग्ध हो उससे प्रेम करने लगता है, पर साली दूसरे के गले बाँध दी जाती है। दोनों प्रेमी घुलते रहते हैं। धीरे-धीरे

उदास मन वाली यक्ष्मा का शिकार हो जाती है। 'सौन्दर्योपासक' की पत्नी इस सत्य से परिचित होती है तब वह विकल और दुःखी रहने लगती है और घुल-घुलकर उसका निधन हो जाता है।" 'सौन्दर्योपासक' का कथानक इसी मूलकथा पर आधारित है। यह दुःखान्त कहानी मिलन और विरह के विविध मनोभावों की करुणा समेटे हुए है। सौन्दर्योपासक ने स्त्री-पुरुष के प्रेम और आदर्श की सुन्दर व्याख्या की गई है। प्रेम के सामाजिक उद्देश्य की जो अनुभवपरक चेतना इस काव्यात्मक उपन्यास में व्यक्त की गई है, वह आत्मप्रधान चित्रण से संवलित और एकांगी है।

द्विवेदी-युग में नाटक के क्षेत्र में प्रसाद, आलोचना के क्षेत्र में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, कविता के क्षेत्र में हरिऔध के अविर्भाव का जो महत्व है वही महत्व प्रेमचन्द का उपन्यास के क्षेत्र में है। उनके उपन्यासों द्वारा हिन्दी कथा-साहित्य में क्रान्तिकारी परिवर्तन का सूत्रपात हुआ। इस कार्य में वे नवीन प्रेरणा लेकर अवतरित हुए। भारत की तत्कालीन, सामाजिक, पारिवारिक, राजनैतिक, आर्थिक अनेक समस्याओं पर उनके उपन्यासों में सूक्ष्म विचार किया गया है। जीवन के यथार्थ का उन्हें बोध था और उस यथार्थ में परिष्कार के लिए उन्होंने आदर्शवाद का पल्ला पकड़ा। उनके उपन्यासों में तत्कालीन ग्राम्य जीवन की दुर्बलता, विधवाओं, वेश्याओं की दयनीयता, सामाजिक रूढ़ि, हिन्दू-मुस्लिम विषमता, पुलिस का अत्याचार, जमीदारों द्वारा किसानों का शोषण आदि तत्कालीन परिस्थितियों पर नया प्रकाश डाला गया है। यद्यपि प्रेमचन्द ने अनेक उपन्यास लिखे, परन्तु उस युग में उनके लिए 'सेवा सदन' (सन् 1918 ई०), प्रेमाश्रम (सन् १९२२ ई०), रंगभूमि (सन् १९२४ ई०) अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं।

'सेवा सदन' मे वेश्या समाज का विवेचन और भारतीय नारी की पराधीनता की समस्या प्रमुख है। इस उपन्यास में पुरुषो द्वारा पददलित, निरीह एवं समर्पणशील नारी का अवतरण हुआ है, दूसरी ओर सुमन जैसी विद्रोहिणी, रूपगर्विता एवं स्वाभिमानिनी नारी का चित्रण किया गया है। इस उपन्यास में जीवन के लिए विवश नारी, समाज के धनपति प्रतिष्ठितों की विलास और तृष्णा का मनोरंजक साधन हैं। प्रेमचन्द ने वेश्या और व्यभिचार के लिए समाज और व्यक्तियों को उत्तरदायी ठहराया है। इस उपन्यास की सुमन नारी-जीवन के पतन के लिए सारे समाज को दोषी ठहराती है, लेकिन स्वयं जब वह आत्मनिरीक्षण करती है तो विलास, लालसा एवं अपमान उसे पतन प्रेरक तत्व प्रतीत होते हैं। उन्होंने दुर्बल व्यक्तित्व को नारियों की घातक परिस्थिति का समाधान करते हुए आर्थिक आत्मनिर्भरता और विकासवाद का आदर्श उपस्थित किया है। प्रेमचन्द ने सामाजिक

व्यक्तियों की दयनीय परिस्थिति के लिए अपूर्व सहानुभूति है। वे पतित वर्ग से नहीं, पाप से घृणा करते हैं। उन्होंने पापियों के परिष्कार के लिए शुद्धिमार्ग, आत्म-कल्याण, सेवामार्ग का साधन प्रस्तुत किया है। 'सेवा सदन' में सुमन और गजाधर दोनों की विकृतियों से समाजसेवा का उद्देश्य एवं आत्मसमर्पण का भाव जागता है। प्रेमचन्द ने सिद्ध किया है कि सतयुग में मनुष्य की मुक्ति ज्ञान से, द्वापर में भक्ति से, त्रेता में सत्य से, पर कलियुग में मुक्ति का एकमात्र उपाय सेवाभाव बताया है। उन्होंने सेवा भाव से दीन, दलित और दुखित जनों के उद्धार का सूत्र निरूपित किया है। उन्होंने संसार के दुःखसागर में परमात्मा का वास दिखाकर अपने व्यावहारिक आदर्शवाद की स्थापना की है। उनके चिंतन एवं आदर्श-निरूपण में मर्यादा का अंकुश है, इसीलिए सुमन और गजाधर अपने दुष्कर्मों पर पश्चात्ताप करते हैं। वे मध्यवर्गीय समाज की सीमा और बंधन की विभीषिका में पुनः वापस नहीं लौटते। इस उपन्यास में प्रेमचन्द का यथार्थ चित्रण आदर्शवादी सुधारों की अपेक्षा कम सक्रिय है। 'सेवा सदन' में सुमन के चरित्र का सुधार करके लेखक ने एक आश्रय की प्रतिष्ठा कर उसके जीवन के उज्ज्वल अध्याय का प्रारम्भ किया है।

'प्रेमाश्रम' का औपन्यासिक धरातल 'सेवा सदन' की अपेक्षा अधिक विस्तृत है। इस उपन्यास में जीवन के विविध पक्षों का राष्ट्रीय दृष्टि से उद्घाटन हुआ है। इसमें पतनोन्मुख सामंती व्यवस्था और परिस्थितियों के पुरातन एवं जड़ दुष्परिणामों का संबंध किसानों के परिवार से जोड़ा गया है। इस उपन्यास में पूँजीवादी व्यवस्था की विकृति और सामंतवादी शोषण से उत्पीड़ित, ग्रामीण जनता की पीड़ा का मार्मिक विश्लेषण किया गया है। ब्रिटिश शासन के सहयोग से जमींदारों की जनशोषण की मनोवृत्ति पर भी उन्होंने प्रकाश डाला है। ग्रामीण जनता सामाजिक असमानताओं और धर्माडंबरों से जकड़ सी जाती है। किसानों का शोषण जमींदार, महाजन और धर्म के ठेकेदार करते हैं। 'प्रेमाश्रम' में शोषण वृत्ति की विकृतियाँ उद्घाटित हुई हैं। भूमि किसान की सम्पत्ति है और उस भूमि का असली मालिक किसान जमींदारों के चंगुल मे फँस जाता है। शासन के अधिकारी और कारिन्दे जमींदारों के अगुआ बन जाते हैं और वे प्रत्यक्षतः किसानों के अन्धविश्वास, कुरीतियों एवं रूढ़ियों का लाभ उठाते हैं और उनका शोषण करते हैं। प्रेमचन्द ने विदेशी शासन को ग्रामीण अव्यवस्था के लिए जिम्मेदार ठहराया और कहा है कि—भूमि का अत्यन्त अल्प भागों में विभाजित हो जाना और लगातार लगान का बढ़ना किसान की दुःखद अवस्था का कारण है। इन दोनों कारणों के पीछे किसानों की अशिक्षा, विघटन और असहयोग उत्तरदायी हैं। शासन-व्यवस्था, जमींदार, कारिन्दे और नगर के सभ्यजन भी इनके लिए जिम्मेदार हैं। गाँवों की

आर्थिक समृद्धि के बल पर ही नगरवासी मौलिक सुख-समृद्धि की योजना रचते हैं। प्रेमचन्द ने सुशिक्षित नागरिकों में ग्रामीण जनता को सहयोग देने की भावना जाग्रत कर कर्मवादी चेतना का अविर्भाव किया है। 'प्रेमाश्रम' का प्रेमशंकर किसानों में नयी चेतना जागृत करता है और ज्ञानशंकर उस कर्मठ चेतना के विरुद्ध अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करता है। इस उपन्यास का द्वन्द्व आर्थिक विषमता पर चोट करता है और शोषित किसानों में कर्मनिष्ठा और आत्मविश्वास जगाता है। प्रेमचन्द का विश्वास है कि भूमि ईश्वर की है। उसी ने पृथ्वी की सृष्टि की है। ईश्वर की इच्छा से भूमि पर उसी का अधिकार है जो उसका उपभोग करता है। देश-रक्षक शासक को किसान से कर लेने का अधिकार है, लेकिन जमींदार को मिल्कियत, जायदाद और अधिकार के नाम पर किसानों का शोषण करने की छूट देना भारतीय समाज-व्यवस्था और गाँवों के आर्थिक जीवन को कलंकित करता है। यद्यपि इस अपने आदर्शों की स्थापना के लिए प्रेमचन्द ने पात्रों को मृत्यु के आगोश में लिया है; उससे कथानक में कलाकार की प्रौढ़ता की कमी मालूम पड़ती है। इस उपन्यास में सर्वहारा वर्ग और सामन्तवादी वर्ग का द्वन्द्व चित्रित किया गया है। इस उपन्यास में प्रेमशंकर, मायाशंकर के चरित्र में लेखक ने अपना आदर्श के मार्ग पर प्रेरित करने का उपदेश दिया है। इस उपन्यास गोदान के महान परिवर्तनों की पृष्ठभूमि है।

'रंगभूमि' में पहली बार प्रेमचन्द समाज के यथार्थवादी जीवन के धरातल पर अवतरित हुए हैं। 'रंगभूमि' में सामाजिक जीवन की उदात्त दृष्टि लेकर वे रणक्षेत्र में उतरे हैं। प्रेमचन्द ने इस उपन्यास में अपने आदर्शों की स्थापना करते हुए कहा है कि "संसार के सभी लोग खेल खेलते हैं। उन्हें खेल में विजय पर प्रफुल्लित होना चाहिए। परन्तु हार से व्यथित नहीं होना चाहिए और न ईमानदारी ही छोड़नी चाहिए। यही समाज का सत्य रूप है और शांति स्थापित करने वाला मार्ग है।" इस उपन्यास का सूरदास सच्चे अर्थों में प्रेमचन्द की व्यापक सामाजिक विचारधारा का प्रतिनिधि है। सूरदास भौतिक अभावों के बीच जीत और हार की परवाह नहीं करता, न संघर्षों से विचलित होता है। वह विरोधियों पर क्रोध प्रकट नहीं करता। उसके हृदय में धैर्य, दया, क्षमा, विनय, सहानुभूति सभी के लिए [illegible] स्थान है। दूसरी ओर इस उपन्यास में [illegible] पात्र भी हैं जो संसार के [illegible] में छल, कपट, प्रपंच का आश्रय [illegible] सफलता प्राप्त करते हैं और [illegible] से पीड़ित होते हैं। इस [illegible] गांधीवादी दृष्टिकोण का अनुगामी [illegible] है। इस कृति में [illegible] जिक समस्याओं की पृष्ठभूमि के लिए नगर और ग्रामों को [illegible] मानवीय भावों का [illegible] कर लेखक ने समग्र भारतीय [illegible]

प्रकाश प्रस्फुटित किया है। जीवन के विविध पक्षों पर विचार करने के कारण इस उपन्यास का कथानक बोझिल हो गया है। रंगभूमि की मूल समस्या औद्योगीकरण और देशी राज्यों में व्याप्त यान्त्रिकता, अनैतिकता एवं भ्रष्टाचार का विश्लेषण करना है। सामाजिक चेतना की दृष्टि से रंगभूमि में सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक प्रवृत्तियों का व्यापक संयोजन किया गया है, और उसमें सारे देश की विषम परिस्थितियों का अन्तसंघर्ष दिखाई पड़ता है। इस उपन्यास में वैवाहिक संबंधों, मध्यमवर्गीय परिवार की समस्याओं के अतिरिक्त भारतीय श्रमिक के शोषण, बेकारी और नैतिकता के ह्रास का चित्रण किया गया है। रियासतों की समस्या, भौतिकता, यांत्रिकता की दूषित पराजय की इस कथा गाथा में सत्य अहिंसा की अडिग स्थापना हुई है। प्रेमचन्द ने व्यष्टि चेतना को समष्टि चेतना से सम्बद्ध करते हुए राष्ट्रीय जीवन पर यंत्रों के घातक परिणाम और विदेशी पूँजीपतियों द्वारा पूँजी के विकेन्द्रीकरण का चित्रण करके देश के नैतिक ह्रास और सामाजिक पतन का ऐतिहासिक स्वरूप 'रंगभूमि' में उद्घाटित किया है। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के शब्दों मे 'रंगभूमि' प्रेमचन्द जी की उपन्यास कला का एक विकसित सोपान है। गांधीवादी का प्रभाव साहित्य एवं जीवन पर जैसा भी कुछ पड़ा है, वह रंगभूमि मे दिखाई पड़ता है। चरित्रों की विविधता, बहुलता और भारतीय जीवन की व्यापकता का चित्रण रंगभूमि की अपनी विशेषता है। 'निःसंदेह मार्मिक और व्यापक अनुभूतियों एवं कलात्मक एवं प्रभावशाली ग्रोष्ठव के कारण 'रंगभूमि' प्रेमचंद की अमर रचना है।

द्विवेदी युग में लिखे गये प्रेमचन्द जी के इन महत्वपूर्ण उपन्यासों में ग्राम और नगर की समस्याओ मे राजनीतिक तथा सामाजिक प्रवृत्तियों का निरूपण मिलता है। कुछ उपन्यासों मे वे गांधी की राजनैतिक चेतना से प्रत्यक्ष प्रभावित प्रतीत होते हैं। 'सेवासदन' और 'प्रेमाश्रम' की अपेक्षा 'रंगभूमि' में तत्कालीन सामाजिक विचारधाराओं का सन्निवेश किया गया है। तत्कालीन भारत की सामाजिक परिस्थितियों का 'रंगभूमि' में प्रेमचन्द ने सफलता से चित्रण किया है। जब देश में अत्याचार और कुसंस्कार का साम्राज्य था, उस समय जीवन की आलोचना का ध्येय लेकर अपने उपन्यासो में उन्होंने आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की स्थापना की। वे समस्याओं को उभार कर ही संतोष नहीं करते थे, बल्कि अपने ग्राह्य सामाजिक चेतना और विशाल जीवन दर्शन से समाज का मार्ग निर्धारित करते थे।

द्विवेदी युग में उपन्यास साहित्य ने निश्चय ही शैली, शिल्प और विषय तीनों दृष्टियों से भारतेन्दु काल की अपेक्षा अधिक उन्नति की। इस युग मे उपन्यासों

के क्षेत्र में शैलीगत विभिन्न प्रवृत्तियाँ सामने आयी। अनेक सामाजिक, राष्ट्रीय और राजनीतिक समस्याओं का दिग्दर्शन उपन्यासकार करने लगे। मानव-मन की अंतः-प्रवृत्तियों के चित्रण का प्रचलन हुआ और नये-नये लेखक इस क्षेत्र में नयी सम्भावनाओं के साथ पदार्पण करने लगे। इस युग में उपन्यासकारों ने तिलस्मी, ऐयारी, जासूसी, पौराणिक सभी प्रकार के उपन्यास लिखकर जनता का मनोरंजन किया। मनोरंजन के लिए अर्थलक्ष्य प्रधान सस्ते उपन्यास भी लिखे गये, किन्तु किशोरीलाल गोस्वामी, लज्जाराम मेहता, ईश्वरप्रसाद शर्मा, गोपालराम गहमरी, ब्रजनन्दन सहाय आदि ने विविध प्रकार के उपन्यास लिखकर द्विवेदी युग को औपन्यासिक दृष्टि से सम्पन्न किया। इस युग में प्रेमचन्द की प्रतिभा ने समाज के विधान का अभिनव आन्दोलन किया। उसमें मानव-मन के सूक्ष्म रहस्यों के उद्घाटन की सबल शक्ति थी।

इस प्रकार भारतेन्दु, द्विवेदी और प्रेमचन्द युग में उपन्यास मध्यवर्ग की दशा का गायक रहा। प्रेमचन्द 'सेवा सदन', 'निर्मला', 'गबन', 'रंगभूमि' में मध्यवर्ग की विडम्बनाओं को उजागर करते हैं। प्रेमचन्द के बाद उपन्यास व्यक्तिवादी मनोविश्लेषण प्रधान और मार्क्सवादी भूमिका पर प्रमुखता के साथ लिखे गये। प्रेमचन्द ने जिस परम्परा की नींव डाली थी वह समूचे युग बोध को लेकर चलती थी इसलिए युग की समूची समस्याओं को साथ लेकर चलती थी। व्यक्तिवादी, मनोविश्लेषणवादी, मार्क्सवादी भूमिका को लेकर उपन्यास युगबोध से कट कर सिद्धान्तवादी होता गया। विचार के प्रति प्रतिबद्धता के कारण उपन्यास समूचे युग बोध को प्रस्तुत करने में असफल रहा। इन उपन्यासकारों के साथ प्रेमचन्द की परम्परा जो चल रही थी उन उपन्यासकारों ने मध्यवर्ग को प्रमुखता प्रदान की। मूल्यों के प्रति ह्रासशीलता के जन्म से एक विद्रोही प्रकृति का जन्म हुआ। मध्यवर्ग ने इस विद्रोही भूमिका में महत्वपूर्ण हिस्सा लिया।

साठोत्तरी उपन्यास में मध्यवर्ग की स्थिति साफ हुई है। मध्यवर्गीय चेतना को उजागर करने में प्रमुख उपन्यास इस प्रकार गिने जा सकते हैं—अँधेरे बन्द कमरे, वह पथबन्धु था, दूसरी बार, वह अपना चेहरा, बेघर, आपका बन्टी, कन्दील और कुहासे—आदि। साठोत्तरी उपन्यासों में महानगरीय त्रासपूर्ण स्थिति, आधुनिकता और अपने आपको एडजेस्ट न कर पाने की विडम्बना में जीते हुए मध्यवर्गीय व्यक्ति का चित्रण हुआ है। 'अंधेरे बन्द कमरे' का हरबंस, 'वह पथबन्धु था' का श्रीधर, 'बेघर' का परमजीत, 'कन्दील और कुहासे' का किशु, 'वह अपना चेहरा' का 'मैं', 'आपका बंटी' का बंटी, उसकी मम्मी और उसकी नई माँ आदि के माध्यम से आज के मध्यवर्गीय समस्याओं को मुखरता प्रदान की गई है।

संदर्भ :—

१. पं० विष्णुदत्त शर्मा का लेख : 'उपन्यास से हानि'
२. विपिन बिहारी श्रीवास्तव
३. किशोरीलाल गोस्वामी : माधवी माधव या मदन मोहनी
४. वही, लीलावती या आदर्श सती
५. किशोरी लाल गोस्वामी : नव्य समाज
६. वही
७. हरिऔध : अधखिला फूल
८. ईश्वरीप्रसाद शर्मा : स्वर्णमयी

अध्याय आठ

वैवाहिक तथा यौन जीवन के नये प्रतिमान

भावना का आधारभूत स्रोत भूख है। चाहे वह मन की 'भूख' हो चाहे वह तन की 'भूख' हो। इसी 'भूख' के रूप में मानव की समस्त चेतना है, इसी 'भूख' के फलस्वरूप मानव का प्रत्येक कर्म है, इसी 'भूख' में मानव का समस्त अस्तित्व केन्द्रित है। मन की भूख के दो विभेद किये जा सकते हैं। पहला है विशुद्ध भावनात्मक। ममता, दया, करुणा भावनात्मक भूख है, और इस भावनात्मक 'भूख' के कारण समाज की स्थापना संभव हुई है। दूसरी 'भूख' कुतूहल के रूप में ज्ञान का सृजन करती है। कुतूहल भावना पक्ष से सम्बद्ध होने के कारण बौद्धिक 'भूख' कही जा सकती है। विश्व का समस्त वाङ्मय इन्हीं दो 'भूखों' की उपज है जो विशुद्ध भावनात्मक भूख है, उसने साहित्य एवं कला का सृजन किया है। जो कुतूहल के क्षेत्र की बौद्धिक भूख है, उसने शास्त्र एवं विज्ञान का सृजन किया है। समाज का विकास मानव की बौद्धिक 'भूख' के कारण हुआ है। समाज का अस्तित्व इस भावनात्मक भूख पर आश्रित है। मानव की हर एक भावनात्मक भूख का बौद्धिक पहलू भी होता है, और अन्य कलाओं की अपेक्षा साहित्य में अधिक मुखर है, क्योंकि साहित्य ज्ञान राशि के संचित कोश का नाम है। मन की भूख की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण मानव मे तन की भूख है। क्योंकि इस तन की भूख पर ही व्यक्ति का जीवन-मरण निर्भर है। और इस तन की भूख के भी दो विभेद किये जा सकते हैं—उदर की भूख तथा लैंगिक भूख। उदर की भूख पर व्यक्ति की स्थापना निर्भर है। लैंगिक भूख पर मानव का सृजन निर्भर है। जहाँ तक उदर की भूख का प्रश्न है वह एकांगी है, वहाँ केवल एक व्यक्ति स्थित है जिसमें भूख है। लेकिन लैंगिक भूख उभयांगी है—स्त्री और पुरुष। एक की लैंगिक भूख में दूसरा भी मौजूद है और इसलिए यह लैंगिक भूख तन की होते हुए भी मन की भावनात्मक भूख का भी रूप धारण कर लेती है, और इसलिए

जितनी कलाएँ हैं उनमें निश्चय रूप से इस लैंगिक भूख की ही प्रधानता रही है। क्योंकि इस लैंगिक भूख में तन और मन दोनों ही भूखों का समन्वय है। मनुष्य की लैंगिक भूख आदिकाल से ही मानव के लिए एक समस्या रही है। भूमि और धन ये दोनों तो पेट की भूख के अवयव हैं। स्त्री लैंगिक भूख की अवयव है। जहाँ तक पेट की भूख का सम्बन्ध है, उसका शमन ही किया जा सकता है, दमन नहीं किया जा सकता। इस लैंगिक भूख के तन वाले पहलू का दमन तो किया जा सकता है लेकिन उस समय वह भूख मन को बुरी तरह जकड़ लेती है।

विश्व की समस्त कलाएँ इस लैंगिक भूख को प्रधानता देती आयी हैं। यह भी कहा जा सकता है कि विश्व की कलाओं का अधिकांश भाग मानव की इस लैंगिक भूख के कारण ही विकसित हुआ है। लैंगिक भूख में केवल मानव की स्थापना के तत्व ही नहीं हैं, इस भूख में मानव के सृजन के तत्व भी हैं। परिवार की परिकल्पना स्त्री-पुरुष के यौन-सम्बन्धों को नियन्त्रण में बाँधकर ही की गई है।

बौद्धिक मानव का जीवन कृत्रिमता के अवयवों से युक्त है, और पारिवारिक परिकल्पना के साथ मानव ने इस लैंगिक भूख को काल एवं अवधि की सीमा से मुक्त कर दिया है। फ्रायड ने मनुष्य का समस्त कर्म-कलाप ही मानव की लैंगिक भूख से सम्बन्धित माना है, और आज भी दुनिया के विचारकों का एक दल फ्रायड के सिद्धांतों का ही समर्थन कर रहा है। लेकिन जैसा मैं कह चुकी हूँ कि यह लैंगिक भूख प्रजनन का स्रोत होने के कारण काल और अवधि की सीमा से बँधी होती है और इसलिए मैं फ्रायड के सिद्धान्त को गलत एवं भ्रामक ही मानती हूँ। मैं तो मार्क्स के पेट की भूख वाले सिद्धांत को ही सत्य मानती हूँ क्योंकि यह पेट का भूख का शाश्वत सत्य है। लेकिन यह पेट की भूख वाला सत्य किसी हद तक कुरूप है। यह सत्य मनुष्य के अस्तित्व के अनवरत संघर्ष का महत्वपूर्ण भाग है, और हरेक मनुष्य इस पेट की भूख के प्रश्न से उलझा हुआ है। मानव का जीवन ही आजीविका के संघर्ष में रत है।

कला के क्षेत्र में इस तन की भूख को प्राचीन काल में एक तरह से वर्जित ही माना गया है। मनुष्य के संघर्षमय वर्तमान में अतीत की कल्पित मधुरिमा अथवा भविष्य के रंगीन सपनों के क्षणों को प्रतिष्ठित करके जीवन की कुरूपता, एकरसता को दूर करने का प्रयत्न किया गया है। अनादि काल से कला लैंगिक भूख के मानसिक प्रस्तुतीकरण पर ही आधारित रही है। साहित्य तो कला है, और विश्व का जो लोक साहित्य है, विशेष रूप से कविता, वह मानव की यौन प्रवृत्तियों से ओत-प्रोत है। कविता का बहुत थोड़ा-सा भाग ऐसा है जो नैतिक अथवा धार्मिक भावनाओं से युक्त है।

कला और विशेष रूप से साहित्य जब लोक परिवेश से निकलकर विकसित सामाजिक परिवेश में प्रतिष्ठित हुआ तो वह सामाजिक मान्यताओं के नियमों से बँधने लगता है। विकसित सामाजिक व्यवस्था में अश्लीलता को यौनविकृति माना गया है। यह यौन विकृति कामोत्तेजक होने के कारण समाज के संतुलन को नष्ट कर सकती है। मानव के यौन-सम्बन्ध नितान्त वैयक्तिक धरातल पर स्वीकार किये गये हैं। उनका सामाजिक प्रदर्शन वर्जित और दण्डनीय माना गया है, इसलिए यौन-संबंधों का सामाजिक प्रदर्शन अश्लीलता है। समाज-विरोधी होने के कारण अश्लीलता कला में भी वर्जित है। अन्य कलाओं में अश्लीलता का प्रश्न उतना उलझा हुआ नहीं है, जितना साहित्य में है। साहित्य में अश्लीलता के दोष का सामना कदम-कदम पर करना पड़ता है, और साहित्यकार के लिए इस अश्लीलता के दोष के प्रति सतर्क रहना आवश्यक हो जाता है।

साहित्य में अश्लीलता के समकक्ष ही जो दूसरा दोष समझा जाता है, वह है अशिष्टता का। अश्लीलता के प्रति भावनात्मक विरक्ति अनादि काल से दिखती आयी है, लेकिन शिष्टता मनुष्य की सामाजिक और बौद्धिक चेतना की उपज है। अश्लीलता और अशिष्टता को एक-दूसरे से अलग करना कठिन हो जाता है। लेकिन अश्लीलता और अशिष्टता अलग-अलग चीजें हैं।

भारतीय साहित्य में अश्लीलता और अशिष्टता शब्द पाश्चात्य साहित्य से आये हैं। अंग्रेजी में आवसीनिटी और वल्गरिटी दोनों ही स्वीकारात्मक शब्द हैं जबकि हिन्दी में उनके पर्याय अश्लीलता और अशिष्टता नकारात्मक शब्द हैं। अशिष्टता शब्द के स्थान पर कई हिन्दी के विद्वानों ने वल्गरिटी के लिए ग्राम्यता शब्द का प्रयोग किया है, लेकिन वल्गरिटी के लिए ग्राम्यता शब्द का प्रयोग अपनी भारतीय संस्कृति के लिए अपमानजनक है। विश्व में नागरिक सभ्यता के विकास के बाद ग्राम्य सभ्यता और मान्यताओं को हेय दृष्टि से देखने की परम्परा-सी चल निकली है। 'गँवार' शब्द में ग्रामों की सभ्यता को हेय दृष्टि से देखने की भावना सन्निहित है। यह ग्रामीण सभ्यता को हेय दृष्टि से देखने की धारणा मध्ययुगीन है। लेकिन भारतवर्ष में तो समस्त सभ्यता का विकास ऋषियों और मुनियों के आश्रम में हुआ है जो ग्रामीण सभ्यता के अनिवार्य अंग थे। इन्हीं ग्रामों में आज भी भारत की आत्मा को देखने की परम्परा है। मेरी मान्यता तो यह है कि शिक्षित प्रबुद्ध और सुसंस्कृत मनुष्यों का एक अलग वर्ग बनता गया जो अपने को शिष्ट कहता था, शेष अशिष्ट कहे या समझे जाते थे। सत्ता इन इने-गिने शिक्षित और प्रबुद्ध व्यक्तियों के हाथ में थी और इस तरह जो भी इन शिक्षित और सुसंस्कृत व्यक्तियों द्वारा अपरिमार्जित समझा गया, उसे अशिष्टता की संज्ञा दे दी गई।

जो अश्लील है वह वैयक्तिक भावनात्मक संज्ञा का विरोधी तत्व है, जो अशिष्ट है वह सामाजिक बोधयुक्त संज्ञा का विरोधी तत्व है, और संभवतः इसीलिए कुछ आलोचकों ने जहाँ अशिष्टता को पूर्ण रूप से वर्जित माना है, वहीं अश्लीलता को आंशिक रूप में व्यक्तिगत दृष्टिकोण के अंतर्गत माना है।

अश्लीलता साहित्य के क्षेत्र में ऐसा दोष है जिसे क्षमा नहीं किया जाना चाहिए। अश्लीलता ऐसी विकृति है जो मन और बुद्धि दोनों को ही दूषित कर देती है। वह मनुष्य की लैंगिक भूख से संबद्ध है। जहाँ तक पेट की भूख है मनुष्य का समस्त अस्तित्व और जीवन का कार्य-कलाप इस भूख का शमन करना ही है। लेकिन लैंगिक भूख सृजन-तत्व का भाग होते हुए भी मानव-जीवन में एक ऐसी विलासिता का प्रतिनिधित्व करती है जो कभी-कभी समाजविरोधी हो जाती है। इस विलासिता के प्रति मनुष्य की सहज और स्वाभाविक अनुरक्ति होने के कारण यह मानसिक ही नहीं सामाजिक विकृति बन जाती है।

हमारे प्राचीन साहित्य में ही नहीं, वर्तमान साहित्य में भी मानसिक विलासिता वाले शृंगार रस की प्रचुरता है, और शृंगार रस को सौन्दर्यबोध के समकक्ष माना गया है। विश्व का अधिकांश साहित्य शृङ्गार रस की इस रोमांचक धारा का प्रतिनिधित्व करता है। लेकिन मानव में सामाजिकबोध एवं यौन-संबंधों के सामाजिक प्रदर्शन के प्रति अरुचि के कारण शृङ्गारिक और रोमांचक साहित्य में अश्लीलता की सीमा-रेखा निर्धारित कर दी गई है और अश्लीलता को वर्जित माना गया है।

प्राचीन काल में धर्म के नाम पर व्यक्तियों द्वारा इस सामाजिक सीमा-रेखा को तोड़ने का यदा-कदा प्रयत्न किया गया है। राधा-कृष्ण एवं गोपियों को लेकर बहुत कुछ ऐसा लिखा गया जो निश्चय रूप से अश्लील कहा जा सकता है। धर्म के नाम पर अश्लीलता का यह प्रदर्शन हमें मध्यकालीन मूर्तिकला में अत्यधिक मिलता है। खजुराहो के मन्दिरों में, कोणार्क के मन्दिर में और न जाने कितने अन्य मन्दिरों में धर्म के नाम पर प्रचुर मात्रा में अश्लीलता की सृष्टि हुई है। संभोग रत और नग्न मूर्तियों के प्रदर्शन में मानसिक विलासिता की विकृति साकार हो गई है।

मानसिक विलासिता की विकृति का प्रभाव साहित्य में अधिक व्यापक होता है। क्योंकि साहित्य में कल्पना संचरणशील होती है जबकि अन्य कलाओं में यह कल्पना स्थैतिक ही होती है। वैसे यह विकृतिग्रस्त मानसिक विलासिता जीवन के संघर्षों में रत मानव की उपेक्षा एवं वितृष्णा का विषय ही बन सकती है। लेकिन साहित्य में इस विलासिता के कर्म-रूप में जो वर्णन है उसकी संचरणशीलता के कारण अनुभवहीन एवं कच्ची उम्र वाले युवक-युवतियों के लिए बड़े खतरनाक

साबित हो सकते हैं। संघर्षों की कुरूपता से अछूती कल्पना की रंगीनियों में हुई नयी पीढ़ी इस मानसिक विलासिता से पथ-भ्रष्ट होकर अपना जीवन नष्ट कर सकती है। प्रेम और रोमांच में मन की भूख के साथ तन की भूख भी होती है, और तन की लैंगिक भूख की प्रखरता मन की भूख को दबा देती है, इसीलिए रोमांच और प्रेम के साहित्य में कलाकार के अनजाने ही अश्लीलता प्रविष्ट हो जाती है।

प्राचीनकाल में धर्म की आड़ में साहित्यकारों एवं कलाकारों द्वारा अश्लीलता को कला के क्षेत्र में प्रवेश करने की वैधता प्रदान की गई है, लेकिन वर्तमान काल में जब धर्म और अन्ध विश्वास के बन्धन करीब-करीब टूट चुके हैं, मनोविज्ञान के नाम पर अश्लीलता की विकृति को वैधता प्रदान की जाने लगी है। यहाँ हमें यह ध्यान में रखना पड़ेगा कि साहित्य का क्षेत्र भावना का क्षेत्र है, मनोविज्ञान वाला शास्त्रीय क्षेत्र नहीं है। साहित्यकार का काम तो भावात्मक सौन्दर्य का सृजन करना है। इस क्षेत्र में विकृति और कुरूपता वर्जित है।

प्राचीनकाल में शिक्षित एवं सुसंस्कृत लोगों का एक समाज स्वतः विकसित होता गया जिसकी मान्यताएँ जन-साधारण की मान्यताओं से भिन्न थी और जब कला और साहित्य का शास्त्रीय एवं बौद्धिक विश्लेषण होने लगा तब आचार्यों द्वारा जन साधारण की मान्यताओं को छोड़कर सभ्यता एवं संस्कृति के आधार पर नवीन मान्यताओं की स्थापना की जाने लगी जो शिष्ट समुदाय की मान्यताएं थी। जनसाधारण की मान्यताओं को अशिष्ट अथवा असभ्य करार दे दिया गया। अंग्रेजी के वल्गर शब्द के पर्यायी के लिए हमने 'ग्राम्य' और 'अशिष्ट' शब्द का इसलिए चयन किया कि भारत की समस्त सभ्यता एवं संस्कृति ग्रामों में ही विकसित हुई है। धीरे-धीरे नागरिक सभ्यता का विकास होने लगा और जन साधारण की मान्यताओं को ग्राम्य मान्यता कह देने की प्रथा स्वतः विकसित होने लगी।

जहाँ तक परिमार्जन एवं परिष्कार साहित्य का अनिवार्य अवयव माना जाने लगा और सहज जीवन में जो कुछ स्वाभाविक था, साहित्य में उसका समावेश करना असभ्यता या अशिष्टता का द्योतक माना जाने लगा। रुचि और दृष्टिकोण के परिमार्जन का भाव शिष्टता में निहित है।

जो शिष्ट नहीं है वह विकसित मानव-समाज में हेय और वर्जित है, और इसलिए लोक-साहित्य की परम्परा से हटकर, विकसित एवं सुसंस्कृत साहित्य में अपने को कृत्रिमता के आडम्बर जाल में जकड़कर अपने को सीमित एवं संकुचित बना लेने की एक प्रवृत्ति विकसित हो गई जो धीरे-धीरे रूढ़ता और निष्प्राणता की

जो अश्लील है वह वैयक्तिक भावनात्मक संज्ञा का विरोधी तत्व है, जो अशिष्ट है वह सामाजिक बोधयुक्त संज्ञा का विरोधी तत्व है, और संभवतः इसीलिए कुछ आलोचकों ने जहाँ अशिष्टता को पूर्ण रूप से वर्जित माना है, वहीं अश्लीलता को आंशिक रूप में व्यक्तिगत दृष्टिकोण के अंतर्गत माना है।

अश्लीलता साहित्य के क्षेत्र में ऐसा दोष है जिसे क्षमा नहीं किया जाना चाहिए। अश्लीलता ऐसी विकृति है जो मन और बुद्धि दोनों को ही दूषित कर देती है। वह मनुष्य की लैंगिक भूख से संबद्ध है। जहाँ तक पेट की भूख है मनुष्य का समस्त अस्तित्व और जीवन का कार्य-कलाप इस भूख का शमन करना ही है। लेकिन लैंगिक भूख सृजन-तत्व का भाग होते हुए भी मानव-जीवन में एक ऐसी विलासिता का प्रतिनिधित्व करती है जो कभी-कभी समाजविरोधी हो जाती है। इस विलासिता के प्रति मनुष्य की सहज और स्वाभाविक अनुरक्ति होने के कारण यह मानसिक ही नहीं सामाजिक विकृति बन जाती है।

हमारे प्राचीन साहित्य में ही नहीं, वर्तमान साहित्य में भी मानसिक विलासिता वाले शृंगार रस की प्रचुरता है, और शृंगार रस को सौन्दर्यबोध के समकक्ष माना गया है। विश्व का अधिकांश साहित्य शृङ्गार रस की इस रोमांचक धारा का प्रतिनिधित्व करता है। लेकिन मानव में सामाजिकबोध एवं यौन-संबंधों के सामाजिक प्रदर्शन के प्रति अरुचि के कारण शृङ्गारिक और रोमांचक साहित्य में अश्लीलता की सीमा-रेखा निर्धारित कर दी गई है और अश्लीलता को वर्जित माना गया है।

प्राचीन काल में धर्म के नाम पर व्यक्तियों द्वारा इस सामाजिक सीमा-रेखा को तोड़ने का यदा-कदा प्रयत्न किया गया है। राधा-कृष्ण एवं गोपियों को लेकर बहुत कुछ ऐसा लिखा गया जो निश्चय रूप से अश्लील कहा जा सकता है। धर्म के नाम पर अश्लीलता का यह प्रदर्शन हमें मध्यकालीन मूर्तिकला में अत्यधिक मिलता है। खजुराहो के मन्दिरों में, कोणार्क के मन्दिर में और न जाने कितने अन्य मन्दिरों में धर्म के नाम पर प्रचुर मात्रा में अश्लीलता की सृष्टि हुई है। संभोग रत और नग्न मूर्तियों के प्रदर्शन में मानसिक विलासिता की विकृति साकार हो गई है।

मानसिक विलासिता की विकृति का प्रभाव साहित्य में अधिक व्यापक होता है। क्योंकि साहित्य में कल्पना संचरणशील होती है जबकि अन्य कलाओं में यह कल्पना स्थैतिक ही होती है। वैसे यह विकृतिग्रस्त मानसिक विलासिता जीवन के संघर्षों में रत मानव की उपेक्षा एवं वितृष्णा का विषय ही बन सकती है। लेकिन साहित्य में इस विलासिता के कर्म-रूप में जो वर्णन है उसकी संचरणशीलता के कारण अनुभवहीन एवं कच्ची उम्र वाले युवक-युवतियों के लिए बड़े खतरनाक

साबित हो सकते हैं। संघर्षों की क्रूरता से अछूती कल्पना की रंगीनियों में हुई नयी पीढ़ी इस मानसिक विलासिता से पथ-भ्रष्ट होकर अपना जीवन नष्ट कर सकती है। प्रेम और रोमांस में मन की भूख के साथ तन की भूख भी होती है, और तन की लैंगिक भूख की प्रखरता मन की भूख को दबा देती है, इसीलिए रोमांच और प्रेम के साहित्य में कलाकार के अनजाने ही अश्लीलता प्रविष्ट हो जाती है।

प्राचीनकाल में धर्म की आड़ में साहित्यकारों एवं कलाकारों द्वारा अश्लीलता को कला के क्षेत्र में प्रवेश करने की वैधता प्रदान की गई है, लेकिन वर्तमान काल में जब धर्म और अन्ध विश्वास के बन्धन करीब-करीब टूट चुके हैं, मनोविज्ञान के नाम पर अश्लीलता की विकृति को वैधता प्रदान की जाने लगी है। यहाँ हमें यह ध्यान में रखना पड़ेगा कि साहित्य का क्षेत्र भावना का क्षेत्र है, मनोविज्ञान वाला शास्त्रीय क्षेत्र नहीं है। साहित्यकार का काम तो भावात्मक सौन्दर्य का सृजन करना है। इस क्षेत्र में विकृति और कुरूपता वर्जित है।

प्राचीनकाल में शिक्षित एवं सुसंस्कृत लोगों का एक समाज स्वतः विकसित होता गया जिसकी मान्यताएं जन-साधारण की मान्यताओं से भिन्न थी और जब कला और साहित्य का शास्त्रीय एवं बौद्धिक विश्लेषण होने लगा तब आचार्यों द्वारा जन साधारण की मान्यताओं को छोड़कर सभ्यता एवं संस्कृति के आधार पर नवीन मान्यताओं की स्थापना की जाने लगी जो शिष्ट समुदाय की मान्यताएं थी। जनसाधारण की मान्यताओं को अशिष्ट अथवा असभ्य करार दे दिया गया। अंग्रेजी में वलगर शब्द के पर्यायी के लिए हमने 'ग्राम्य' और 'अशिष्ट' शब्द का इसलिए चयन किया कि भारत की समस्त सभ्यता एवं संस्कृति ग्रामों में ही विकसित हुई है। धीरे-धीरे नागरिक सभ्यता का विकास होने लगा और जन साधारण की मान्यताओं को ग्राम्य मान्यता कह देने की प्रथा स्वतः विकसित होने लगी।

यहाँ तक परिमार्जन एवं परिष्कार साहित्य का अनिवार्य अवयव माना जाने लगा और सहज जीवन में जो कुछ स्वाभाविक था, साहित्य में उसका समावेश करना असभ्यता या अशिष्टता का द्योतक माना जाने लगा। रुचि और दृष्टिकोण के परिमार्जन का भाव शिष्टता में निहित है।

जो शिष्ट नहीं है वह विकसित मानव-समाज में हेय और वर्जित है, और इसलिए लोक-साहित्य की परम्परा से हटकर, विकसित एवं सुसंस्कृत साहित्य में अपने को कृत्रिमता के आडम्बर जाल में फंसकर अपने को सीमित एवं संकुचित बना लेने की एक प्रवृत्ति विकसित हो गई जो धीरे-धीरे सभ्यता और शिष्टता का

अनिवार्य भाग ही बन गई। यह प्रवृत्ति मध्ययुगीन साहित्य में सबसे अधिक मुखरित दिखती है और यह मध्ययुग की मान्यता प्रायः चार या पाँच दशक पहले तक कायम रही। जहाँ तक मानव की प्रवृत्तियों का सम्बन्ध है, उनमें न तो कभी कोई परिवर्तन हुआ और न कभी कोई परिवर्तन सम्भव था। बल्कि कहा तो यहाँ तक जा सकता है कि यह मध्ययुग भयानक शोषण और उत्पीड़न का काल था—यौन विकृति की नहीं, मानव की हरेक विकृति ढोंग और आडम्बर का आवरण ओढ़कर बेतरह उभर आयी थी। उन्नीसवीं और बीसवीं शती में तो यह शिष्टता आडम्बर की चरम सीमा पर पहुँच गयी थी। जिसे हम इग्लैंड में विक्टोरियन युग कहते हैं, उसने यूरोप को ही नहीं, भारतवर्ष को भी प्रभावित किया था। रहन-सहन, खान-पान और वस्त्राभूषणों की प्राकृतिक और स्वाभाविक प्रवृत्तियों से हटकर उन्हें नियमों तथा प्रतिबन्धों से जकड़ दिया गया था। शिष्टता की इस परिकल्पना के दर्शन हमें अपने अति प्राचीन साहित्य तक में मिलते हैं। संस्कृत के नाटकों में सवर्ण पुरुष तो संस्कृत भाषा में बोलते हैं, स्त्रियों एवं शूद्रों की भाषा प्राकृत होती थी। मानव समाज में भेदभाव की यह भावना तथाकथित शिष्टता की जननी कही जा सकती है।

साहित्य के सिद्धान्तों को प्रतिपादित करते समय शिष्टता पर बल तो नहीं दिया गया है, लेकिन शिक्षित और सुसंस्कृत लोगों की कला होने के नाते साहित्य कला में शिष्टता की उपस्थिति अनिवार्य मान ली गई है। जहाँ अश्लील साहित्य के क्षेत्र में विषय और भाव का निषेध है, वहाँ अशिष्ट साहित्य के क्षेत्र में शब्द चयन एवं वाक्य-विन्यास का निषेध है। लेकिन शिष्टता की इस परिकल्पना में इधर इस शती के प्रारम्भ में परिवर्तन होने आरम्भ हो गये और आज के युग में 'शिष्टता' शब्द को खुले आम चुनौती दी जाने लगी है। औद्योगिक प्रगति के बाद ही मध्ययुगीन शोषण और उत्पीड़न के विरुद्ध एक अभियान सा उठ खड़ा हुआ और मध्ययुगीन सामाजिक व्यवस्था के विनाश का दौर आरम्भ हो गया। समाजवाद के आविर्भाव के बाद मानव-समाज दो भागों में विभक्त हो गया है—एक विशिष्ट सम्पन्न और अपने को सभ्य एवं सुसंस्कृत कहने वाले लोगों का समाज और दूसरा अभावग्रस्त जीवन के संघर्षों से जूझता हुआ मेहनतकशों का समाज। दूसरा समाज धीरे-धीरे प्रभावशाली बनता जा रहा है। इस समाज के पास भी शिक्षा है, ज्ञान है पर शिक्षा और ज्ञान के आडम्बरों से रहित, और दिखता ऐसा है कि दूसरा भाग पहले भाग को मानो निगल जाएगा। सैकड़ों ढोंगों और आडम्बरों की तह में छिपी हुई मनुष्य की कुत्सित भावना समाज और मानवता के लिए अभिशाप ही साबित हुई।

प्राचीनकाल अथवा मध्यकाल में साहित्य की रचना विशिष्ट वर्गों के लिए ही होती थी। चेतना और शिक्षण के इस युग में साहित्य का सृजन जन के लिए

माना जाता है। जो चीज जन के लिए है—उसमें जन की भाषा भी होगी। वैसे जन को अशिष्ट और असभ्य समझ लेना प्रबुद्ध और अपने को शिष्ट या सभ्य बताने वाले लोगों की परम्परा सी है, लेकिन जन में दया, प्रेम, सत्य और सद्भावना इन शिष्ट लोगों से कम किसी हालत में नहीं है—कुछ अधिक ही मिल सकती है—और इसलिए जो महान एवं आडम्बरहीन साहित्य है वह विशिष्ट वर्ग एवं जन को समान रूप से ग्राह्य है। कबीर का साहित्य तुलसीदास का साहित्य मेरे इस कथन के सुस्पष्ट प्रमाण हैं। लेकिन साहित्य के साथ जो बौद्धिक चमत्कार एवं आडम्बर के नियम जोड़ दिए गए हैं, उनके कारण साहित्य के उचित मूल्यांकन में कुछ बाधा सी पड़ने लगी है।

यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि शिष्टता मानव के शैक्षिक और सांस्कृतिक विकास की कसौटी है, लेकिन शिष्टता को ढोंग और आडम्बर का प्रतीक नहीं माना जा सकता। शिष्टता के नाम पर बौद्धिक प्रदर्शन साहित्य को दूषित कर देता है, वह मनुष्य में वर्ग-विभेद उत्पन्न करता है। लेकिन इस तथाकथित शिष्टता के विरोध रूप मानव के सांस्कृतिक विकास के प्रतीक प्रतिमानों को तोड़ना निश्चय रूप से एक विकृति है और वह अशिष्टता की कोटि में आती है। इस प्रकार क अशिष्ट साहित्य से साहित्यकार को सावधान रहना है, क्योंकि वह कुरूपता की द्योतक है। वास्तविकता तो यह है कि जो अशिष्टता है वह निश्चय रूप से कुरूप है, कम से कम सांस्कृतिक रूप से उन्नत सामाजिक परिवेश में। साहित्य का उद्देश्य तो सौन्दर्य का सृजन है। यथार्थवादी साहित्य मे प्रभाव उत्पन्न करने के लिए पात्रों द्वारा गालियों का प्रयोग आज खुले आम किया जा रहा है, जैसे राग दरबारी, मुर्दाघर, आधागाव उपन्यासों में। साहित्य का उद्देश्य भावना की अभिव्यक्ति है। यदि बिना गालियों के प्रयोग से भावना की अभिव्यक्ति होती है तो गाली के रूप में कुरूप शब्दों का प्रयोग करके साहित्य में अशिष्टता का दोष क्यों लाया जाय यह मेरी समझ में नहीं आता। वैसे मैं यथार्थवादी साहित्य में अशिष्टता के दोष को असम्य नहीं समझता, कहीं-कहीं भावना के आवेग को मुखर करने में अशिष्टता का दोष कला का गुण भी साबित हो सकता है। लेकिन यह सब तो साहित्यकार की वैयक्तिक कुशलता पर निर्भर है। अशिष्टता और अश्लीलता सैद्धांतिक रूप से साहित्य में वर्जित है, और जहाँ तक महान एवं अमर साहित्य का प्रश्न है, उसमें इन दोषों का स्थान नहीं है।

विवाह—यौन सम्बन्धों से उत्पन्न दायित्व को सही दिशा प्रदान करने के लिए विवाह-संस्था का जन्म हुआ। विवाह स्त्री-पुरुष की आदिम काम भावना को सामाजिक स्वीकृति देता है। यौन स्वेच्छाचार को विवाह ने एक सीमा तक नियंत्रित

किया। कालान्तर में विवाह को धर्म से संयुक्त कर काम सिद्धि का आधार बनाया गया। विवाह स्वयं एक पारिवारिक सामाजिक मूल्य बन गया। किन्तु परिवार के गठन में परिवर्तन होने से व्यक्ति स्वातंत्र्य एवं आणविक परिवार के उद्घोषणा होने से विवाह संस्था विषयक मान्यताओं में भी विकार आया। अब विवाह के प्रति परम्परागत दृष्टिकोण निरर्थक हो गया है। विवाह दो आत्माओं का पुनीत मिलन, जन्म जन्मान्तर का संबंध, स्त्री-पुरुष का स्थाई बंधन जैसी परम्परागत धारणायें क्षीण हो गई हैं। आज विवाह एक समझौता अथवा मैत्री सम्बन्ध के रूप में स्वीकार किया जाता है। महानगरीय जीवन में विवाह सम्बन्धी उन सभी परम्पराओं को पुरा करने का न तो अवकाश है और न इसकी आवश्यकता ही समझी जाती है। प्रेम विवाह, सिविल मैरिज आदि के प्रचलन से विवाह-संस्कार विधि भी अति सरल हो गई है।

वर्तमान अर्थव्यवस्था, औद्योगिक क्रांति नारी जागरण और शिक्षा के प्रभाव ने वैवाहिक मूल्यों को सर्वथा नवीन आयाम दिए हैं। स्वच्छन्दता की भावना एवं व्यक्तिवादी जीवन दर्शन ने विवाह की परम्परागत धारणा को आमूल परिवर्तन कर दिया है। विवाहित जीवन में तलाक के प्रवेश से परम्परागत वैवाहिक मूल्यों को आघात पहुँचा है। प्रेम विवाह, अन्तर्जातीय-विवाह, विधवा विवाह, विलम्बित-विवाह आदि के प्रति मूल्यगत धारणा विकसित हो रही है।

स्वतंत्रता के पश्चात् विवाह सम्बन्धी धारणा में परिवर्तन की अभिव्यक्ति उपन्यासों के विभिन्न पात्रों द्वारा हुई है। 'घेरे के बाहर' में कुमार की माँ हर आदमी के लिए विवाह करना आवश्यक मानती है, किन्तु कुमार की मान्यता है "तो क्या हर आदमी के लिए शादी करना जरूरी है? क्या कोई ऐसे नहीं रह सकता?" (पृ० ७) अर्थात् परम्परागत पीढ़ी की प्रतीक माँ परम्परागत मूल्यों का समर्थन करती है और नवीन पीढ़ी का प्रतीक कुमार नवीन मूल्यों को मान्यता देता है। यह प्राचीन और नवीन पीढ़ी का मूल्य संघर्ष की स्थिति है। 'गुनाहों के देवता' की पम्मी विवाह से घृणा करती है और शादी को धोखा मानती है। 'इंसान' में कमला विवाह को नारी स्वतंत्रता में बाधक मानती है। 'डूबते मस्तूल' की रंजना विवाह की तुलना कंटीली बाड़ों से करती है जो स्त्री के इर्द-गिर्द लगी होती है। 'सागर लहरें और मनुष्य' में धन के कारण माणिक को पति के रूप में स्वीकार कर लेती है। यहाँ विवाह में प्रेम का आधार नहीं है। अतः यह विवाह विच्छेद की स्थिति में भी शीघ्र पहुँच जाता है। 'जयवर्धन' की विदेशी युवती लिजा विवाह को प्रतिज्ञा मानती है, आबद्धता मानती है। 'उखड़े हुए लोग' में जया और शरद विवाह को दकियानूसी प्रथा का त्याग कर जीवन व्यतीत करने का स्वप्न देखते हैं। 'बूंद और

समुद्र' में क्रांतिकारी विचारों की अभिव्यक्ति हुई है। डाक बंगला में इरा कहती है कि शादी का आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं है। अगर आत्मिक मिलन की बात होती तो शादियां करने की उम्र पचास के बाद होती। यह महज एक शारीरिक आवश्यकता है जिसे आदर्श का ताज पहनाकर गरिमा प्रदान की गई। (पृ० ६५)

विवाह की परम्परागत धारणा में प्रगतिशील विचारों के प्रवेश से प्रेम विवाहों की संख्या बढ़ती जा रही है। विधवा-प्रेम विवाह या अन्तर्जातीय प्रेम विवाह भी हुए हैं। इसके अनेक उदाहरण स्वतंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में उपलब्ध है— गुनाहों का देवता, बीज, मैला आंचल, डूबते मस्तूल, धर्मपुत्र, सागर लहरें और मनुष्य, काले फूल का सौदा, बूंद और समुद्र, ब्रह्मपुत्र, सूनी घाटी का सूरज, कुलटा, सारा आकाश, झूठा सच, डाक बंगला, अंधेरे बंद कमरे, यह पथ बंधु था, अमृत और विष आदि।

दाम्पत्य जीवन के मनमुटाव, संघर्ष अथवा घुटन से मुक्ति पाने के लिए तलाक को मान्यता मिली। व्यक्ति स्वातंत्र्य की भावना के कारण अब यह आवश्यक नहीं रहा कि स्त्री पुरुष के बीच सम्बन्ध बिगड़ जाने पर भी उनका घुटन भरा वैवाहिक जीवन चलता रहे। तलाक की स्थिति अधिकांशतः प्रेम-विवाहों में आई। अर्थात् जिन्होंने साहस करके प्रेम विवाह किया उन्होंने उसे तोड़ने का भी अधिकार सुरक्षित माना। परम्परागत विवाहों में तलाक बहुत कम हुए। उपन्यासों में तलाक के दुष्परिणाम भी चित्रित किए गए हैं। 'आपका बंटी' उपन्यास में माता-पिता के सम्बन्ध विच्छेद के कारण बंटी की दशा को चित्रित किया गया है। बंटी न तो नए पिता के साथ एडजस्ट कर पाता है और न नई माँ के साथ। बंटी की तनावपूर्ण स्थिति का जिम्मेदार कौन है ? सिर्फ तलाक। गुनाहों का देवता की पम्मी अपने पति को इसलिए तलाक देती है क्योंकि उसे वासनात्मक जीवन से घृणा है। 'झूठा सच' की कनक अपने पति जय को इसलिए तलाक देती है कि पति पत्नी के यौन सम्बन्ध ठीक नहीं हैं। 'मछली मरी हुई' का निर्मलजीत मेहता पत्नी को इसलिए तलाक देता है कि उसमें यौवन का आकर्षण नहीं। 'दो एकांत' का विवेक सोचता है कि मात्र तलाक से व्यक्ति का सम्बन्ध समाप्त हो जाता है, लेकिन सम्बन्ध या जो स्मृति बन चुका है उसे कैसे दूर किया जा सकता है। वस्तुतः यह भी विचारणीय है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि विवाह की परम्परा धारणा में युगानुकूल परिवर्तन आया है। विवाह सम्बन्धी परम्परागत मूल्य टूट रहे हैं पर यह मूल्य-विघटन की प्रक्रिया ग्रामीण समाज की अपेक्षा शहरों में अधिक गति चल रही है। बदलते युग का प्रभाव प्रथमतः शिक्षित समाज पर भी पड़ता है।

प्रेम और यौन सम्बन्ध—विवाह एक सामाजिक आवश्यकता है, यौन एक प्राकृतिक भूख और प्रेम एक रागात्मक वृत्ति है। परम्परागत सन्दर्भ में तीनों को एक साथ जोड़ कर देखा गया। अर्थात् प्रेम उसी से हो जिससे विवाह हो पर यह आवश्यक नहीं कि विवाह उसी से हो जिससे प्रेम हो। पति पत्नी के मध्य ही यौन सम्बन्धों को स्वीकृति मिली है। विवाह पूर्व एवं विवाह पश्चात् पति-पत्नी को छोड़कर अन्यत्र यौन सम्बन्ध या प्रेम को अवैध घोषित किया गया है। परम्परागत अर्थ में पति-पत्नी ही प्रेमी-प्रेमिका हो सकते हैं, किन्तु अब आवश्यक नहीं कि प्रेमी-प्रेमिका पति-पत्नी भी हों।

वैज्ञानिक दृष्टि ने आज प्रेम और यौन को नैतिकता की कारा से मुक्ति दिला दी। दृष्टि-परिवर्तन से परम्परागत मूल्यों में बदलाव आया है। प्रेम और यौन के क्षेत्र में परम्परागत सन्दर्भ में जो कुछ अवैध माना जाता है उसे वर्तमान सन्दर्भ में वैध की श्रेणी में प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया जा रहा है। इन सबकी पृष्ठभूमि में बदलता हुआ मानवीय दृष्टिकोण उपन्यासों में है। मानव की प्रबल प्रकृत भूख की परितृप्ति आकांक्षा से प्रेरित यौन स्खलन इस रूप में चित्रित करने का प्रयास किया गया है कि स्खलित व्यक्ति के प्रति घृणा न उत्पन्न होकर संवेदना उत्पन्न हो।

सभ्य समाज में यौन का स्पष्ट चित्रण वर्जित रहा है। प्रेमचंद परम्परा के सभी उपन्यासकारों ने काम तत्व को समाज स्वीकृत रूप में ही प्रस्तुत किया है। नग्न या अश्लीलता को छूने वाला अमर्यादित वर्णन नहीं मिलता। किन्तु आधुनिक उपन्यासों में डी० एच० लारेन्स एवं ब्लादिमीर नाबोकाव से प्रभावित उन्मुक्त, स्वच्छन्द प्रेम और यौन भावों का नग्न आवरणहीन चित्रण प्रस्तुत किया जा रहा है। इस प्रकार प्रेम और यौन को सहज, मुक्त और स्वाभाविक बनाकर वर्जन के क्षेत्र से बाहर निकालकर वर्तमान उपन्यासों का महत्वपूर्ण [illegible] बना दिया गया है।

की मानसिक मान्यता मानने का दृष्टिकोण नवीन युग की देन है। 'बूँद और समुद्र' में [illegible] परम्परागत प्रेम को [illegible] मानती है। [illegible] प्रेम को चोरी नहीं, वैवाहिक मानती है जिसमें जितना ज्यादा प्यार करो [illegible] ज्यादा ही [illegible] है और उसमें [illegible] ही [illegible] जाती है। यहाँ उपन्यासकार युग के प्रेम की अनिवार्यता या व्यक्तिगत के दृष्टिकोण से नहीं देखता है। [illegible] उपन्यासकारों की दृष्टिकोण वर्तमान प्रेम का [illegible] स्पष्ट करती है। प्रेम का ज्ञान और बदलाव है [illegible] नये प्रेम के [illegible] में जीवन का [illegible] हुआ है और जीवन प्रेम को [illegible] में बाँधने जीवन का [illegible] करवाने की स्थिति में रखती है। 'यह दुनिया दुखों की [illegible]' [illegible] प्रेम में किसी भी प्रकार के बंधन को स्वीकार नहीं करती है। 'बूँद की [illegible]' का [illegible] प्यार को देखने के अविवेक मानता है। उसके अनुसार [illegible] के लिए प्यार का कोई अस्तित्व नहीं है। इस प्रकार उपन्यासों में परम्परागत दृष्टि के साथ ही प्रेम के नवीन दृष्टिकोण का विवेचन हुआ है। युग जीवन का [illegible] नवीन दृष्टिकोण भी और भी अधिक है। उपन्यासकार परम्परा से प्रेम और स्वच्छन्द प्रेम के अधिक होने के कारण सब उसके प्रति विद्रोह की दृष्टि अधिक होता है। एक और यह प्रकार युग की दृष्टि देता है दूसरी और परम्परा को तोड़ने का [illegible] अंकन।

युग प्रभाव से विवाह पूर्व प्रेम और यौन सम्बन्धों की स्वीकृति की गई है। परम्परागत नैतिकता विवाह पूर्व यौन संबंधों को निषेध [illegible] करती रही है। परम्परागत [illegible] का [illegible] परम्परागत [illegible] को [illegible] नहीं स्वीकारता क्योंकि [illegible] और [illegible] कर देता है जो [illegible] होने का [illegible] नहीं कर पाता। [illegible] जीवन दर्शन की [illegible] रूप में स्वीकार करने वाला युवा वर्ग प्रेम और यौन के सम्बन्ध में परम्परा का विरोध करता है। किन्तु उसके संस्कार कहीं न कहीं प्रकट हो उठते हैं। 'एक [illegible]' में [illegible] प्रेम को [illegible] और [illegible] बतलाता है क्योंकि एक [illegible] पर दूसरे की [illegible] ही नहीं बनाती [illegible] नवीन [illegible] है। एक बार [illegible] होने पर 'दूसरे बार' [illegible] पर यही संस्कार प्रकट होते हुए दिखाई देते हैं। '[illegible] वाली [illegible]' [illegible] प्रेम को [illegible] जीवन में [illegible] है। पर कहीं न कहीं उसके [illegible] कुंठित है। [illegible] झलक उठती है। '[illegible]' की [illegible] और [illegible] सम्बन्ध हो जाने की पीड़ा को मानती है और किसी [illegible] में पहुँचने के पहले ही ठंडा हो जाती है।

[illegible] का हुआ [illegible] मुक्त संयोग की [illegible] चाहता है। [illegible] कुंठाएँ पालना एवं [illegible] का [illegible] नष्ट होने [illegible] है। ऊपर उपन्यासों के उदाहरण देकर [illegible]

हुई,' 'मुरगी-खाना' जैसे उपन्यासों में समलिंगी यौनाचार का वर्णन हुआ है। साठोत्तरी उपन्यासों में यौन सम्बन्धों की विस्तृत चर्चा की गई है। 'वे दिन,' 'अंधेरे बंद कमरे,' 'एक पति के नोट्स,' 'दूसरी बार', 'यात्राएँ, 'बेघर', 'सफेद मेमने', 'सूरजमुखी अँधेरे के'। प्रेमचन्द के 'गोदान' में जहाँ सेक्स की अनुभूति मेहता मालती के चुम्बन, आलिंगन तक सीमित थी इन उपन्यासों में सेक्स की अनुभूति खुलकर सभोग तक पहुँच गई है।

विवाह-प्रेम और यौन की बदलती हुई धारणा के कारण स्त्री-पुरुष सम्बन्धों में भी अन्तर आया है। नारी स्वातंत्र्य की भावना प्रबलता से बढ़ी है। अतः परम्परागत रिश्ते नाते संकुच हो गए हैं। पारिवारिक सम्बन्धों में शिथिलता का अनुभव होने लगा। वस्तुतः सम्बन्धों का आधार अब मानवीय न होकर स्वार्थ अर्थात् आर्थिक धरातल रह गया। नारी आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर होने के कारण गुलाम बनकर नहीं रह सकती। इसलिए घर-परिवार में बढ़ती हुई अराजकता और अस्तित्व की कामना से एक दूसरे की अपेक्षा न करना प्रमुख हो गया। पति-पत्नी एकनिष्ठता का परिचय देने से कतराने लगे। स्त्री-पुरुष सम्बन्ध टूटने लगे, तलाक से उत्पन्न समस्याएँ भी सामने आईं।

अध्याय नौ

मानवीय सम्बन्धों में नये पक्षों का उद्घाटन, सौन्दर्यभोग-जीवन-संयोग, व्यक्तिगत जीवन की कदर्थनाएँ, मानसिक विकृतियाँ कुंठा तथा अवसाद

कलाकार राजदरबारों के स्वर्ण पिंजर से जब मुक्त हुआ तो पूंजीवादी व्यवस्था के बाजार की अंधी गली में फँस गया। गली में प्रवेश करते समय तो उसको लगता है कि अब वह पूर्ण स्वतन्त्र है, कुछ भी कर सकता है, कुछ भी लिख सकता है। किसी संरक्षक की रुचि का गुलाम नहीं, किसी के लिये नहीं, अपने लिये रचना कर्म में दत्तचित्त हो सकता है।

इस स्वतन्त्रता में अदृश्य जाल के पहले तंतु का एहसास उस समय होता है जब रचना अपने रचनाकार के हाथों से छूटकर जिन्स बन जाती है, एक ऐसी जिन्स जिसे बेचे बिना कोई निस्तार नहीं। और इस प्रकार जाने या अनजाने रचनाकार एक आम बाजार के नियमों का बन्दी बन जाता है। व्यक्तिगत उत्पादक और व्यक्तिगत विक्रेता होने की माँग होती है कि वह अच्छा सेल्समैन हो। दूसरे शब्दों में, कलाकार विशिष्ट माल बनाये और बेचने की कला में अपने प्रतियोगियों को मात भी दे।

इस आपाधापी में एक प्रदर्शनप्रियता जन्म लेती है। रचना चूँकि एक व्यक्ति की उपलब्धि है, इसीलिए प्राथमिक रूप से कलाकार अपने को एक अद्वितीय व्यक्तित्व सिद्ध करने की ओर प्रवृत्त होता है। अनिवार्यतः यह प्रतिस्पर्धा जन साधारण से नहीं, समाज मे प्रभुत्वशील बुर्जुवा वर्ग से होती है। बुर्जुवा वर्ग केवल मुनाफे के लिए जीता है। ऐसे सारे कर्म जिसमें जीने का आनन्द निहित है, जैसे उन्मुक्त नारी-भोग और नशाखोरी, बुर्जुवा वर्ग अपने अभिजातत्व की रक्षा के

लगा। "भौतिक शक्तियाँ, मानव चेतना को बदलती हैं और मानव चेतना तेक शक्तियों को बदलती है। इस प्रकार भौतिक परिस्थितियों को बदलते हुए स्वयं को भी बदलता है।"[1] इसी बदलाव की धारा में वह इतना 'स्वतंत्र' ा कि नितांत अकेला और असहाय अनुभव करने लगा। सामन्ती समाज में स्वामी र दास, सामन्त और प्रजा, दस्तकार और उपभोक्ता के बीच प्रत्यक्ष सम्बन्ध तो व्यक्तिगत सम्बन्धों में सुस्थापित मर्यादा थी, श्रम विभाजन अल्प होने के कारण तित्व बहुमुखी और स्थिर था। पूँजीवादी समाज में इनके स्थान पर जो व्यवस्था थापित हुई, उसमें से प्रत्यक्ष सम्बन्ध लुप्त हो गए। पैसा मनुष्य और समाज को ोड़ने वाली चीज बन गई जिसके अर्जन में सिद्धान्तः सबको स्वतंत्रता और मान अवसर है। स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व केवल उपदेशों के विषय रह ए हैं।

इस स्थिति के विरुद्ध सबसे पहले एक रूमानी विद्रोह प्रारम्भ हुआ जिसमें अतीत के भावुकतापूर्ण मोह तथा स्वप्न का स्वर प्रधान था। धीरे-धीरे अतीत में लौटने का मोह भी भंग हो गया और कलाकार कटुता तथा विवेकशून्यता के साथ एक नये प्रकार के विद्रोह की ओर प्रवृत्त हुआ, जिसकी प्रारम्भ में चर्चा की जा चुकी है। रूमानी विद्रोह हिन्दी में छायावाद के रूप प्रकट हुआ और हाल के वर्षों में दूसरे का विद्रोह पुनः जन्मा जो रूमानी विद्रोह का ही अपना स्वरूप है।

आदि विद्रोही थ्योफील गोतिये (१८११-१८७२) और चार्ल्स बोदलेयर (१८२१-१८६७) के विचारों का प्रतिरूप आज के कई हिन्दी लेखकों में देखा जा सकता है। गोतिये, बुर्जुवा वर्ग से सख्त नफरत करता था। उसके शब्दों में घृणित बुर्जुवा है—बैंकपति, दलाल, वकील, व्यापारी और दुकानदार आदि। एक शब्द में, वे सभी जो रूमानी इरादे में शामिल नहीं हैं, और सपाट पेशों से जीवन यापन करते हैं। नवसत्ता प्राप्त बुर्जुवा वर्ग अपने कलाकारों से सामाजिक कल्याण सम्बन्धी रचना की मांग कर रहा था। ऐसी रचनाओं की, जिनमें बुर्जुवा सत्ता के गुणगान गाए जाते हैं और उसके प्रति जनता में भक्ति जगायी जाती है। दूसरे शब्दों में बुर्जुवा वर्ग कला और कलाकार की पूजा के बजाय उससे अपनी पूजा करवाना चाहता था। गोतिये इसके विरुद्ध आक्रोश प्रकट करता है। बोदलेयर की कविताओं के विषय में उसने लिखा कि वह कवि कला को परम स्वायत्त मानने के कारण सराहनीय है। बोदलेयर यह स्वीकार नहीं करता कि कविता का अपने अस्तित्व के अतिरिक्त कोई उद्देश्य है या पाठक में परम सौन्दर्य बोध जगाने के अतिरिक्त कविता का कोई और लक्ष्य हो सकता है। परम सौन्दर्य बोध पर गोतिये ने कहा—"एक सच्चे राफेल या एक नंगी सुन्दर औरत को देखने की खातिर मैं एक फ्रांसीसी और नागरिक की हैसियत से प्राप्त सारे अधिकारों को सहर्ष त्याग सकता हूँ।" उन दिनों रूमानी युवा

लिये छिपकर करता है, ऊपर से उन्हें अनैतिक घोषित करता है, और परदे के पीछे उनका उपभोग करता है। इसके विपरीत कलाकार जीवन को पूर्णतः सघनता और तीक्ष्णता से भोगने की शर्त मानकर उसको खुले आम करने का साहस दिखाता है, धन लिप्सा को ठोकर मारता है, और पौरुषपूर्वक सिर उठाकर चलता है। कलाकार का यह विद्रोह विचित्र वेशभूषा धारण करने और बुर्जुवा वर्ग के नैतिक मूल्यों का दुस्साहसपूर्ण उल्लंघन करने के रूप में प्रकट होता है।

विद्रोह की यह मुद्रा शोषित-पीड़ित जन समुदाय को अच्छी लगती है। व्यक्तित्व और कृतित्व के असामान्य प्रयोग चौंकाकर आकर्षित करते हैं और प्रभुत्वशील तथा उत्पीड़ित, दोनों ही वर्गों के बीच चर्चा का विषय बन जाते हैं। यही तो बाजार के नियमों से चालित कलाकार का अभीष्ट होता है, क्योंकि जिन्स के विक्रय से पहले उसके निर्माता की विशिष्टता स्थापित करना आवश्यक है। एक हद तक पूंजीवादी बाजार में निर्माता की विशिष्टता जिन्स की विशिष्टता से अधिक महत्वपूर्ण होती है। कलाकार के लिये जन साधारण बुर्जुवा वर्ग से भी अधिक हेय है। अपढ़ और हिंसा पर उतारू जनता घृणा के योग्य है, व्यक्तित्वहीन और चेहराशून्य भीड़ है, सर्वग्रासी दानव है। वस्तुतः ऐसा कलाकार बुर्जुवा वर्ग को चिढ़ाकर उसको चोट पहुँचाकर एक हद तक अपनी शक्ति से ब्लैक मेल कर अपनी अस्मिता को स्वीकार भर कराना चाहता है। अतन्तः यह कलाकर कहा जाता है।

ऐसा कलाकार अपने संरचनाक्रम के अनिवार्य परिणामस्वरूप अन्तराबंधित (शीजोफ्रेनिक) खण्डित व्यक्तित्वान् होता है। प्रभुत्वशील वर्ग के प्रति विद्रोह और कला वैशिष्ट्य की रचनात्मक व्यग्रता की स्थिति में वह कलात्मक और क्रांतिकारी मुद्रा मूल्यों की वृद्धि में सहायक होता है, किन्तु जनता से घृणा करने की प्रतिक्रांतिकारी मुद्रा में वह स्वयं अपनी को कुण्ठित कर देता है। अक्सर उसकी कला महान् बनते-बनते रह जाती है।

हिन्दी में ऐसा विरोध एक नई संघटना है, मुख्यतः स्वातंत्र्योत्तर प्रवृत्ति है। किन्तु, पूँजीवाद के विकास में वह बहुत पुरानी प्रक्रिया है। फ्रांस और ब्रिटेन की औद्योगिक क्रांतियों मे बुर्जुवा वर्ग ने स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व के नारे के साथ सामन्ती दासता को चुनौती दी और भौतिक सम्पन्नता के ही नहीं, ज्ञान-विज्ञान के अभूतपूर्व प्रसार तथा विकास के द्वार खोल दिये। उस युग के कलाकार ने मानव गरिमा के गीत गाए। उसको मानव-नियति मनुष्य की मुट्ठी मे दिखाई दी, अंधविश्वासों का अंधकार हटता हुआ और विवेक तथा तार्किक संगति की किरणों में पृथ्वी पर स्वर्ग उतरता जान पड़ा। वह मानव की आत्म चेतना और विवेक शक्ति के जागरण का युग था। शीघ्र ही पूंजीवादी समाज के अन्तर्विरोधों से मोह भंजन

होने लगा। "भौतिक शक्तियाँ, मानव चेतना को बदलती हैं और प्राकृत चेतना भौतिक शक्तियों को बदलती है। इस प्रकार भौतिक परिस्थितियों को बदलता हुआ मानव स्वयं को भी बदलता है।"[1] इसी बदलाव की धारा में वह इतना 'स्वतंत्र' हुआ कि नितांत अकेला और असहाय अनुभव करने लगा। सामन्ती समाज में स्वामी और दास, सामन्त और प्रजा, दस्तकार और उपभोक्ता के बीच प्रत्यक्ष सम्बन्ध तो थे, व्यक्तिगत सम्बन्धों में सुस्थापित मर्यादा थी, श्रम विभाजन अल्प होने के कारण व्यक्तित्व बहुमुखी और स्थिर था। पूँजीवादी समाज में इनके स्थान पर जो व्यवस्था स्थापित हुई, उसमें ये प्रत्यक्ष सम्बन्ध लुप्त हो गए। पैसा मनुष्य और समाज को जोड़ने वाली चीज बन गई जिसके अर्जन में सिद्धान्तः सबको स्वतंत्रता और समान अवसर है। स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व केवल उपदेशों के विषय रह गए हैं।

इस स्थिति के विरुद्ध सबसे पहले एक रूमानी विद्रोह प्रारम्भ हुआ जिसमें अतीत के भावुकतापूर्ण मोह तथा स्वप्न का स्वर प्रधान था। धीरे-धीरे अतीत में लौटने का मोह भी भंग हो गया और कलाकार कटुता तथा विवेकशून्यता के साथ एक नये प्रकार के विद्रोह की ओर प्रवृत्त हुआ, जिसकी प्रारम्भ में चर्चा की जा चुकी है। रूमानी विद्रोह हिन्दी में छायावाद के रूप प्रकट हुआ और हाल के वर्षों में दूसरे का विद्रोह पुनः जागा जो रूमानी विद्रोह का ही अपना स्वरूप है।

आदि विद्रोही थ्योफील गोतिये (१८११-१८७२) और चार्ल्स बोदलेयर (१८२१-१८६७) के विचारों का प्रतिरूप आज के कई हिन्दी लेखकों में देखा जा सकता है। गोतिये, बुर्जुवा वर्ग से सख्त नफरत करता था। उसके शब्दों में घृणित बुर्जुवा है—बैंकपति, दलाल, वकील, व्यापारी और दुकानदार आदि। एक शब्द में, वे सभी जो रूमानी इरादे में शामिल नहीं है, और सपाट पेशों से जीवन यापन करते है। नवसत्ता प्राप्त बुर्जुवा वर्ग अपने कलाकारों से सामाजिक कल्याण सम्बन्धी रचना की माँग कर रहा था। ऐसी रचनाओं की, जिनमें बुर्जुवा सत्ता के गुणगान गाए जाते हैं और उसके प्रति जनता में भक्ति जगायी जाती है। दूसरे शब्दों में बुर्जुवा *वर्ग कला और कलाकार की पूजा के बजाय उससे अपनी पूजा करवाना चाहता था।* गोतिये इसके विरुद्ध आक्रोश प्रकट करता है। बोदलेयर की कविताओं के विषय में उसने लिखा कि यह कवि कला को परम स्वायत्त मानने के कारण सराहनीय है। बोदलेयर यह स्वीकार नहीं करता कि कविता का अपने अस्तित्व के अतिरिक्त कोई उद्देश्य है या पाठक में परम सौन्दर्य बोध जगाने के अतिरिक्त कविता का कोई और लक्ष्य हो सकता है। परम सौन्दर्य बोध पर गोतिये ने कहा—"एक सच्चे राफेल या एक नंगी सुन्दर औरत को देखने की खातिर मैं एक फ्रांसीसी और नागरिक की हैसियत से प्राप्त सारे अधिकारों को सहर्ष त्याग सकता हूँ।" उन दिनों रूमानी युवा

वर्ग बुर्जुवा वर्ग का अभिजात्य स्वयं अपनी वेशभूषा में भी छोड़ रहा था, वे लम्बे बाल और छितरी दाढ़ियां रखते ऊटपटांग कपड़े पहनते, जर्द चेहरे बनाते या रंग लेते। गोतिये ने लिखा है—"उन दिनों रूमानी कला सम्प्रदाय में चमड़ी का रंग यथासम्भव जर्द बनाने, किंचित हरा सा और मुर्दा सा बनाने का फैशन था। इससे मनुष्य को एक बायरानी प्रतीति प्राप्त होती है और प्रमाण मिलता है कि उसको भावावेश और आत्मपीड़ित ने खा लिया है। इससे वह औरतों की नजरों में दिलचस्प बन जाता है।" विशुद्ध सौन्दर्य और कला पूजक होने का कितना ही अभिनय किया जाए, किन्तु रचनाकार अपने समसामयिक परिवेश की विसंगतियों से स्वतंत्र नहीं हो सकता। गोतिये उनकी ओर से आंखें मूंदने का नाटक कर रहा था, किन्तु वह परिवेश में व्याप्त विरोधी वर्गों के संघर्ष से उदासीन भी नहीं रह सका। और जब उसने देखा कि संत सिमोपंथी समाजवादी श्रमजीवी जनता के जीवन को नारकीय परिस्थितियों से उबारने का प्रयत्न कर रहे हैं तथा क्रमशः लोकप्रियता प्राप्त करते जा रहे हैं तो उसे इन पर भी आक्रमण करना पड़ा।

जब १८४८ के फरवरी मास में अल्पजीवी, श्रमजीवी जन-क्रांति फूट पड़ी तो बुर्जुवा वर्ग के जीवन-मूल्यों से नफरत करने वाले अनेक कलाकारों ने उसे मुक्ति का मार्ग समझा। बोदलेयर इनमें से एक था। उसने तुरन्त एक क्रान्तिकारी पत्रिका 'लसेलुट पब्लिक' का प्रकाशन प्रारम्भ किया जिसे दो अंकों के बाद ही बन्द करना पड़ा। १८५२ तक, जैसा कि पियरे दूरों की पुस्तक 'चेसेस' की भूमिका में बोदलेयर ने लिखा है, वह 'कला, कला के लिए' सिद्धांत को बचकाना मान रहा था और कला की क्रान्तिकारी भूमिका पर बल दे रहा था। किन्तु, जनक्रान्ति की विफलता के बाद बोदलेयर जैसे अनेक कलाकार हताश होते गए और धीरे-धीरे जनता को कुछ न कर सकने योग्य समझकर और पशुवत् जीवित रहना उसकी नियति मानकर, विशुद्ध कलावादी बन गए।

बोदलेयर बुर्जुवा वर्ग को चिढ़ाकर, चोट पहुँचाकर, अपने प्रति उसका सम्मान जागृत करने का प्रयत्न करने लगा। उसने एक ओर बुर्जुवा धर्म ग्राहक के लिए लेखन कार्य करने से इनकार किया, दूसरी ओर साहित्यिक बाजार में अदृश्य ग्राहक की तुष्टि को कला की सफलता का टेस्ट कसौटी भी मानता रहा। यह ग्राहक और कोई नहीं, अभिजात वर्ग ही हो सकता था। एडगर ऐलन पो के विषय में लिखते हुए बोदलेयर ने कहा ऐसे जन समाज में जहाँ कोई अभिजात वर्ग न हो, सौन्दर्य पूजा भ्रष्ट ही हो सकती है। ह्रासोन्मुख होती है और विलीन हो जाती है। इसी लेख में उसने तीन व्यक्तियों को महत्वपूर्ण माना पादरी, सिपाही और कवि।

बोदलेयर लेखन के बल पर सम्मानपूर्वक जीवन बिताने का स्वप्न देखता था, किन्तु पूँजीवादी व्यवस्था ने उसे गरीबी के नरक में ढकेल दिया। वास्तविक जगत

में वर्णच्युत होने पर भी वह मानसिक जगत में वर्णच्युत नही हो सका, और बुर्जुवा वर्ग के प्रति विद्रोह करने के बावजूद उसी से जुड़ा रहा। इसीलिए वह सामान्य श्रमजीवी वर्ग का अंग नहीं बन सका। बोदलेयर से शायद अधिक ही शायद जीवन रिम्बो का सिद्ध हुआ। रिम्बो तो अन्ततः साहित्य-कर्म ही छोड़ बैठा और अस्त्र-शस्त्रों का घोर व्यापार कर पुनः बुर्जुवा वर्ग का अंग बन सका।

गोतिये और बोदलेयर के समय की तुलना में बुर्जुवा अधिक अनुभवी और चालाक हो गया है। वह ऐसे सभी विद्रोहों की पीठ ठोकता है जिसका सम्बन्ध श्रमजीवी जनता के आन्दोलन से न हो। स्वर्गिक अनुभूति देनेवाली मादक गोलियाँ पोर्नोग्राफी एक बड़ा व्यापार बन गया है। हालैण्ड, डेनमार्क, स्वीडन आदि कई छोटे देशों के लिये वह अपार विदेशी मुद्रा कमाने का साधन है। अमरीकी पत्रिका 'नेशन' ने हाल में लिखा था—"आज जो कुछ हो रहा है वह है हमारी धारणाओं और स्वप्नों का उद्योगीकरण। आप शायद ध्यान नही दे रहे हैं कि आपका उपचेतन समग्र राष्ट्रीय उत्पादन का अंश बन गया है। कोई आश्चर्य नहीं है कि ब्रिटेन के शासक अपने यहाँ पोप संगीत के नायकों को नाइटहुडसर आदि के खिताबों से विभूषित करते हैं।"

पोर्नोग्राफी क्रान्ति बुर्जुवा वर्ग ने सहर्ष स्वीकार कर ली है। जिसे वर्ग के लिये अपार धन, यौन-लिप्सा मे व्यय करने के अतिरिक्त और कोई उद्देश्य नहीं रह गया है, जिसके लिये लेटेस्ट माडल की कार खरीदना भी लेटेस्ट माडल की लड़की प्राप्त करने की सम्भावना से सम्बन्धित है। जिसके लिए स्त्री-पुरुष दोनों के लिये अधिक से अधिक प्रेमी प्रेमिका रखना एक हैसियत का प्रतीक बन गया है, उसके लिए इस क्रान्ति की स्वीकृति सहज और स्वाभाविक है। विशेषकर इसलिए और था कि यह कथिक क्रान्ति एक मुनाफे का साधन है, और वियतनाम युद्ध या अन्य किसी सामाजिक समस्या को उग्रकर धारण करने से उस पर बुर्जुवा वर्ग से सीधी टक्कर होने की सम्भावना से मुक्ति देती है।

यह उस व्यक्तित्व के विद्रोह की बांध परिणति है जो हर्बर्ट मारक्यूस के शब्दों में उपभोक्ता समाज (कंज्यूमर सोसायटी) के अन्दर एक आयामी मनुष्य बन गया है। वह नकारात्मक विद्रोह बीट, हिप्पी आदि नामधारी व्यक्तित्व को केवल आत्माविनाश की ओर ले जाता है। समाज व्यवस्था में कोई रूपान्तर नहीं पैदा करता। यह तथ्य आज के युवा वर्ग को नए सिरे से चिन्तन पर विवश कर रहा है। यूरोप और अमरीका में एक नये वामपंथ के उदय की संघटना इसी तरह से जुड़ी हुई है।

हिन्दी साहित्य में वर्तमान विद्रोह में एक अन्तः सलिला धारा बही है जो बोदलेयर के शब्दों में दूसरों को नाराज करने के अभिजात आनन्द की कला है।

सामन्ती जीवन मूल्यों का उत्तराधिकारी बुर्जुआ वर्ग अपने ढंग से भारतीय समाज को ढालने के लिये रचनाकारों से सामाजिक रूप से उपयोगी साहित्य की मांग करता है तो उसके विरोध में नये रचनाकार गोतिये की भांति चीख पड़ते हैं। उनके विद्रोह में वे ही अन्तर्विरोधी प्रवृत्तियाँ हैं, जिनकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। वे आत्मप्रदर्शन, विज्ञापनबाजी, सेल्समैनेशिप सम्बन्धी बाजार के नियमों के शिकार होते जा रहे हैं। वे जन आन्दोलनों से भी उतनी ही घृणा करते हैं जितना कि बुर्जुआ वर्ग से। वे केवल आत्म प्रतिष्ठा चाहते हैं, कोई क्रान्ति नहीं। यह अन्तर्विरोध क्यों होता है? क्या आज यह समझना कठिन है कि पूँजीवादी व्यवस्था को आमूल ध्वस्त किये बिना कोई क्रान्ति सम्भव नहीं और क्या यह देखना कठिन है कि इसके लिये एक व्यक्ति का विद्रोह पर्याप्त नहीं ? क्रान्तिकारी शक्तियों को एकताबद्ध करने और इस उद्देश्य से जन-जीवन में सामन्ती तथा पूँजीवादी जीवन मूल्यों का प्रभाव मिटाने की आवश्यकता है।

यह विद्रोह नपुंसक सिद्ध होता है तो इसलिए कि एक स्तर पर परिवेश की दमघोंटू, तिक्त और विषाक्त सम्वेदनशीलता ग्रहण की जाती है। लेकिन एक दूसरे स्तर पर सामन्ती बुर्जुआ व्यवस्था की शृंखलाओं से उत्पन्न विवशता को नियति मानकर उसके सामने आत्म समर्पण कर दिया जाता है। सामाजिक सुरक्षा इस विद्रोह का अन्तर्विरोधी आधार है। सरकारी नौकरियों, बड़े पूँजीपतियों के समाचार पत्रों आदि से जीवनयापन करने वाला रचनाकार सुरक्षा की सीमा तक ही आक्रोशी मुद्रा प्रकट करता है, और क्रांतिकारी राजनीति से अलग रहता है। क्रांतिकारी राजनीति में सक्रिय रूप से भाग लिये बिना भी उसका लेखन कलात्मक माध्यम से उसके विकास में सहायक हो सकता है और जब ऐसा होता है तथा प्रभुत्वशील निहित स्वार्थ उस पर आँखें तरेरने लगता है तो ऐसा रचनाकार सुरक्षा के लिये बुर्जुआ राजनीति पर आक्रमण करने के बजाय क्रांतिकारी राजनीति पर आघात करने लगता है, और पूर्णतया प्रति क्रांतिकारी बन जाता है। यह खतरा अनेक युवा रचनाकारों के सामने है।

शुद्ध कलावाद में सुरक्षा प्राप्त करने वाले रचनाकार हिन्दी में अज्ञेय की परम्परा में आते हैं। यौवन सुलभ आवेग में आतंकवादी क्रांतिकारियों का साथ देने के बाद अज्ञेय ने दुबारा वैसी गलती नहीं की और एम० एन० राय पंथी तथा कथित कम्युनिस्टों की पांत में जो युद्ध काल में ब्रिटिश शासकों का साथ दे रहे थे, सम्मिलित होने के बाद उन्होंने शुद्ध कलावाद का नारा दिया। यह नारा स्वतंत्रता संग्राम के काल में व्यापकता प्राप्त नहीं कर सका, किन्तु स्वाधीनता प्राप्ति के बाद लगभग उन्हीं परिस्थितियों में जिनमें बोदलेयर को हारना पड़ रहा था इसका

प्रभाव बढ़ा। एक नई रुमानी प्रवृत्ति का पुनरुत्थान हुआ जो छायावाद का नव संस्करण ही सिद्ध हुआ। १९६० के बाद का लेखन अज्ञेय के शुद्ध कलावाद को चुनौती देकर सामने आया। पूँजीवादी व्यवस्था के संकट के बीच अज्ञेय का अद्वितीय और अतीन्द्रिय अनुभूति के सुख क्षण का सिद्धांत यथार्थ शून्य और संवेदनशील लगने लगा। नया रचनाकार अब समसामयिक सन्दर्भों के साथ समस्त परिवेश को भोगने और विद्रोह पर बल देता है।

इस विद्रोह में दो धाराएँ हैं—एक जो आक्रोश की मुद्रा से बुर्जुवा वर्ग को केवल ब्लैकमेल करना चाहती है, और दूसरी वह जो जनतांत्रिक व्यवस्था के अन्तर्विरोध का लाभ उठाकर प्रतिपक्ष को प्रतिरोधी शक्तियों को बल पहुँचना चाहती है। शायद अभी इतना सुस्पष्ट विभाजन नहीं किया जा सकता। ये प्रवृत्तियाँ एक दूसरे की सीमाओं का कभी-कभी अतिक्रमण कर लेती हैं। इसका एक कारण यह भी है कि भारतीय बुर्जुवा वर्ग पुराने सामन्ती जीवन-मूल्यों से चिपका हुआ है और साहित्य रचना पर पूँजीवादी बाजार के नियमों का प्रभाव उतना अधिक नहीं है जितना कि विकसित देशों में है। किन्तु इन शक्तियों के प्रति क्रांतिकारी प्रभावों के विरुद्ध चेतावनी देना आवश्यक है।

परम्पराओं और आधुनिकता के बीच में पिसता हुआ भारतीय जन मानस आज घुटन महसूस कर रहा है। वह एक ओर अपनी परम्परा और संस्कारों को तिलांजलि देने में गौरव का अनुभव करता है तो दूसरी ओर आधुनिकता को स्वीकारने में परम्परागत मान्यताओं का विरोध करने में गौरव का अनुभव करता है। नवीन मूल्यों को आत्मसात् करने में नवीनीकरण की चेतना ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। नवीनीकरण की चेतना में पश्चिमीकरण, शहरीकरण, औद्योगीकरण, मशीनीकरण, आदि की प्रक्रियाओं ने भारतीय जनजीवन के परम्परागत ढाँचे का नवीन भेद दिए हैं। समाज में अर्थ संकट बढ़ा है। नैतिक मान्यताओं के क्षेत्र में क्रांतिकारी परिवर्तन हुए हैं। यौन संबंधों में स्वेच्छाचारिता बढ़ी है। सेक्स को प्राकृतिक आवश्यकता बताते हुए मात्र आनन्द के लिए स्वीकारा जाना नई नैतिकता का आग्रह है। परिस्थितियों के संघात से दाम्पत्य जीवन संबंधी परम्परागत मूल्य क्षीण होने लगे हैं।

बीसवीं शती में परम्परा के प्रति विद्रोही युवा मानस विकसित हुआ। युवा मानस के इस विद्रोह का कारण सामाजिक विशृंखलताओं के कारण उत्पन्न असंतोष है। वर्तमान दोषपूर्ण शिक्षा पद्धति एवं बढ़ती हुई बेकारी से युवा मानस का स्वप्न भंग हो चुका है। परम्परागत वैचारिक जगत को नवीन दृष्टि देने वाले मार्क्स, फ्रायड, रसेल, आइन्स्टाइन, टैगोर, गाँधी, राधाकृष्णन आदि ने क्रांतिकारी

विचारों से दुनिया को नए आयाम दिए। ईश्वर के स्थान पर मानव की प्रतिष्ठा आधुनिक चिंतन की महती विशेषता है।

व्यक्ति स्वातंत्र्य की चेतना का विकास पुरुष वर्ग के साथ-साथ स्त्री वर्ग में भी हुआ। आधुनिक परिवेश में नारी का मूल्यांकन केवल नारी के रूप में होने लगा है। अब उसकी सत्ता मात्र पुरुष सापेक्ष नहीं है। आधुनिक नारी परम्परागत श्रृंखलाओं से अधिकाधिक मुक्ति की आवश्यकता अनुभव कर रही है। सामाजिक क्षेत्र में स्त्री-स्वातंत्र्य और नारी प्रतिष्ठा की भावना ने परम्परागत मूल्यों को परिवर्तन किया है। संयुक्त परिवार विघटन के कगार पर खड़ा है और आणविक परिवार उसका स्थानापन्न बन रहा है। वैवाहिक जीवन की सब मान्यताएं बदल चुकी हैं। विवाह के परम्परागत बंधन शिथिल हो गए हैं। अब विवाह दो आत्माओं का पुनीत मिलन या जन्मजन्मांतर का संबंध स्वीकार न किया जाकर मात्र समझौता अथवा मैत्री संबंध माना जाने लगा है। वैवाहिक जीवन में तलाक की स्वीकृति से परम्परागत गार्हस्थ्य जीवन संबंधी मूल्यों को आघात लगा है। प्रेम विवाह, अन्तर्जातीय विवाह, विधवा विवाह आदि को अब समाज में मान्यता मिलने लगी है। आज बिना विवाह किए ही वैवाहिक जीवन की स्वच्छन्दताओं का उपयोग करने की चाह है।

समाज में वर्णों के स्थान पर वर्गों के उदय होने के परिणामस्वरूप वर्ग संघर्ष का प्रादुर्भाव हुआ। इस वर्ग संघर्ष का प्रतिफलन अर्थ संघर्ष में हुआ है। भारत की परम्परागत कृषि प्रधान अर्थ व्यवस्था औद्योगीकरण के रूप में करवट ले रही है। इससे परम्परागत ग्रामीण जीवन में अंतर आया है। आज बढ़ती हुई जनसंख्या, भुखमरी, गरीबी, बेरोजगारी आदि से त्रस्त भारतीय जनता में नैतिक ह्रास होना स्वाभाविक हो गया है।

उपन्यासों में उपरोक्त दर्शायी गई समस्याओं और स्थितियों को विस्तृत स्थान प्राप्त हुआ है। महानगरीय जीवन में आदमी अपने को निहायत छोटा और अस्तित्वहीन पाता है। आस्थाहीन पौरुषहीन आदमी को मौत ही एक मात्र सत्य समझ में आ रहा है। 'अपने अपने अजनबी' में जिन्दगी और मौत का चिंतन है। 'अंधेरे बंद कमरे' में पति-पत्नी एक दूसरे को प्रेम करते हैं और पाते हैं कि वे पहले से अधिक अपरिचित हो गए हैं। 'वे दिन' में मानव नियति की खोज है। 'टूटती इकाइयां' में समाज की इकाइयां पति-पत्नी के बीच के अजनबीपन को उजागर किया गया है। 'एक पति के नोट्स' में अपनी पत्नी की एकरसता से बोर होकर पड़ोसन से संभोगकर के नायक वही बोरियत भोगता है जो भोगता रहा है। पड़ोसन से संभोग में इसे नयापन प्राप्त नहीं होता। 'एकोगी नहीं राधिका' में राधिका

पश्चिमी और भारतीय संस्कृति के बीच अपने को मुसाफिर पाती है। 'कंदील और कुहासे' में एक बेरोजगार युवक की कथा कही गयी है। 'आपका बंटी' उपन्यास में तलाक से उत्पन्न समस्या पर विचार किया गया है। 'सूरजमुखी अंधेरे के' में यौन कुण्ठा को प्रकाशित किया गया है। इस तरह साठोत्तरी उपन्यासों में मानवीय संबंधों के नए पक्षों का उद्घाटन किया गया है।

कुछ विद्वानों का मत है कि प्राचीन काल में लिंग साम्यवाद (सेक्स कम्युनिज्म) था। अर्थात् अनियंत्रित स्वच्छन्द यौन सम्बन्ध था और परिवार का अभाव था। कुछ विद्वानों का मत है कि इसके लिए आदिम जातियों में पाए जाने वाले ऐसे रीति रिवाज हैं, जिनके कारण यौन-स्वच्छन्दता का सन्देह होता है। उदाहरणार्थ, उत्सवों पर स्त्रियों का आदान-प्रदान, अतिथि सत्कार हेतु पत्नियों को भेजना आदि। परन्तु कुछ अवसरों पर यौन उन्मुक्तता के कारण यह नही कहा जा सकता कि यह यौन साम्यवाद के अवशेष हैं। वेस्टरमार्क ने इस मत का अपनी पुस्तक 'हिस्ट्री ऑव् ह्यूमन मेरिज' में खंडन किया और ऐक्य विवाह पद्धति का प्रतिपादन किया है। वे डार्विन के इस सिद्धांत का समर्थन करते हैं कि पुरुष में आधिपत्य और ईर्ष्या की भावना प्रबल होती है। वह स्त्रियों पर सम्पत्ति के समान आधिपत्य रखना चाहता था, और सबल होने के कारण अपनी शक्ति के बल पर रखने में सफल भी हुआ। कालान्तर में बल प्रयोग की आवश्यकता नहीं रही और पुरुष का यह अधिकार एक दूसरे के हित में समाज द्वारा मान्य हो गया और आगे चलकर विवाह की एक पद्धति का रूप धारण कर लिया।

वेस्टरमार्क अपने तर्क को पुष्ट करते हुए लिखते हैं —"छोटी पूंछ वाले बन्दरों (ऐप्स) में भी विवाह प्रथा पाई जाती है, फिर मानव समाज में लिंग-साम्यवाद होना अनुचित सा प्रतीत होता है।" जूकरमेन तथा मैलिनोवस्की ने भी ऐक्य विवाह का ही प्रतिपादन किया है। वेस्टरमार्क के अनुसार—"एक विवाह ही विवाह का सच्चा स्वरूप है, रहा था तथा रहेगा।"

एक विवाह पद्धति समाज, परिवार तथा व्यक्ति के विकास के लिए हितकर है, परन्तु विवाह की अन्य रीतियाँ बहु विवाह तथा यौन-स्वातन्त्र्य भी कई जातियों में पाया गया है, जैसे राघव के 'कब तक पुकारूं' उपन्यास में नटों में पाई जाने वाली अतिरिक्त यौन संबंधी मान्यताओं तथा रीति-रिवाजों का चित्रण किया गया है। उपन्यास का प्रमुख पात्र सुखराम जो अपने को ठाकुर वंश का मानता है, उसे अपनी प्रेमिका 'प्यारी' के प्रति दरोगा का आकर्षण बहुत बुरा लगता है। प्यारी की मां उसे नटों की रीति-रिवाज के अनुसार स्वाभाविक मानती है, और प्यारी भी इसमें कोई बुराई नहीं समझती। यह यौन संबंधों की उन्मुक्त परम्परा की विशेषता

है। नटों में स्वच्छन्द यौन-संबंध पाए जाते हैं, इस बात का लेखक ने निर्भीकता से वर्णन किया है। प्यारी का प्रेम तो सुखराम से है, परन्तु वह रुस्तम खां दरोगा की रखेल बन जाती है। वह कहती है—प्रीत तो मन की होती है। दरोगा के घर में रहते हुए भी उससे प्यारी का मन का संबंध नहीं, यह सामाजिक विषमता है। "प्यारी सोचती है, एक ही की चाहना क्यों हो जाती है, जो मन पर लकीर खींच जाती है।"

पति-पत्नी के संबंधों में भावनाओं की अनुभूतियों की प्रगाढ़ता जब तक नहीं होगी, वह एक दूसरे से बंधे तो रहेंगे, परन्तु हृदय की भटकन समाप्त न होगी। इसी का रांगेय राघव इस प्रकार से उल्लेख करते हैं—"पति-पत्नी का सम्बन्ध अपने शारीरिक संबंध के कारण इतना प्रिय नहीं होता। एक दूसरे पर बलिहार जाने वाली भावना की शक्ति के कारण वह कितना पवित्र और महान हो जाता है, उसमें सब दुख झेल जाने की अदम्य क्षमता होती है।"[४] प्यारी का रुस्तम से शारीरिक संबंध है, परन्तु वह सुखराम के प्रति समर्पित है। उसके लिए वह हर बलिदान करने के लिए तैयार है। लेखक ने नटों के यौन संबंधों की पश्चिम से तुलना की है।

विवाह-विच्छेद की स्वतंत्रता केवल छोटी जातियों को ही थी, परन्तु १९५४ के विवाह अधिनियम के पश्चात् ऐक्य विवाह लागू होने के साथ ही विच्छेद की दर बड़ी जातियों में अभी भी बहुत अल्प हैं, क्योंकि अपनी सामाजिक स्थिति के कारण, व्यवसाय तथा बच्चों के भविष्य के कारण लोग विच्छेद नहीं करते, फिर भी यह अधिकार सर्व-सामान्य को अब प्राप्त है। नटों में यौन-स्वतंत्रता होने पर भी सम्बन्ध स्वेच्छा से स्थापित किए जाते हैं। बलात्कार को एक पाशविक कृत्य माना जाता है। धूपों के साथ बांके ने जब यह कृत्य किया, वह अपना सिर फोड़कर चमारों के सामने आत्महत्या कर लेती है। नारेन्द्र के सूसन के साथ बलात्कार करने पर उसे बुरी तरह पीटा जाता है और वह स्वयं भी ग्लानि से भर उठता है। वह भूल गया था कि संभोग अपने आप में भले पाप न हो, किन्तु स्त्री को पशु बनाकर उसका भोग करने की प्रवृत्ति पाशविकता ही है, और जघन्य भी, क्योंकि वह स्त्री को समान स्वतंत्रता नहीं देता, वरन् उसे दासी से भी बदतर बना देता है।[५]

चन्दा का विवाह नीलू से हो जाता है, परन्तु उससे वह कोई सम्बन्ध नहीं रखना चाहती। उसका सर्वस्व नरेश है, परन्तु नरेश कहता है—"तुम विवाहिता हो, मैं अब नहीं अपना सकता।" इस पर चन्दा कहती है—"लड़की नये पुरुष के सम्बन्ध से अपवित्र हो जाती है, पुरुष नहीं होता।" वह पूछती है कि यदि मैं शरीर से निर्बल हूँ तो यह क्या सभ्यता है कि सबल अपने से निर्बल को कुचल दें।

नट समाज में यौन-सम्बन्धों की स्वच्छन्दता, स्त्री-पुरुष, दोनों को समान है। वे स्वेच्छा से अपने सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं। कजरी अपने पहले पति को छोड़कर सुखराम के साथ रहने लगती है; इस प्रकार की स्वच्छन्दता की इजाजत बड़ी जातियों में नहीं है, परन्तु रूढ़िगत सामाजिक बन्धनों में अब व्यक्ति के दृष्टिकोण से विचार किया जाने लगा है। यूरोपीय उपन्यासों का हिन्दी के उपन्यासकारों पर प्रभाव पड़ा है। फ्रायड से प्रभावित उपन्यासकारों ने मनोवैज्ञानिक धरातल पर पात्रों का चित्रण किया है। फ्रायड ने इन्द्रियानुभूति को महत्व दिया है, तथा काम को ही जीवन का मूल आधार सिद्ध किया है। साथ ही चेतना प्रवाह को वह महत्वपूर्ण मानते हैं—''चेतना उन सारे तत्वों का मिश्रण है, जिन्हें हमने अनुभव किया है और कर रहे हैं।''[6]

समाजशास्त्री धरातल पर निवेदन करने से यह स्पष्ट होता है कि इन उपन्यासकारों में यथार्थ को चित्रित करने का आग्रह है। यथार्थ के नाम पर अश्लील और कुत्सित की भी अभिव्यक्ति करने में वे नहीं चूकते। आदर्शवादी विचारधारा भी यथार्थवाद से प्रभावित हुई। मनोविज्ञान से प्रभावित उपन्यासकारों ने कुण्ठाओं तथा दमित इच्छाओं का उद्घाटन करना आरम्भ कर दिया। मनोविश्लेषणवादी उपन्यासकारों ने मूल आदिम प्रवृत्तियों को अभिव्यक्ति दी, जो समाजशास्त्रीय दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। नारी को भी अब आदर्श के बन्दीगृह में स्थापित रखने की अपेक्षा उसके मनोभावों को समझने तथा उसके वैयक्तिक विचारों को महत्व दिया जाने लगा। नारी के परम्परागत सती रूप तथा उसकी दैहिक पवित्रता की कसौटी शिथिल होने लगी है। नारी सम्बन्धी यौन-प्रतिबंध के बन्धन ढीले पड़ने जा रहे हैं। नारी की पवित्रता का माप केवल उसकी यौन सम्बन्धी पवित्रता पर ही नहीं है, बल्कि हृदय की ही पवित्रता उसकी वास्तविक पवित्रता है।[7] आधुनिक उपन्यासकार पत्नी की पति-भक्ति के पीछे आर्थिक निर्भरता मानते हैं, न कि स्वार्थ जैसा ''आर्थिक असुरक्षा के भय से वह पतिव्रत धर्म का दृढ़ता से पालन करती है।''[8]

उन्नीसवीं शताब्दी में विज्ञान ने मानव के जीवन मूल्यों को बदल दिया, बौद्धिकता और तर्क की कसौटी पर परम्परागत मूल्यों को परखा जाने लगा, वैज्ञानिक आविष्कारों ने धार्मिक अंधविश्वासों पर गहरा प्रहार किया। पहले उपन्यासकारों के चिन्तन की आधार भूमि समाज था, बाद में व्यक्ति को धीरे-धीरे प्रमुखता दी जाने लगी। वे व्यक्ति के चेतन-अवचेतन मन में प्रविष्ट होकर उसकी जटिल ग्रन्थियों को सुलझाने का प्रयास करने लगे। मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार नारी के अन्तर्मन को जानने का प्रयास करने लगे तथा उसकी दमित कुं... प्रवृत्तियों को जानने का प्रयत्न करने लगे और उनके कारण खोजने

विसंगतियों को चित्रित करने लगे। समाजशास्त्रीय आधार पर नारी की परिवर्तित स्थिति को स्पष्ट किया जाने लगा। फ्रायड, एडलर, युंग से प्रभावित उपन्यासकारों ने मनुष्य के अन्तर्मन के अव्यक्त पक्षों का उद्‌घाटन किया। इसमें अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी तथा अश्क प्रमुख हैं। डा० रामदरश मिश्र के अनुसार—"मनुष्य मूलतः वह नहीं है, जो ऊपर-ऊपर सतह पर दिखता है। बल्कि वह है जो अपने भीतर अनभिव्यक्त रूप से छिपा हुआ है। उसका जितना अंश बाहर दीखता है वह भी चेतन की उपज नहीं है।"[९] मनोविश्लेषणवाद ने जीवन-सत्यों और मूल्यों के बारे में नए सिरे से सोचने को बाध्य किया।"[१०]

सामाजिक दृष्टि से यह एक नवीन परिवर्तन था, जिसमें इन मनोविश्लेषणवादी उपन्यासकारों ने, मानव जीवन की मूल प्रवृत्तियों का यथार्थ अंकन किया तथा दमित कुण्ठाओं, अतृप्त वासनाओं को अभिव्यक्ति दी। "समाज के माध्यम से व्यक्ति को देखने की अपेक्षा समस्त चेतना का संचालन व्यक्ति में प्रतिष्ठित हो गया।"[११] उपन्यासकार मानव-मन को समझने परखने लगे। मनुष्य की मूल प्रवृत्तियों को महत्व दिया जाने लगा। इसके पूर्व नर नारी के आकर्षण को सहज रूप से नहीं स्वीकारा जाता था, वह प्रेम पर आदर्श का खोल चढ़ाए रहते थे। आधुनिक उपन्यासकारों ने नर-नारी के सम्बन्धों में उदार दृष्टिकोण अपनाया। नारी का पर-पुरुष से सम्बन्ध वे निन्दनीय नहीं मानते। क्योंकि वे मानते हैं कि नारी अवचेतन मन से संचालित होकर ही ऐसे सम्बन्धों को मान्यता देती है। ऐसी नारियों को वे पश्चाताप की अग्नि में जलाकर आत्मघात के लिए बाध्य नहीं करते। पति-पत्नी के मध्य विसंगतियों की खाई को जानने के लिए वे अवचेतन तथा अचेतन मन की गहनता तक पहुँचते हैं। पहले विवाह अल्पायु में हो जाते थे। उस कच्ची उम्र में नारी के चेतन तथा अचेतन मन में यह संस्कार डाल दिया जाता था कि पति परमेश्वर है। इसलिए हृदय की सम्पूर्ण भक्ति उसे ही अर्पित करनी है चाहे वह मान्य हो या न हो। परन्तु, शिक्षित नारी की अब पति के लिए अपनी कल्पना है, वह अपने कल्पना पुरुष को अपने दृष्टिकोण से देखती है। यही कारण है कि सदियों से सम्पत्ति की तरह नारी को अधिकार वस्तु मानने वाला पुरुष नारी के सह-अस्तित्व को सह नहीं पाता। विभिन्न विचारधाराओं में विकसित व्यक्तियों में यदि सामंजस्य करने की प्रवृत्ति का अभाव है तो सदा की टकराहट उन्हें तोड़ देती है। अतः वैवाहिक जीवन के असन्तोष ने इस संस्था के प्रति विद्रोही भाव जाग्रत किया।

पूर्ववर्ती उपन्यासों में नारी की इच्छाएँ, आकांक्षाएं, समाज, धर्म, परिवार के नाम पर बलि चढ़ा दी जाती थी। वह इनके भय से अपनी भावनाओं का दमन

कर दिया करती थी, परन्तु आधुनिक उपन्यासकारों ने नारी मन की ग्रन्थियों को खोलने का प्रयास किया तथा दमित आकांक्षाओं के कारण उसके नैराश्य से बोझिल मानस का विश्लेषण करने का प्रयास किया, असाधारण व्यवहार की संचालिका, परोक्ष मनोवृत्ति को जानने का प्रयास किया। प्रेम और यौन तृप्ति करना मानव का अधिकार है। स्त्री पुरुष का आकर्षण प्राकृतिक है। स्त्री की ओर पुरुष आकर्षित होता है। मानो उसके जीवन में कोई कमी है, जिसे वह स्त्री में पूर्ण करना चाहता है।"[१२]

फ्रायडीय विचारधारा से प्रभावित उपन्यासकारों ने आपसी सम्बन्धों में यौन प्रवृत्ति को प्रमुखता दी। 'शेखर : एक जीवनी' में अपनी "मौसेरी बहिन शशि के प्रति आकर्षण तथा अपनी सगी बहिन के प्रति भी सुप्त आकर्षण, यौन आकर्षण को ही निरूपित करता है।"[१३] क्योंकि फ्रायड यह मानता है कि विपरीत लिंगी परस्पर आकर्षित होते हैं। फ्रायड जीवन के विविध व्यापारों के मूल में काम-भावना को निहित मानता है, परन्तु हिन्दी के कुछ फ्रायडीय विचारधारा से प्रभावित उपन्यासकारों ने यौन-व्यापार को ही काम-भावना की अभिव्यक्ति मान लिया है। यशपाल के 'मनुष्य के रूप' तथा अश्क के 'गर्म राख' उपन्यास में वासना के उन्मादी क्षणों की लोलुप चेष्टाओं, रुग्ण भावनाओं की अभिव्यक्ति है। मनो-विश्लेषण उपन्यासकारों ने स्वप्न को भी दमित वासनाओं की अभिव्यक्ति का माध्यम माना है, जो फ्रायड की देन है। दोहरे संघर्षमय जीवन जीने वाले पात्रों के मन का उद्घाटन स्वप्न के माध्यम से किया गया है। असामाजिक दमित इच्छाएं स्वप्न के माध्यम से प्रकट होती हैं, जैसे सर्वेश्वरदयाल सक्सेना के 'सोया हुआ जल' उपन्यास में पत्नी का चेतन मन उसे पति के प्रति एकनिष्ठ बनाए हुए है, परन्तु अवचेतन मन पूर्व प्रेमी में भटकता रहता है। मानव मन की अतृप्त आकांक्षाओं की पूर्ति स्वप्न में करता है। सुखदा में जैनेन्द्र ने स्वप्न के द्वारा सुखदा के मानसिक उहापोह को व्यक्त किया है। इलाचन्द्र जोशी भी स्वप्न को मानव-मन की अभिव्यक्ति का माध्यम मानते हैं।

"मनोविज्ञान से प्रभावित हिन्दी के सामाजिक उपन्यासकारों में जैनेन्द्र, अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी, यशपाल, अश्क आदि प्रमुख हैं। इन्होंने यौन-भावना को सहज, मुक्त और स्वाभाविक बनाकर उसे वर्जित क्षेत्र से बाहर निकाल कर उपन्यासों का महत्त्वपूर्ण विषय बना दिया है।"[१४] यौन-भावना का वर्णन पहले अश्लील माना जाता था, परन्तु आज उसकी सहज अभिव्यक्ति अपेक्षित है। हाँ, सायास चित्रण नहीं होना चाहिए। जैनेन्द्र सर्वप्रथम उपन्यासकार हैं जिन्होंने नारी के अन्तर्मन का विश्लेषण किया है : 'सुनीता', 'सुखदा', 'विवर्त', 'व्यतीत'

'जयवर्धन' में नारी की अतृप्त काम वासनाओं को आधार बनाकर अवचेतन मन की ग्रन्थियों का उद्घाटन किया है। यौन-संबंधों की यह परिकल्पना पूर्ववर्ती उपन्यासों में नहीं पाई जाती। 'शेखर : एक जीवनी', 'नदी के द्वीप' तथा 'अपने अपने अजनबी' में भी अन्तर्मन के साथ काम भावनाओं का चित्रण है।

यशपाल के 'दादा कामरेड' तथा 'देशद्रोही' में यौन सम्बन्धों का निःसंकोच चित्रण है। अश्क के 'गिरती दीवारें' का चेतन आर्थिक विषमता तथा काम-कुण्ठा से पीड़ित है। 'गर्म राख' में भी अतृप्त वासनाओं का उद्घाटन है। इलाचन्द्र जोशी ने भी कामजन्य कुंठाओं और मानसिक विकृतियों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने के लिए अचेतन में गहरी पैठ का परिचय दिया है। आज कल यौन सम्बन्धों में समाज सापेक्ष नैतिकता के स्थान पर मानव की आदिम भावना, सेक्स तथा उसकी अनुभूतियों का अंकन किया जाने लगा है। राघवेन्द्र मिश्र के 'पानी बिच मीन प्यासी' में यौन प्रवृत्तियों के बिखरे-बिखरे चित्र उभारे गये हैं। "सेक्स मनुष्य की आदिम भावना है। मानवीय सृजन यहीं से प्रारम्भ हुआ था। कभी-कभी कोई पुरुष व नारी शायद घनीभूत असिमित आतीय अनुभूतियों की चपेट में इस ओर अग्रसर होते हैं। सामाजिक दृष्टि से नहीं, भावना की दृष्टि से। ऐसी मनःस्थिति में भावनाओं का अपक्व अनुभव होता है। निर्विकार वासना का 'प्योरेशन' का रस मिलता है।"[१५] नारी ही एकनिष्ठ बनी रहे, ऐसा दृष्टिकोण आजकल लेखकों का नहीं रहा, इसे वे दकियानूसी मानते हैं।

राजकमल चौधरी की 'मछली मरी हुई' में शीरी का जो रेस्तरां में गाने वाली औरत है, मिस्टर मेहता से विवाह हो जाता है। उसमें कुलीनता, शालीनता का अभाव है। सौन्दर्य और यौवन को स्थायी बनाए रखने के अतिरिक्त उसके जीवन का कोई उद्देश्य नहीं है। उसे आत्मिक सौन्दर्य और आदेशों के प्रति मोह नहीं। वृद्धावस्था में मिस्टर मेहता को छोड़कर निर्मल पदमावत के पास चली जाती है। वह जीवन में वर्तमान को महत्व देती है। "पहले अंधेरा था फिर अंधेरा होगा। अभी अगर रोशनी की हल्की सी भी किरण बाकी है तो वह भी जी लो।"[१६] यौन तृप्ति ही मुख्य है, ऐसी आधुनिकाओं के लिए। प्रत्येक क्षण को भोगने वाले भौतिकवादी दृष्टिकोण के कारण नैतिकता के पूर्ववर्ती दृष्टिकोण खंडित हो रहे हैं।

'दो एकान्त' में नरेश मेहता ने ऐसे पति-पत्नी का अंकन किया है, जो अपने एकाकी जीवन का भार ढो रहे हैं। वानीरा, विवेक को अपने से पृथक् पाती है जो सदा अपने व्यवसाय में ही मस्त रहता है, तो टूट जाती है। वह अनुभव करती है—"एक अगम्य सिन्धु हमारे दो एकान्तों के बीच आ खड़ा हुआ

है।"[१७] वह इस शून्यता से ऊब जाती है और मिस्टर बलाइड, फिर आनन्द के सम्पर्क में आती है। विवेक जानता है कि वानीरा उससे असम्पृक्त है। फिर भी, सामाजिक दृष्टि से उसे ग्रहण किए रहता है। जब गर्भवती वानीरा को आनन्द छोड़कर चला जाता है, वह (विवेक) अपने में एक मसीहा भाव लिए हुए है, परन्तु वानीरा ने ऐसी दया-कृपा की कभी चाहना नही की। वह कहती है—"मैंने कभी नही चाहा कि बहुमूल्य शीशा जो टूट गया है परन्तु फ्रेम में जड़े होने के कारण बिखर नहीं जाता उसे फेंका न जाए। वह जीवन के खालीपन शून्यता से ऊब गई है, उसे मिटाना चाहती है। संस्कारों का उसमें आग्रह नहीं है, इसी से वह विवेक के प्रति समर्पित बना नही रहना चाहती। पतिव्रत धर्म के प्रति पूर्वनिष्ठा समाप्त हो रही है, स्वार्थ, सुख की भावना प्रबल हो रही है, क्योंकि सदियों से पुरुष की प्रताड़ना की शिकार नारी पुरुष से ऐसे व्यवहार की कामना करती है, जो वो पुरुष आपस में देते हैं।"[१८]

आधुनिक उपन्यासों में दाम्पत्य जीवन को स्थायित्व देने वाले तत्वों का अभाव पाया जाता है, क्योंकि विवाह को आज सामन्ती युग की भाँति सामाजिक संस्था के रूप में वह मान्यता नहीं दी जाती, क्योंकि आधुनिक व्यक्तिवादी युग में व्यक्ति प्रमुख है। वह सामाजिक नैतिकता में अपने को आबद्ध करके रखना नही चाहता। उसके एकान्त जीवन में गतिरोध पैदा करने वाली मान्यताओं का उग्र विरोध करता है। इसी का चित्रण अज्ञेय जी ने 'नदी के द्वीप' में किया है। "स्त्री-पुरुष संबंधों के विषय में समाज की खोखली, मिथ्या मान्यताओं के प्रति व्यक्ति के तीखे विद्रोह को व्यक्त किया गया है।"[१९] रेखा पति से संबंध-विच्छेद कर लेती है। वह शालीन, भावुक, शिष्ट नारी है और पति उसे क्षुधापूर्ति का साधन मानता है। ऐसे व्यक्ति से वह विलग हो जाती है। भुवन के निकट आती है। उसमें अपनी आकांक्षाओं की पूर्ति देखती है, परन्तु उससे विवाह न करके डा० रमेश से करती है, फिर भी प्रेम भुवन से ही करती है। रेखा के लिए यह श्रीमतीत्व या किसी की पत्नी होना कोई महत्व नही रखता, वह तो समाज का आरोपित बन्धन है। इसलिए श्रीमती हेमेन्द्र कहलाना या श्रीमती रमेशचन्द्र कहलाना बेमानी है। उसके लिए इनका कोई महत्व नही। वह भुवन को लिखती है—"मैं इतना ही सोच पाती हूँ कि मेरे लिए यह समूचा श्रीमतीत्व मिथ्या है कि मैं तुम्हारी हूँ केवल तुम्हारी ही हुई हूँ और किसी की कभी नहीं, न कभी हो सकूँगी।"[२०] वह ग्लानि अनुभव नही करती, न ही सामाजिक वर्जनाओं से संत्रस्त है। यौन संबंधों का नवीनीकरण युगीन विशेषता है। यहाँ सामाजिक आग्रहों से मानव अपने को बाध्य नहीं करना चाहता।

अमृतलाल नागर के उपन्यास 'अमृत और विष' की मिसेज मायुर का मत है—"औरत-मर्द का मिलना एक शारीरिक जरूरत है। भूख की तरह सेक्सुअल पर्ज (कामेच्छा) भी एक कुदरती और शारीरिक जरूरत है, और उसे पूरा ही करना चाहिये।"[२१] मायुर से ऊब जाने पर लच्छू से प्रेम का स्वांग करती है, और अन्त में मिस्टर तलवार से विवाह कर लेती है। यौन आक्रान्त नारी उसकी पूर्ति में सामाजिक औचित्य को नहीं स्वीकारती। आधुनिक काल में यौन पवित्रता के बन्धन ढीले पड़ गए हैं। गिरिराज किशोर के 'चिड़ियाघर' की मिसेज रिजवी उन्मुक्त जीवन जीना चाहती है और अशिक्षित पति लतीफ मियां को इच्छानुसार नचाती है।"[२२] वह स्त्री-पुरुष में नैतिकता-अनैतिकता के विभेद को नष्ट कर देना चाहती है। वह अपना काम निकाल लेने के लिए किसी के समक्ष भी समर्पण कर सकती है। अनेक पुरुषों से संबंध रखना वह प्रगतिशीलता मानती है, इस प्रकार की स्त्री के लिए समाज, धर्म, ईश्वर कोई भी बाधक नहीं हो सकता। पति-पत्नी के स्थापित मूल्यों में विघटन हो रहा है। लोगों ने एक साथ अनेक रूपों में जीना सीख लिया है। बाह्य और आन्तरिक जीवन के बीच आज जितना फासला है उतना शायद उससे पूर्व कभी नहीं रहा।

हिन्दी उपन्यास साहित्य में नैतिकता के प्रति पश्चिम से प्रभावित नवीन दृष्टिकोण भी आजकल परिलक्षित होता है, जिसमें शरीर की अपेक्षा मन की पवित्रता पर अधिक बल दिया जाने लगा है। इसीलिए 'झूठा-सच' में जहाँ विभाजन की विभीषिका की शिकार तारा से मुसलमान बलात्कार करता है वहीं डा० प्राणनाथ तारा से विवाह कर लेता है। यद्यपि उसे ज्ञात है कि तारा विवाहित है। 'सागर लहरें और मनुष्य' की गर्भवती रत्ना को डा० पाडुरंग स्वीकार कर लेता है। नैतिकता की कसौटी शारीरिक अथवा भौतिक कर्म की पवित्रता नहीं, अपितु भावना और विचारों की पवित्रता है।[२३] प्राचीन नैतिक मूल्यों के नष्ट होने से नवीन मूल्यों का विकास हुआ है, जिसमें स्त्री-पुरुषों के संबंधों में उदारतावादी दृष्टिकोण अपनाया जाने लगा है। यौन-स्खलित व्यक्ति के प्रति भी संवेदनशील दृष्टिकोण अपनाया जाने लगा है। जैसे लक्ष्मीनारायण लाल के उपन्यास 'रूपजीवा' की रूपा वह सामाजिक दृष्टि से धर्मच्युत है, अपवित्र है, परन्तु समाजशास्त्रीय और मानवीय दृष्टिकोण से सहानुभूति की पात्र है। वह पश्चाताप की अग्नि में स्वयं को जला रही है। लेखक के अनुसार "ईश्वर ने मानव को पवित्र और अच्युत बनाया है, यह समाज है जो हमें अपवित्र और च्युत करता है।"[२४] इसलिए शरीर से अपवित्र रूपा वह मन से पवित्र है। शरद के 'श्रीकान्त' की राजलक्ष्मी में मन की पवित्रता का श्रेष्ठ स्वरूप है।

प्रारंभ से भारतीय संस्कृति की मान्यता रही है कि शारीरिक यौन-तृप्ति के लिए यौन-व्यापार सामाजिक दृष्टि से घृणित तथा वर्जनीय है, इसीलिए विवाह का सामाजिक पक्ष प्रबल रहा, जिसमें विवाह का ध्येय धर्म, प्रजनन तथा रति माना है।"[२५] परन्तु मनोविश्लेषण और साम्यवाद के प्रभाव के कारण स्त्री-पुरुष के आकर्षण को स्वाभाविक माना जाने लगा। नारी भी अपनी काम-भावनाओं से उसी प्रकार प्रेरित होकर आकर्षित होती है जैसे पुरुष। युगीन उपन्यासकार इसी का चित्रण करने लगे हैं। स्वच्छन्द प्रेम, यौन-सम्बन्ध और रति चित्रण की साहित्य में अभिव्यक्ति होने लगी है। कलाकार को मानवीय सहानुभूति के साथ मनुष्य की शक्ति एवं दुर्बलता को देखना चाहिए। उदयशंकर भट्ट के 'सागर लहरें और मनुष्य' उपन्यास में पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर यौन-संबंधों का वर्णन है। वंशी का पति के अतिरिक्त आनला से सम्बन्ध है। दुर्गा की माँ का अपने दामाद से शारीरिक संबंध है—"रत्ना को यौन सम्बन्धी छूट उसे जातीय संस्कार के रूप में मिली है।"[२६] बम्बई का वैभव उसे अपनी ओर आकर्षित करता है। माणिक के वाक्जाल में उलझ कर उससे विवाह कर लेती है, परन्तु उससे उसे हताशा ही मिलती है। वीरूवाला में आकांक्षाओं की पूर्ति की आशा से उससे संबंध स्थापित करती है, वहाँ भी निराशा ही मिलती है। फिर नर्स बन जाती है और डाक्टर से अन्त में विवाह करती है। मछलीमारों में स्त्रियों का भी जीविका कमाने में योगदान है इसलिए उनका महत्वपूर्ण स्थान है।

'कब तक पुकारूं' उपन्यास में रांगेय राघव ने नटों की करनट उपजाति में पाई जाने वाली यौन स्वच्छन्दता का चित्रण किया है। अपनी भूमिका में वे लिखते हैं—मैंने उनकी नैतिकता को समाज का आदर्श बनाकर प्रस्तुत नहीं किया। पाठकों को समाज का आदर्श बनाकर प्रस्तुत नहीं किया। बल्कि पाठकों को उसमें देवल की ऐसी जानकारी के रूप में हासिल करना चाहिए कि यह इनमें होता है। यह सारा खानाबदोश समाज घोर उत्पीड़ित है, शोषित है, न इनके ये सामाजिक नियम शाश्वत हैं, न हमारी नैतिकता के बन्धन ही शाश्वत हैं।"[२७] उपन्यास में प्यारी सुखराम से प्रेम करती है, सिपाही की रखैल होने पर भी कोई पाप नहीं मानती—"नाता जोड़ना और बात है, मन की होकर रहना और बात है।"[२८] अपने को सदा सुखराम की ही मानती है क्योंकि तन जरूर बटा है उसका मन नहीं। कजरी भी अपने पति से विमुख होकर सुखराम के पास आ जाती है और प्यारी को भी सिपाही के घर से निकाल लाती है। बहु पत्नी प्रथा भी इनकी जातीय विशेषता है।

आधुनिक उपन्यासों में यौन-सम्बन्धों का कहीं-कहीं उन्मुक्त वर्णन होने के कारण स्वस्थ चित्रण नहीं हो पाता है। नर-नारी के आपसी सम्बन्धों में अन्तर-

विरोधी विचारधारा पाई जाती है। एक ओर तो सामाजिक राजनीतिक जीवन में संघर्षरत नारी को पुरुष के समकक्ष माना जाता है, दूसरी ओर उसे मात्र भोगनीया। वहाँ विकृतियाँ ही उभरकर सामने आती हैं। नारी को खुली हवा में सांस लेने का अधिकार है, वह उपेक्षिता नहीं, उसकी मान-प्रतिष्ठा को स्वीकारा जाना आवश्यक है। उसका केवल वासनापरक चित्रण उसके समस्त सामाजिक स्वरूप पर आघात होगा। डा० सत्येन्द्र के अनुसार– "नारी में नये प्राण आज तक भी नहीं डाले जा सके। वह अधिकाधिक योनिमात्र होती चली गई है।"[२१]

साठोत्तरी उपन्यासों में सेक्स की अनुभूति खुलती गई है। सेक्स की अनुभूति जहाँ 'गोदान' में मेहता-मालती चुम्बन तक सीमित थी 'अंधेरे बन्द कमरे', 'एक पति के नोट्स', 'दूसरी बार', 'यात्राएं', 'बेघर', 'सफेद मेमने', 'सूरजमुखी अंधेरे के', 'मुर्गीखाना' में संभोग की स्थिति तक पहुँच गई है। स्त्री-पुरुष सम्बन्धों में जो नैतिक ह्रास आता जा रहा है उसका चित्रण इन उपन्यासों में हुआ है।

एक प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है, लेखक का अनुभव क्या है ? अस्तित्व की किसी स्थिति में वह अन्दर ही अन्दर क्या महसूस करता है ? इन प्रश्नों का उत्तर आधुनिक जीवन-संदर्भों में ही खोजा जा सकता है। हमारा युग मानव संकट का युग है, जिसमें मशीन बनाकर आदमी स्वयं मशीन की चपेट में आ गया है। विघटन की राह से वह ऐसी पंगु स्थिति से गुजर रहा है, जहाँ संत्रास, पीड़ा, सम्बन्धहीनता, आत्मनिर्वासन उसकी नियति बन गये हैं। कभी ख्यालों या आदर्शों की दुनिया आदमी को बहलाने के लिए काफी थी, किन्तु आज व्यवहारिक जीवन का यथार्थ अस्तित्व की दारुण पीड़ा के बीच उसे सवालों के जंगल में भटका देता है, इसीलिए लेखक के सामने आज कुछ बुनियादी सवाल महत्त्वपूर्ण हो गये हैं। आज नई परिस्थितियों ने ऐसे कुछ नये अनुभव दे डाले हैं, वे हमारे अस्तित्व की पीड़ा, संत्रास, अलगाव, निजता की खोज, संघर्ष, स्वाधीनता, स्त्री-पुरुष सम्बन्ध और शाश्वत अनुभव हैं और इन अनुभवों के बीच मनुष्य अपने स्वत्व की खोज में अन्ततः स्वयं अपने लिए एक बहुत बड़ा सवाल बन गया है।

आदमी के अस्तित्व के संकट में आज परिवेश का बहुत बड़ा हाथ हो गया है। जीवन सत्य है, और जीवन का सत्य इस बात में है कि वह सदा एक ऐसे परिवेश में रहता है जो उसे अनचाहे ही मिला है। आत्मपरक स्थिति और परिवेश की स्वीकृति, इन दो आयामों पर ही मनुष्य का जीवन निर्भर करता है। मनुष्य जीवन नहीं, मनुष्य और उसके परिवेश के बीच जो कुछ घटता है, वही जीवन है। मनुष्य और उसके परिवेश के बीच का यह संबंध ही भावना, विचार, स्थिति, समस्या और संकट को जन्म देता है, जिनसे वह चारों ओर अपने को घिरा पाता

है। ऐसी स्थिति में संघर्ष अनिवार्यता बन जाता है, जिसमें मनुष्य की अपनी निजता की तलाश महत्त्वपूर्ण हो जाती है। आज के उपन्यासों में व्यक्ति और परिवेश के इसी द्वन्द्व का यथार्थ अंकन हुआ है। आज के उपन्यासों में परिवेश इस दृष्टि से सक्रिय है कि आज के युग में व्यक्ति के ऊपर सामूहिक परिवेश का बहुत बड़ा दबाव है — समूह, संगठन, व्यवस्था का जिससे उसकी वैयक्तिकता के लिए बड़ा खतरा उठ खड़ा हुआ है। आज के उपन्यास को इसी भूमिका के विरुद्ध व्यक्ति को स्थापित करते हैं पर व्यक्ति परिवेश के नीचे दबने लगता है। यही आंतरिक और बाह्य जीवन-स्थितियों में परस्पर विरोध पैदा करता है। एक ओर स्थापित मूल्यों और यान्त्रिक वस्तुओं से निर्मित परिवेश है, दूसरी ओर व्यक्ति की अपनी स्वतंत्रता और मानवीय चेतना है। मनुष्य को एक ओर बाह्य परिवेश का मुकाबला करना पड़ता है, दूसरी ओर उसे अपना भी सामना करना पड़ता है। दोनों चीजें मिलाकर परिस्थितियाँ बन जाती हैं। आज के औपन्यासिक चरित्र उन्हीं परिस्थितियों में खड़े हैं।

किन्तु परिवेश में रहना, टकराना या टूटना ही जीवन के लिए काफी नहीं होता। एक स्थिति मोह भंग की भी आती है। अपने ही अन्दर भावनाओं का एक अहसास इस आंतरिक उपेक्षा को भी जन्म देता है कि वह अपने अन्दर जो हो रहा है—उसको पहचाने, यह पहचान जीवन में 'अन्य' के माध्यम से होती है। इस 'अन्य' में परिस्थितियाँ भी शामिल हैं। अंध शक्तियों के बीच में जूझता हुआ आदमी कभी विभाजित हो जाता है। वे एक ऐसे सीमांत पर पहुँचता है, जहाँ पहुँचकर न उससे आगे जाना संभव है, न पीछे लौटना।

असुरक्षा की भाँति अलगाव आज के उपन्यासों [redacted] चरित्रों में मुख्य है। सभी चरित्र इस नियति को भोगते हैं। अलगाव और अकेलापन चरित्रों के प्रमुख अंग बन जाते हैं। वे उबरने के लिए उसका आश्रय लेते हैं, पर वरण करते ही उसकी विडम्बना में फँस जाते हैं। जिनके सामने वरण की संभावनाएं चुक गई हैं, वे भी उससे मुक्त नहीं क्योंकि वरण न कर पाना भी अप्रत्यक्ष रूप से वरण करना ही है। वह भी एक प्रकार से नास्तिभाव को ही अपनाना है। सबसे बड़ी बात यह है कि सही वरण, उस स्थिति में संभव नहीं जब व्यक्ति 'असत् आस्था' से ग्रस्त हो।

आज के उपन्यासकार यह मानकर चलते हैं कि मनुष्य अपनी इच्छा कर्म और वरण के माध्यम से अपने को निरंतर बनाता जाता है। व्यक्ति को हर आगामी 'कल' बदल देता है। व्यक्ति को अपना वरण आप करना होता है। अपनी दिशा आप निर्धारित करनी होती है और उसका दायित्व भी स्वयं ही ग्रहण करना पड़ता है। यहीं आत्म साक्षात्कार का क्षण आता है। किन्तु, आत्म साक्षात्कार का क्षण आसानी से नहीं आता। संत्रास, भय, पीड़ा, असुरक्षा की भावना, व

तनाव, अकेलापन, संबंध हीनता अनेक स्थितियों से गुजरने के बाद ही कभी वह क्षण आता है।

आज के औपन्यासिक चरित्रों में जीवन की जो अवधारणा की गई है, वह न रोमानी है, न आदर्शवादी। उसकी दृष्टि ने मानव की नियति के उस कटु यथार्थ को पकड़ा है जिसने उसकी बरसों पुरानी प्रतिमा को भंग कर डाला है। आज मानव अस्तित्व और अनस्तित्व के बीच भयंकर यंत्रणा भोग रहा है। मोहन राकेश के औपन्यासिक पात्र उसका चित्र उपस्थित करते हैं। संत्रास, पीड़ा, टूटन, संबंध हीनता, अजनबीपन, अलगाव की स्थितियों के बीच उन्होंने मानव जीवन की तलाश की है। इस तलाश पर यत्र-तत्र अस्तित्ववादी दृष्टि की छाप है। किन्तु राकेश की महानता इस बात में है कि वे दर्शन को मनोवैज्ञानिक आयाम प्रदान कर यह अहसास नहीं होने देते कि वे कहीं दर्शन को ऊपर से आरोपित कर रहे हैं। जहाँ भी वे अस्तित्ववादी दर्शन को टिकाने का प्रयास करते हैं, वहाँ पर्याप्त मनोवैज्ञानिक पृष्ठ-भूमि बना देते हैं।

आज के उपन्यास को व्यक्ति-जीवन-दृष्टि भी कम महत्वपूर्ण नहीं रही है। उसकी रचनाएं आत्माभिव्यक्ति के साधन भी हैं। यह आत्माभिव्यक्ति उनकी रचनाओं पर हावी हो गयी है। उनकी रचनाओं में एक सर्वसामान्य तत्व की खोज की जाय तो दो बातें विशेष रूप से उभर कर आती हैं—एक घर की तलाश, दूसरी स्त्री-पुरुष का आपसी संबंध। ये दो अलग-अलग समस्याएं न होकर एक ही समस्या के दो पहलू हैं। वस्तुतः घर की तलाश भी और कुछ नहीं स्त्री-पुरुष के आपसी संबंधों की तलाश ही है। घर की तलाश व्यक्ति के स्वत्व की खोज का अंग है। मोहन राकेश के चरित्र एक प्रकार की असत् आस्था के शिकार होते हैं, जिससे वे ऐसा वरण करते मिलते हैं जिसकी ओर उनकी सहज प्रवृत्ति नहीं दिखाई देती। यह वरण उन्हें एक ऐसी भटकाव वाली जीवन डगर पर ले जाती है जहाँ उनके चरण ठीक से नहीं पड़ते। फलतः इस डगर पर वे अपने स्वत्व से दूर पड़ जाते हैं, और वे ऊब थकान अलगाव, पीड़ा और निराशा से इतने टूट जाते हैं, कि या तो फिर अपने को दूसरा आदमी महसूस करने लगते हैं या वे स्वयं दूसरे आदमी लगने लगते हैं। व्यक्ति की असहाय स्थिति, निरर्थकता का अहसास, परिस्थिति का अपने अनुकूल न बना सकने की विवशता, द्वन्द्व तथा आत्मबोध भी उनके चरित्रों को घर लौटा लाने में सहायक होता है। घर की इस भावना का आधार वैवाहिक संबंध और दाम्पत्य प्रेम है। यह प्रेम जब व्यक्ति को वस्तु बना डालता है, तो नारी का अधिकार भाव और पुरुष की स्वतंत्रता उन्हें (स्त्री-पुरुष) जड़ बना डालती है। स्त्री-पुरुष के पारस्परिक प्रेम की यह विडम्बना घर को घर और व्यक्ति को व्यक्ति नहीं रहने देती,

जिससे संघर्ष अनिवार्य हो जाता है। इस संघर्ष का एक कारण यह भी है कि घर-बार और प्रेम का अर्थ स्त्री-पुरुष के लिए एक सा नहीं होता। आज के उपन्यास स्त्री-पुरुष के संबंधों में युद्ध जैसा स्थिति को स्वीकार करके चलते है, जिससे परम्परागत आदर्श घर, परिवार और पत्नी का बिंब ठहर जाता है।

आज के उपन्यासकार ने जीवन के संदर्भ में एक तथ्य को बड़ी मजबूती से पकड़ा है। वह मनुष्य का अधूरापन जिसको वे अपनी प्रत्येक रचना में उठाते हैं। साठोत्तरी उपन्यासों के मूल में अधूरेपन की विसंगति ही है जहाँ से वे शुरू होते हैं, और जहाँ पर खत्म हो जाते हैं। वे मानव के विघटन को तो उजागर करते हैं पर उसे उर्ध्वमुखी विराट् चेतना के अहसास से वंचित करते हैं। मनुष्य को उसकी पार्थिवकता और सीमाओं में देखना ही काफी नहीं है. इस संभावना के बीच भी उसे देखना जरूरी है कि वह पार्थिव जीवन और अति मानसिक सत्ता के बीच का सेतु भी बन सकता है। मानव की उस आस-आकांक्षा को नकारते हैं, और इसीलिए उस आंतरिक दीप्ति को नहीं जगा पाते जो तनाव नास्तिभाव और निराशा के बीच भी बनी रहती है। राकेश के चरित्र आकुलता जरूर दिखाते हैं पर वे इतने पस्त, निकम्मे और अशक्त लगते हैं कि कुछ कर गुजरने या आंतरिक शक्ति जगाने का माद्दा उनमें कहीं दिखाई ही नहीं देता।

तब सवाल उठता है कि जो आज के उपन्यासकार प्रस्तुत करते हैं, वह चित्र वास्तव में किस आदमी का है? क्या यही दिशाहीन, थका, हिम्मत पस्त, टूटा आदमी ही आज की मानवता का प्रतिनिधि है? क्या यह पराजय में सार्थकता ढूंढने जैसा प्रयास नहीं है? क्या यह मोह की स्थिति नहीं है, कि आदमी अपने को आक्रांत, अभिशप्त और निर्वीर्य समझकर चुप बैठ जायं? ये प्रश्न किसी समय (१९६७ मे) स्वयं राकेश ने समकालीनता के संदर्भ मे उठाये थे, और तब उन्हें लगा था कि साहित्यिक अस्वीकार और जीवन के वास्तविक अस्वीकार में बहुत बड़ी खाई विद्यमान है। हमारा साहित्यिक उतना अपने आस-पास के आज की परिस्थितियों का प्रतिफलन नहीं है जितना युद्धोत्तर काल की उन देशों की परिस्थिति का, जहाँ युद्ध की वास्तविक तोड़-फोड़ ने बीस साल पहले उस पस्ती, बीमारी, नपुंसकता, निरर्थकता और बुढ़ापे की मानसिकता को जन्म दिया था। ···· परन्तु पिछले वर्षों में उन देशों का जीवन भी उस स्थिति से आगे निकल आया है। आज के संवेदनों को न तो युद्धोत्तर काल के हारर साहित्य के आधार पर आंका जा सकता है और न युद्ध और विभाजन ग्रस्त व्यक्ति मानस के भीतर अतीत विरह के आधार पर। इस बीच यदि कुछ नए संबंध सूत्रों ने जन्म न लिया होता तो आज के अस्वीकार में वह सामूहिकता और सहभावना न होती जो आज के साहित्य को नई शक्ति का रूप दे रही है। यह अपने अकेलेपन में आत्महत्या की बात सोचने वाली पीढ़ी नहीं है·········यह पीढ़ी मजबूरी के वक्तव्य देने वाली पीढ़ी भी नहीं।

आज के उपन्यास में लघु मानव का बहुत ही निराशजनक बिम्ब उभरता है। उसके पक्ष में एक ही बात कही जा सकती है, कि वे उपन्यास के साथ ही जीवन का अन्त नहीं मानते। वास्तव में जहाँ उपन्यास समाप्त होता है, वहाँ जीवन का वास्तविक प्रारम्भ होता है। वे उपन्यास को उस बिन्दु पर पहुँचाकर छोड़ देते हैं जो व्याकुलता का महत्त्वपूर्ण क्षण होता है। जीवन की सही दिशा को खोजने के लिए व्याकुलता ही वास्तविक प्रारम्भ है। इसीलिए उसको ध्वनित करने के बावजूद भी अपने सन्देह में वे अधूरे रह जाते हैं। पात्र अपने लिए एक नई दिशा की खोज करेगा—इस सम्भावना के बावजूद वर्तमान में वह (पात्र) जिस बिन्दु पर खड़ा दिखाई देता है, वह अनास्था और विफलता का बिन्दु है। नियति को किसी तरह झेल भर लेने की विवशता के इस बिन्दु पर वह अपने को कितना निस्तेज और पंगु अनुभव करता है। इसमें उस तत्त्व का समावेश कहाँ है जो सही वेदना और उसके लिए अपेक्षित सहन-शक्ति को अधिक महिमामय बना देता है। इससे मनुष्य की सम्भावना के द्वार कहाँ खुलते हैं। जीवन में पीड़ा, अलगाव, विवशता, नास्तिभाव,.. निस्सारता का भान सब कुछ है, पर जीवन को जीने के लिए एक उच्चतर आस्था भी है जिसका आभास राकेश के उपन्यास दे नहीं पाते। उनमें ठहराव का क्षण इतना प्रमुख हो गया है कि पात्र न निर्णय की शक्ति रखते हैं, और न विद्रोह का वरण करते हैं। यह मान भी लें कि जिये जाने पर जीवन धीरे-धीरे चुक जाता है, और कि सुख, सुख नहीं काई पर फिसलते पाँव का स्पन्दन मात्र है। मात्र रेत में डूबती बूँद की अकुलाहट है पर यह मान लेना अत्युक्ति होगा कि यह अकुलाहट ही: क्या जीवन का पूरा अर्थ, जी लेने का कुल पुरस्कार नहीं है? जी लेने का पुरस्कार आकुलता कभी नहीं हो सकती और जीवन अर्थहीन हो सकता है, पर यह मनुष्य पर निर्भर करता है कि वह उसे क्या अर्थ दे। वे समझते हैं कि यही एक तरीका है।[30] निस्सन्देह राकेश उन लेखकों में नहीं है जो इसी तरीके को जीने का एकमात्र तरीका समझते हैं।

आज के उपन्यास की रचना-दृष्टि की एक सीमा यह भी है कि वह समाज और युग की समस्याओं को व्यक्ति के परिप्रेक्ष्य में नहीं लेती है। लेखक की टूटन निराशा, जड़ता, वेदना से क्षत-विक्षत अस्तित्व को तो देख लेते हैं, पर उसकी पृष्ठभूमि में वृहत्तर समाज की आर्थिक सामाजिक समस्याओं को नहीं देख पाते। व्यक्ति के विघटन के पीछे वे जिन मुद्दों को उठाते हैं, वे कमजोर और नितान्त वैयक्तिक प्रतीत होते हैं।

क्या साहित्य का कोई जीवन मूल्य नहीं है? इस प्रश्न का उत्तर हर रचनाकार को देना होता है। वे सही उत्तर उभार पाये हों, ऐसा नहीं लगता। उन्होंने

प्रश्न उठाये हैं, पर वे प्रश्न व्यक्ति के अन्तर्विरोध में खो जाते हैं। वे धुंध में तैरते हैं, तीर की तरह नहीं गड़ते। इसीलिए वे तिलमिलाहट नहीं पैदा करते और न दिशा देते हैं। मोहन राकेश की दृष्टि में यदि कोई कलाकार कहे कि उसके पास कोई ऐसी विशिष्ट दृष्टि है जो दूसरों का मार्ग दर्शन कर सकती है तो यह उसका भ्रम है। वह तो ज्यादा से ज्यादा इतना ही कर सकता है कि पाठक या दर्शक के मन में बैठे द्रष्टा को जगा दे जहाँ से वह चाहे तो अपना पथ आलोकित कर सके।[31] सिद्धान्त रूप से यह उत्तर इतना बुरा भी नहीं है पर पूछा जा सकता है कि आज के उपन्यासों में वह बिन्दु कहाँ है जो द्रष्टा को जगाता हो। यह एक सड़ने गलने की प्रक्रिया है जो द्वन्द्व के बीच चलती रहती है। एक आत्महता आस्था का धुन रचना दृष्टि को खाता नजर आता है। कह सकते हैं कि आज भौतिकता के नशे में खोए लोग गहरे प्रश्न उठा ही कहाँ पा रहे हैं।

आज वास्तव और जीवन वास्तव इतना जटिल हो रहा है कि पकड़ में नहीं आ रहा है। उपन्यास इसे पकड़ने की कोशिश मे खुद बदलने की गवाही दे रहा है।[32] अस्तित्ववादी चिंतन की देन है— स्वतंत्रता का वरण, विसंगति, मृत्युबोध। ये वे स्थितियाँ जो आज के उपन्यास में उजागर हुई है। अज्ञेय के उपन्यास 'अपने-अपने अजनबी' में जिन्दगी को कैंसर मानकर जीने का नियति को मौके से झेला है। इस उपन्यास में अस्तित्ववाद और भारतीय आस्तिक बोध को प्रस्तुत किया गया है। 'अपने-अपने अजनबी' में आधुनिकता मानव नियति को लिए हुए है। इसमें मौत का सामना है, इसे पहचानने की कोशिश है। 'न आने वाला कल' में 'मैं' की आकुलता और छटपटाहट को अनिश्चित और तनाव की स्थिति में छोड़ दिया गया है। हिन्दी का मास्टर जब पहाड़ी स्कूल में अपने आपको खपा नहीं पाता तो स्कूल से त्यागपत्र दे देता है और एक अनिश्चित भविष्य की ओर गतिमान होता है जैसे 'यह पथबंधु था' का नायक अनिश्चित भविष्य की ओर प्रयाण करता है। एक निश्चित सांचे में अपने को फिट न कर पाने का संत्रास, उससे टूटकर रहने से आतंक, और उसे छोड़ देने में अनिश्चितता मनोज सवेदना को तनाव की स्थिति में डाल देती है। 'अंधेरे बंद कमरे' में पति-पत्नी के जीवन में तनाव और खिचाव का वर्णन है। महानगरीय जीवन में मानव सम्बन्धों के टूटने की स्थिति है, अकेलेपन का बोध है। वे प्रेम करते हैं और पहले से अधिक अकेले हो जाते हैं। प्रेम करते हैं और पहले से अधिक अपरिचित हो जाते हैं। प्रेम करते हैं और पाते हैं कि प्रेम नहीं करते। अधिकांश लोग यह खोज भी नहीं कर पाते। आन्तरिक भाषा के अभाव में आलोचक ने इस प्रेम को यह अस्तित्व का अभिशाप कहा है। नीलिमा और हरवंश इसके शिकार हैं।[33] इस उपन्यास में पहली बार विवाहित जीवन की अर्थहीनता का सजीव और सशक्त चित्रण हुआ है। इसमें हरवंश नीलिमा के आपसी तनाव को उजागर करते

हुए अन्य पात्रों की उलझनें और कुण्ठाओं की अभिव्यक्ति भी है। 'यह बंधु पथ था' में श्रीधर अकेलेपन और अपने ही घर में परायेपन का बोध लिए है। 'वे दिन' का मूल स्वर अकेलेपन का बोध है। उपन्यास में रायना अकेली है, उसका पति भी उसका पुत्र भी, फ्रांज भी, मारिया भी, मां भी और टी. टी. भी। उपन्यास में बार-बार सुनने को मिलता है। क्या मानव की नियति मरण में है। 'टूटती इकाइयाँ' उपन्यास में स्त्री-पुरुष के टूटते हुए आपसी सम्बन्धों को उजागर किया गया है। 'शहर था, शहर नहीं था' उपन्यास आदमी के उखड़ने और उद्देश्यहीन होने का बोध कराता है। 'एक पति के नोट्स' में सेक्स की बोरियत से मुक्ति की तलाश है, पर मुक्ति नहीं मिलती। 'रुकोगी' नहीं राधिका' में राधिका भारत में अमेरिका और अमेरिका में भारत को तलाश करती है। अपने पिता के विवाह पर नाराजगी व्यक्त करती है। भारत में उसे घुटन होती और जाये या न जाये का द्वन्द्व उसे घेरे रहता है। 'दूसरी बार' में पति-पत्नी के विच्छेद के बाद एक दूसरे से जुड़ने की लालसा और एक का दूसरी की ओर दूसरी बार आगमन है। शरीर की आंच उन्हें मिला देती है। 'कंदील और कुहासे' में बेरोजगारी से त्रस्त, भविष्य से आतंकित युवक किशु की कथा है। 'वह अपना चेहरा' में आज के महानगरीय जीवन में मुखोटा पहन कर जीते हुए आदमी के अस्तित्व बोध की कथा है। अपने अफसर से डिफीट होने की कुण्ठा को वह उसकी लड़की के साथ निकालता है। अफसर के नाजायज सम्बन्धों को लेकर उस पर आक्रोश करता है। पर स्पेशल पे के चक्कर में वह सब भूल कर उसकी चापलूसी करता है। 'यात्राएं' में नव दम्पति की एक दूसरे को समझने की कसकमश है। 'बेघर' में परमजीत, संजी से ब्याह नहीं करता, उसे भोगकर छोड़ देता है और सुखा से ब्याह कर लेता है। वह पढ़ी-लिखी समझदार और हर प्रकार से योग्य युवती की अपेक्षा वह झगड़ालू, कंजूस, गंवार, अनौपचारिक महिला से जिन्दगी गुजर-बसर करता है तो अपने आपको ठगा हुआ पाता है और उसे संजी की याद आती है। 'आपका बंटी' में तलाकजन्य समस्या को उठाया गया है। बचपन से मां-बाप दोनों का प्यार छूट जाने वाले बच्चों के मन में जन्म लेने वाली कुण्ठायें किस प्रकार बंटी के दिमाग में जमती हैं। स्नेह के अभाव में कठोर और असामान्य होने की स्थिति में वह सही नागरिक बन सकता है, इस पर सोचा जा सकता है। 'सूरजमुखी अंधेरे के' रत्तिका की यौन-कुण्ठा को उजागर किया गया है। बचपन में हवाघर में किसी ने रत्तिका के साथ बुरा काम किया इसका आतंक उसे जिन्दगी भर भोगना पड़ा। कितने ही पुरुष उसका हाथ थामने बढ़े, किन्तु रत्तिका एक दो कदम बढ़कर रुक जाती है। संभोग की स्थिति में पहुँचकर भी उस आतंक, कुण्ठा और अवसाद की अवस्था से मुक्ति नहीं पा सकी है।

निष्कर्षतः आज के उपन्यास में व्यक्तिगत जीवन ही प्रमुख रहा है। व्यक्ति की कुंठायें, अवसाद के क्षणों को उजागर करना ही यथेष्ठ समझा गया।

संदर्भ :—

१. रेल्फ फाक्स : नावेल एण्ड दि पीपुल, पृ० १०५।
२. रांगेय राघव—कब तक पुकारूं, पृ० ६५।
३. वही, पृ० १११।
४. वही, पृ० १८१।
५. वही, पृ० ५७८।
६. डा० रामदरश मिश्र—"हिन्दी उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा", पृ० ७५।
७. डा० त्रिभुवन सिंह—हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद, पृ० २३८ (प्र० सं० २०२२)।
८. अजय की डायरी, पृ० २३७।
९. डा० रामदरश मिश्र—हिन्दी उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा, पृ० ६७।
१०. वही, पृ० ६९।
११. लक्ष्मीकांत वर्मा—आलोचना (उपन्यास अंक), पृ० ८३।
१२. यशपाल—'दादा कामरेड', पृ० ९८।
१३. डा० चण्डी प्रसाद जोशी, हिन्दी उपन्यास समाजशास्त्रीय विवेचन, पृ० ४२१।
१४. डा० कांति वर्मा—स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास, पृ० ७४।
१५. राघवेन्द्र मिश्र—पानी बिच मीन पियासो, (प्र० स० १९६६), पृ० ३१।
१६. राजकमल चौधरी—मछली मरी हुई, पृ० ६६।
१७. नरेश मेहता—दो एकान्त, पृ० ३७।
१८. वही, पृ० ८६।
१९. नेमीचंद जैन—अधूरे साक्षात्कार, पृ० २२।
२०. अज्ञेय नदी के द्वीप, पृ० ३१४।
२१. अमृतलाल नागर, अमृत और विष, पृ० २१७।
२२. गिरिराज किशोर—चिड़ियाघर, पृ० ११५।
२३. डा० बिन्दु अग्रवाल 'हिन्दी उपन्यास साहित्य में नारी चित्रण (१९६८), पृ० २३६।
२४. लक्ष्मीनारायण लाल, रूपाजीवा (प्रथम संस्करण १९५९), पृ० १४७।

२५. कपाड़िया—मैरिज एण्ड द फैमिली इन इण्डिया (१९६६), पृ० १६७।

२६. त्रिभुवनसिंह—हिन्दी उपन्यास और यथार्थ, पृ० ४५५।

२७. रांगेय राघव—कब तक पुकारूं, भूमिका।

२८. वही, पृ० ८०।

२९. डा० सत्येन्द्र—'हिन्दी उपन्यास विवेचन' (प्रथम संस्करण १९६८), पृ० २८४।

३०. मोहन राकेश—साहित्य और सांस्कृतिक दृष्टि, पृ० १४५।

३१. मोहन राकेश—आज के रंग नाटक, पृ० २४।

३२. डा० मदान—हिन्दी उपन्यास—एक नयी झांकी, पृ० ६६-६७।

३३. श्रीकांत वर्मा कृति अंक ८, पृ० ११।

अध्याय दस

आधुनिकता बोध और औपन्यासिक अभिव्यक्ति

प्रस्तुत प्रबन्ध में समकालीन हिन्दी उपन्यासों में बदलते हुए जीवन-मूल्यों का आकलन किया गया है। नये जीवन मूल्यों को आत्मसात करने में नवीनीकरण की चेतना ने महत्वपूर्ण भूमिका निबाही है। नवीनीकरण की चेतना, पश्चिमीकरण, शहरीकरण, औद्योगीकरण, मशीनीकरण आदि की प्रक्रियाओं ने भारतीय जनजीवन के परम्परागत ढांचे को नवीन मोड़ दिये हैं। समाज में वर्ग-संघर्ष, वर्ग-संघर्ष, व्यक्ति-संघर्ष और आत्म-संघर्ष का प्रादुर्भाव हुआ है। नैतिक मान्यताओं के क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए हैं। यौन सम्बन्धों में जबर्दस्त स्वच्छन्दता आई है। भारतीय नैतिकता जो सेक्स को बांधे हुए थी, बांध के टूट जाने से सारे समाज को आप्लावित करती है। युवामानस परम्परा का विरोधी साबित हुआ। युवा मानस का यह विद्रोह सामाजिक विशृंखलताओं के कारण उत्पन्न असन्तोष है।

मूल्यों के क्षेत्र में जो संक्रमण स्थिति उत्पन्न हुई, उसने सारे समाज को प्रभावित किया, और साहित्य को भी। आधुनिक परिवेश में तो परिवर्तन की प्रक्रिया सन् ३६ के बाद मानी जा सकती है क्योंकि आधुनिकता के बोध की शुरुआत 'गोदान' (१६३४-३६) से मानी जा सकती है। इसके आस-पास कथाकारों की संवेदना में अंतर आने लगा था जिसकी गवाही 'पूस की रात' (१६३४) और 'कफन' (१६३६) कहानियों में भी मिल जाता है।[१]

आधुनिकता सामयिक परिवेशों, सामाजिक जीवन की बदलती हुई रेखाओं, समस्याओं, विश्वासों से उत्पन्न चेतना होती है। आधुनिकता का अर्थ ड्राइंग रूम रूपी सजावट या अर्धनग्न वस्त्र पहनकर सड़क पर निकल जाना नहीं है, और न तो आधुनिकता कोई बाह्य साज-सज्जा, बनावट और उपकरण है। आधुनिकता व्यक्ति के अंतस् की चीज है। आधुनिकता ऐसी जीवन-दृष्टि है जिसे हम जीवन साधन के रूप में प्रयोग करते हैं। "आधुनिकता वर्तमान को सजग रूप से भोगने और उस भोग से नये संदर्भ में देखने और जीने की क्षमता है।"[२]

समकालीन उपन्यासों में आधुनिकता का बोध उजागर हुआ है। 'अपने-अपने अजनबी' में जीवन को मृत्यु के माध्यम से पहचानने की कोशिश है। इस उपन्यास में अस्तित्ववादी चिंतन उजागर हुआ है। 'अंधेरे बंद कमरे' में आधुनिकता का स्वीकार है। पति पत्नी का एक दूसरे से मर जाने में नगर बोध का परिवेश है। 'यह पथ बंधु था' में आधुनिकता का बोध थोड़ा भिन्न है। श्रीधर (नायक) टूट चुका है, अकेला है और अजनबी है जो उसकी आदर्श, मर्यादा के प्रति निष्ठा का परिणाम है। 'वे दिन' में आधुनिकता का बोध गहरे में है। क्योंकि 'वे दिन' के सभी पात्रों में रीतापन, उदासी और तटस्थता है। 'वे दिन' का अंत एकदम अंतहीन हो गया है। 'टूटती इकाइयां' में नारी पुरुष पत्नी के बीच का त्रिकोण तो है किन्तु इसे निभाने का ढंग कुछ नया है और इसका अंदाज और मिजाज आधुनिकता के बोध को लिए हुए है।

'शहर था शहर नहीं' में राजकमल चौधरी की मूल संवेदना के बारे में गहरा मतभेद पाया जाता है। कभी इसे तांत्रिक बोध के आधुनिक संस्करण से जोड़ा गया है तो कभी अस्तित्व बोध से। 'एक पति के नोट्स' में नोटस शैली को अपनाया गया है। पति अपनी पत्नी को एकरसता से बोर होकर अपनी पड़ोसन से संभोग करता है, किन्तु वह अपनी बोरियत दूर नहीं कर पाता। 'रुकोगी नहीं राधिका' में एक भारतीय नारी की दुविधा को आधार बनाया गया है जो अपनी दिशा तय नहीं कर पा रही है। वह भारतीय और अमेरिकी संस्कृति के द्वन्द्व में फसी है। वह तनाव की स्थिति में अपने आपको पाती है यहाँ रहे या वहाँ चली जाए। 'न आने वाले कल' में अकेलेपन की त्रास को भोगता एक स्कूल मास्टर की कथा है, जो सारे परिवेश से कटा है, और त्यागपत्र देकर अनिश्चित भविष्य में लुढ़कता है। 'दूसरी बार' में सेक्स को लेकर आधुनिकता बोध का मजाक उड़ाया गया है। आधुनिकता का यह भी एक पहलू है। 'दूसरी बार' का नायक पन्नू, असहाय, और नपुंसक है जबकि नायिका खुशहाल है। अंत दोनों के यांत्रिक संबंध टूटने की गवाही देता है। 'कन्दील और कुहासे' में कुण्ठित और दिशाहीन हो चुकी पीढ़ी की कथा है। 'कन्दील और कुहासे' का कथ्य किशु का न होकर उसके परिवेश और परिवार के माध्यम से एक पूरी पीढ़ी का बन जाता है। 'वह अपना चेहरा' में मुखौटा लगाकर जीने की त्रास ही को भोगता नायक की कथा है। आज के परिवेश को उभारने में आधुनिकता बोध उजागर हुआ है। 'उसका शहर' में लूपिका अपने अस्तित्व को खोना नहीं चाहती और दयानन्द की अनिश्चित स्थिति में उपन्यास का अंत हो जाता है जो उसकी अंतहीन स्थिति को सूचित करता है। 'यात्रायें' में दाम्पत्य जीवन के कुछ दिनों की कथा है जिसमें दोनों (पति-पत्नी) एक दूसरे की

पहचान में गंवाते हैं और पाते हैं कि वे अपरिचित हैं। 'बेघर' में संभोग को संदेह में बदलकर संबंधों को तोड़ लेना है। पुरुष के लिए अभी तक स्त्री के कुमारत्व की जांच की कसौटी योनि है। 'सफेद मेमने' में एकांत अजनबीपन बेगानेपन का परिवेश है जिसमें मनुष्य घुटता रहता है।

'आपका बंटी' में तलाक शुदा पति-पत्नी के बीच बच्चे की समस्या है कि वह अपने को कहां एडजेस्ट करे। नये पिता के साथ या नई माँ के साथ। किन्तु, वह एडजेस्ट नहीं हो पाता और माँ-बाप के प्यार से रिक्त होकर छात्रावास के शुष्क वातावरण में धकेल दिया जाता है। 'एक चूहे की मौत' एक प्रतीकात्मक उपन्यास है जिसमें मनुष्य को चूहेमार के रूप में उपस्थित किया गया है। यह बोध अस्तित्ववादी दृष्टि को उजागर करता है जिसके मूल में आधुनिकता की प्रक्रिया है। 'सूरजमुखी अंधेरे के' में आधुनिकता के धरातल पर मनोग्रन्थि तोड़ने की कोशिश की गई है।

भारतीय परिवेश में नगरबोध इतने गहरे में नहीं जितने गहरे में पश्चिमी देशों में है। इसलिए इन उपन्यासों में एक हद के बाद आधुनिकता बोध थोपा सा नजर आता है। 'अपने-अपने अजनबी' का मृत्युबोध, 'वे दिन' का अभारतीय माहौल, 'सूरजमुखी अंधेरे का' की स्त्री की मनोग्रंथि, 'शहर था शहर नहीं था' का अकेलापन निहायत थोपा गया सा लगता है। जो परिवेश, समस्याओं और सोच हमें आज के भारतीय जीवन में नजर आता है वह—'यह पथ बंधु था', 'एक पति के नोट्स', 'न आने वाला कल,' 'दूसरी बार,' 'कंदील और कुहासे,' 'वह अपना चेहरा' 'यात्राएं,' 'बेघर,' 'आपका बंटी', 'एक चूहे की मौत' उपन्यासों में उजागर हुआ है। कृति को आधुनिक बोध देने का जबरदस्ती प्रयास करना लाजमी नहीं हो सकता। इन उपन्यासों में भारतीय जीवन को समग्रता और सहजता से स्पष्ट करने वाली कोई कृति नहीं मिलती है।

आज मूल्य-संक्रमण की स्थिति में एक आधुनिक व्यक्ति मूल्यों के बारे में पूरी तरह निरपेक्ष या असम्पृक्त होता है। आधुनिकता के अभ्युदय के पूर्व भारतीय समाज में व्यक्ति का कोई स्थान नहीं था। प्रेमचंद ने भी व्यक्ति के बजाय समाज को महत्व दिया है। आधुनिक जीवन के प्रवाह में व्यक्ति के सामाजिक बंधन ढीले हुए, व्यक्तित्व विकास के लिए अवसर उपलब्ध हुए। स्वतंत्र चिन्तन ने 'व्यक्ति' को नई दिशायें दी। व्यक्तिवाद की भावना के मूल में अहम् को स्वीकारा गया और अकेलापन और बेगानापन उसे काटने लगा। 'न आने वाला कल' का नायक इसी अकेलेपन की त्रास ही को भोगता है। व्यक्ति-स्वातंत्र्य के क्षेत्र में स्त्री ने पुरुष से प्रेरणा प्राप्त की है। स्वातंत्र्य-भावना से स्त्री-पुरुष में पारस्परिक स्पर्द्धा का स्फुरण हुआ है। 'अंधेरे बन्द

कमरे' और 'दूसरी बार' के नायक-नायिका की यही स्पर्धा उन्हें तोड़ती है। स्त्री-पुरुष एक दूसरे पर अधिकार पाने की होड़ 'दूसरी बार' 'यात्रायें' और 'टूटती इकाइयों' उपन्यासों में करते हैं। प्रेम को जीभ पर उगा कैंसर मानते हैं। 'बैसाखियों वाली इमारत', 'एक पति के नोट्स', 'सफेद मेमने' में अपने बोरियत को दूर करने के प्रयास में उपन्यास नायक संभोग की ओर मुड़ते हैं। नारी को सांस्कृतिक द्वन्द्व में से गुजरना पड़ता है। 'रुकोगी नहीं राधिका' में पति-पत्नी जब एक दूसरे के सामने झुकने को तैयार नहीं होते तो तलाक तक मामला पहुँच जाता है और नई शादी करके वे दूसरे से अधिक सुखी होने का दावा करते हैं, किन्तु उनके बच्चे का क्या हो ? इसी समस्या को लेकर उपस्थित होता है उपन्यास 'आपका बंटी'। पत्नी होने की पहली शर्त उसका कुमारत्व है और इसकी पहचान करता है परमजीत 'बेघर' का नायक और कौमार्य रहित होने पर वह अपनी प्रेमिका को भूलकर शादी कर लेता है एक जाहिल और गंवार लड़की सुधा से और इस बात का गर्व लेकर वह जीता है कि सुधा के लिए वह पहला है। पति-पत्नी के बीच अपरिचित का भाव उजागर होता है, 'यात्राएं' उपन्यास में।

समकालीन जीवन मूल्य टूट रहे हैं, गाँव टूट रहा है, मूल्य टूट रहे हैं, सत्य टूट रहा है, कोई किसी का नहीं सभी अकेले हैं।[3] और अकेलेपन का सबसे प्रमुख कारण नये मूल्यों का सृजन न होना है। प्रेमचंद युग के उपन्यासों में व्यक्ति, परिवार, जाति, धर्म, संस्कार आदि के परम्परागत मूल्य क्षीण प्रतीत होने लगे थे। प्रेमचंद ने रूढ़ियों पर व्यंग्य प्रहार किए थे पर उन्होंने नये मूल्यों का सृजन भी किया था। मानव सम्वेदना को जगाया। अपने नायकों से अन्याय और अत्याचार के खिलाफ आन्दोलन कराये थे, किन्तु आज के उपन्यास में चित्रित पात्र उसी अन्याय और अत्याचार के घेरे में कांख रहा है। नारी की स्थिति प्रेमचंद के जमाने से भी बदतर हो गई है क्योंकि तब नारी के लिए सैकड़ों बंधन थे और आज नहीं है। बंधनहीन नारी भी द्वन्द्व की स्थिति में है चाहे राधिका हो, या रत्ता हो, या कल्याणी हो, या मैना हो (मुर्दाघर)।

पुरुष भी दब्बू, लाचार, असहाय है उसमें कोई पुरुषोचित गुण नहीं नजर आते। परिस्थितियाँ उसे तोड़ती हैं। 'कन्दील कुहासे' का किशु, 'न आने वाला कल' का मनोज, 'एक चूहे की मौत' का 'क' मृत्युबोध से पीड़ित 'अपने-अपने अजनबी' की नायिकाएँ और अस्तित्व की स्थापना के लिए पीड़ित निर्मल वर्मा का 'वे दिन' उपन्यास आज की मूल्यहीनता की स्थिति को उजागर करते हैं।

आज के उपन्यासों में सेक्स की प्रधानता है। निर्मल वर्मा का 'वे दिन', मोहन राकेश का 'अंधेरे बंद कमरे', महेन्द्र भल्ला का 'एक पति के नोट्स',

श्रीकांत का 'दूसरी बार', गिरिराज किशोर का 'यात्रायें', ममता कालिया का 'बेघर', मणिमधुकर का 'सफेद मेमने', कृष्णा सोबती का 'सूरजमुखी अंधेरे के' उपन्यासों में संयोग की प्रक्रिया को रस लेकर लिखा गया है।

समकालीन जीवन की समग्रता को पकड़ पाना आज संभव नहीं दीखता क्योंकि मनुष्य इतने मुखौटे लगाकर जीता है कि उसकी सही तस्वीर पहचानना मुश्किल होता गया है। आलोच्य समयावधि में लिखे गए उपन्यास लघु उपन्यास हैं। एक दो बृहदाकार उपन्यास हैं, जिसमें 'अंधेरे बंद कमरे' 'रागदरबारी' 'जल टूटता हुआ' के नाम लिए जा सकते हैं। वैसे लघु उपन्यास की प्रवृत्ति ही ज्यादा रही है जिनमें व्यक्ति की परिस्थिति और उसके संघर्ष को उभारा गया है। विश्लेषणात्मक उपन्यास व्यक्ति, परिस्थिति और समस्या का विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं विस्तार को बजाय संकोच की प्रवृत्ति होती है। कथा का आधार विस्तृत नहीं होता और केन्द्र मुखी होता है।

समकालीन हिन्दी उपन्यासों मे बदलते हुए जीवन मूल्यो का कारण जीवन मूल्यों को स्वयं देने वाली परिस्थितियां हैं—आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, दार्शनिक। समकालीन जीवन में अर्थ व्यवस्था को लेकर वर्ग भावना बढ़ती जा रही है। अमीर-गरीब का अन्तर कम होने के बजाय बढ़ रहा है। नगरीय जीवन का मध्य वर्ग टूट रहा है। परम्परागत जमींदारों के स्थान पर पूंजीपतियों, ग्रामीण महाजनों के स्थान पर शहरी साहूकारों, मालिक और मजदूर का वही परम्परागत सम्बन्ध है। शोषण की प्रवृत्ति जारी है। वर्ग संघर्ष बढ़ रहा है। आज समाज में अर्थ की दृष्टि से उच्च, मध्य, निम्न वर्ग की बजाय श्रमिक वर्ग, पूंजीपति वर्ग, बुद्धिजीवी वर्ग के आधार पर किया जाना चाहिए। आज भारत में पूंजीवादी व्यवस्था ही शक्तिशाली है। समाजवाद या प्रजातंत्र का चाहे कितना ही ढोल पीटा जा रहा हो, सत्ता की कुत्सित राजनीति और सम्प्रदायिकता ने देश और समाज को खोखला कर दिया है। समकालीन राजनैतिक जीवन अस्त-व्यस्त हो गया है। आज का भारत कई समस्याओं से उलझा हुआ है। लगता है सारा राष्ट्र टूट रहा है। जनचेतना किंकर्त्तव्य विमूढ़ है। 'हाथी के दांत', 'सामर्थ्य और सीमा', 'झूठा सच' के पात्र राष्ट्रीयता का मुखौटा लगाकर अराष्ट्रीय तत्वों को बढ़ावा देते हैं। 'राजदरबारी' में व्यंग्य की तेजधार से टूटते हुए जीवन की व्याख्या की गई है।

समकालीन समाज में नैतिक मूल्यों का तेजी से ह्रास हुआ है। परम्परागत यौन-सम्बन्धी नैतिकता के प्रति नई पीढ़ी में घोर अनास्था व्यक्त तो हुई है, किन्तु व्यावहारिक धरातल पर अभी भी भारत में उसी की मान्यता है। 'बेघर' की आधुनिकता बोध की यह सीमा बताई गई है, किन्तु यह सत्य है कि आज युवक

ऐसा ही है जैसा परमवीन। व्यावहारिक दाम्पत्य जीवन में पति की प्रेमिका या पत्नी के पति की अभी भी वही स्थिति है जो परम्परागत थी। प्रेमिका या प्रेमी को सहज रूप से स्वीकारा नहीं जाता इसलिए दाम्पत्य जीवन विशृंखलित होता गया है। समाज, परिवार टूटने की स्थिति में है क्योंकि उसमें वह प्रेम, स्नेह, उदारता नहीं रही है।

वर्तमान भारतीय मनोजगत् विभिन्न देशी-विदेशी विचार दर्शनों से आक्रान्त है। एक ओर आधुनिक भारतीय चिन्तन, समाजवादी, व्यक्तिवादी, मानवतावादी, गांधीवादी विचार दर्शन है तो दूसरी ओर अस्तित्ववाद, क्षणवाद जैसे आधुनिक पाश्चात्य विचारदर्शन भी प्रभावित करते हैं। समकालीन उपन्यासों में अस्तित्ववादी विचारधारा को अधिकाधिक महत्व प्राप्त हुआ है। 'अपने-अपने अजनबी' में मुख्य रूप से अस्तित्ववाद की अभिव्यक्ति मिलती है। योके मृत्यु को ही एक मात्र सच्चाई मानती है क्योंकि हम सबको मरना है।

क्षणवादी विचारधारा में काल के वृहत खण्ड की अपेक्षा क्षण को विशेष महत्व दिया गया है। मानव जीवन में भी कतिपय क्षण ही महत्वपूर्ण होते हैं जो जीवन को जीने का आधार देते हैं। 'अपने-अपने अजनबी' की सेल्मा को योके नव वर्ष की बधाई देती है तो उसके उत्तर में सेल्मा कहती है—हाँ योके शायद सिर्फ नए दिन का। क्योंकि साल का कोई भी दिन किसी दूसरे दिन से किस बात में कम है, बल्कि मैं तो सोच सकती हूँ कि कोई भी दिन साल का दिन क्यों है, दिन में ही क्या कम जादू है? यह क्षणवाद का ही प्रभाव है। समकालीन जीवन की जो परिस्थितियाँ हैं, विचारों का संघर्ष और उलझनें हैं, जीवन मूल्यों के अवमूल्यन और पुनर्मूल्यन की समस्या है और इस संकुल, जटिल स्थिति के बीच से मनुष्य और राष्ट्र नई दिशायें खोज रहा है। नवीन मूल्यों को, नवीन मान्यताओं को औपन्यासिक विधा में स्थान मिला है। समकालीन हिन्दी उपन्यास में बदलते हुए जीवन मूल्यों को मानवीय सम्बन्धों के बदलते पक्षों के सन्दर्भ में उजागर किया गया है।

संदर्भ :—

१. डा० इन्द्रनाथ मदान—हिन्दी उपन्यास : एक नयी दृष्टि, पृ० १०।
२. लक्ष्मीकान्त वर्मा—नए प्रतिमान और पुराने निकष, पृ० ३०।
३. जल टूटता हुआ, पृ० ३८६।



डॉ० डाली लाल

जन्म : दमोह, मध्य प्रदेश

शिक्षा : एम० ए०, पी-एच० डी०

सम्प्रति : प्राध्यापिका—हिन्दी

शासकीय कमला नेहरू महिला महाविद्यालय, दमोह (म० प्र०)

प्रारम्भ से ही साहित्य की ओर झुकाव एवं कलात्मक अभिरुचि, काव्य एवं लेखन में रुचि।

नाटकों के मंचन एवं निर्देशन हेतु राष्ट्र-स्तरीय पत्रिकाओं में प्रशंसित, डी-लिट्० कार्य में संलग्न।